

# जैन कला एवं स्थापत्य

भगवान् महावीर के 2500 वें निवारण  
महोत्सव के पावन अवसर पर प्रकाशित

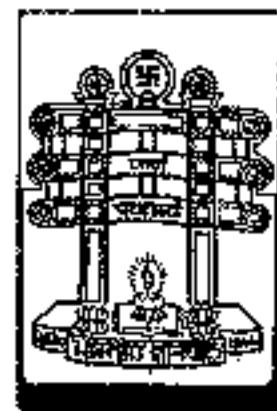
मूल-संपादक

शशलालनंद धोब

मूलपूर्व महानिदेशक, भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण

तीन खण्डों में प्रकाशित

खण्ड 2



## भारतीय ज्ञानपीठ

नई दिल्ली

मूल अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवित

हिन्दी संथादक : लक्ष्मीचन्द्र जैन



१९७५

भारतीय ज्ञानपीठ

तीन खण्डों का मूल्य

रु ५५०

प्रकाशक : लक्ष्मीचन्द्र जैन, मंडी, भारतीय ज्ञानपीठ, बी-४४/४७ कलांट लेस  
नई दिल्ली-११००१।

मुद्रक : श्रीमद्भक्ति, संचालक, कैनस्टन प्रेस, प्रा० लि०, २-ई, रानी झाँसी रोड,  
नई दिल्ली-११००५५।

## सम्पादकीय टिप्पणी

इस ग्रन्थ की वर्तियोजना इसके प्रथम खण्ड में पृष्ठ १० पर स्पष्ट की गयी थी। द्वितीय खण्ड उसी योजना-क्रम के अनुरूप है, अंतर केवल इतना है कि भाग ५ (वास्तु-स्मारक और मूर्तिकला १००० से १३०० ई०) में दक्षिणापथ और दक्षिण भारत को एक ही अध्याय २४ में सम्मिलित कर दिया गया है (जैसाकि पृष्ठ १० पर संकेत किया गया था कि क्षेत्रीय सीमाओं का निर्धारण सर्वत्र सरल नहीं होता), और भाग ६ (वास्तु-स्मारक और मूर्तिकला : १३०० से १८०० ई०) में दक्षिण भारत पर कोई अध्याय नहीं है क्योंकि उसकी सामग्री का उपयोग अध्याय २४ में कर लिया गया है। इस अध्याय में, पृष्ठ ३२६-३२८ पर डॉ० रंगचारी चंपकलक्ष्मी ने इस परिवर्तन का समुचित कारण एक टिप्पणी में बताया है जो उन्होंने मेरे अनुरोध पर लिखी। क्षेत्रगत और कालगत सीमा-रेखाओं के बायः अस्पष्ट होने से अध्याय १८, १९, २४ और २६ में जो व्यतिक्रम आया है वह इसी कारण क्षम्य है।

यह खण्ड अध्याय ३० (भित्ति-चित्र) के साथ समाप्त होता है। यह अध्याय भाग ७ के अंतर्गत है जो तीसरे खण्ड में समाप्त होगा, और उसी में भाग ८ (अभिलेखीय और मुद्रा संबंधी लोत), भाग ९ (मूर्तिकला और स्थापत्य के सिद्धांत और प्रतीक) और भाग १० (संग्रहालयों की कला-वस्तुएँ) भी सम्मिलित हैं।

\* \* \*

प्रथम खण्ड में पृष्ठ ८ पर मैंने लिखा है कि भारत से बाहर कोई जैन पुरावशेष होने का प्रमाण, नहीं मिलता। मानो इस मान्यता में परिवर्तन लाने के लिए ही हमें अनुसिद्धि कला-कृतियों की सूचना दी गयी है। श्री मुनीषचंद्र जोशी इसी खण्ड के पृष्ठ २५६ पर उत्तर-पूर्व बलगारिया से प्राप्त एक कांस्य-निमित तीर्थंकर-मूर्ति प्रकाशित कर रहे हैं, जिसे प्राचीन काल में कोई जैन भक्त वहाँ पूजा के लिए ले गया होगा। उतनी ही, या कदाचित् उससे भी अधिक, महस्वपूर्ण अफगानिस्तान से प्राप्त तीर्थंकर की कायोट्सर्म-मुद्रा में संगमरमर से निमित वह मूर्ति (खण्डित मस्तक) है जिसकी सूचना सेमिनार फॉर ओरिएण्टल आर्ट-हिस्ट्री, यूनिवर्सिटी ऑफ बॉन के मेरे मित्र डॉ० ब्लॉज़ फिल्सर ने देने की कृपा की। उन्होंने इस मूर्ति का चित्र भी भेजा, जिसका रेखांकन (रेखाचित्र १०) और उसपर

## सम्पादकीय टिप्पणी

एक टिप्पणी यहाँ प्रस्तुत है।<sup>1</sup> शैली की दृष्टि से यह मूर्ति आरंभिक मध्यकाल की है परं उसके निर्माण का स्थल अशात है; संगमरमर की होने से वह पश्चिम भारत से संबद्ध हो सकती है परं संगमरमर का प्रयोग अफगान-स्पारफों में भी हुआ है।

प्रथम खण्ड में पृष्ठ ११ पर पाद-टिप्पणी ४ में मैंने लिखा था कि महाराष्ट्र में उस्मानाबाद के निकट स्थित धाराविहार (धरसिन्ध) गुफाएँ-मूलतः बौद्ध धर्म से संबद्ध रही हो सकती हैं जिनका



रेखाचित्र 10. करेज एमीर (अफगानिस्तान) : तीर्थकर

उपयोग जैनों ने बाद में किया। इसपर कुछ भत्तेद सामने आया है जिससे इस विषय पर पुनर्विचार की आवश्यकता पड़ी है। स्व० घबलीकर और मिराशी ने इस प्रश्न पर विचार किया है। प्रथम विद्वान् तो इन गुफाओं के मूलतः बौद्ध होने की ही पुष्टि करते हैं,<sup>2</sup> किन्तु दूसरे विद्वान् इसे

1 अपनी टिप्पणी में डॉ० किशर लिखते हैं कि यह चित्र कांचुल के करेज-एमीर में लिया गया था जहाँ अफगानिस्तान के राजा ने नये भवनों का निर्माण कराया था और उन्हें राजघराने के संग्रहों से लायी गयी मूर्तियों से अलंकृत किया था। प्र०० डेनियल स्क्लूम्बर्गर से प्राप्त सूचना के आधार पर डॉ० किशर लिखते हैं कि यह मूर्ति गजनी में अप्रैल 1955 में एक पुरावस्तुओं की दुकान में लायी गयी थी। डॉ० किशर ने दो और जैन कला-कृतियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जो भारत-वाक सीमा के उस पार से प्राप्त हुईं। एक है संगमरमर की तीर्थकर-मूर्ति जो अफगानिस्तान के बमियान नामक प्रसिद्ध बौद्ध स्थान से लायी गयी (कलौज़ किशर, बॉक्स ब्रॉक अहिसा 1956, अंक 3-4), और दूसरी है पूर्वी तुकिस्तान के तुर्कान प्रोसिस की गुफाओं में एक जैम मुनि का चित्रांकन (ए. बैंग ले कॉक, वि. बुद्धिस्तित्व स्पासनिक, 3 चित्र 4; दि. बालदिव्यमत, गण्डार-कुरश्च-तुर्कान, लीपजिंग, 1925, चित्र 43 बी).

2 घबलीकर (एम के). जनेल ब्रॉक वि. एशियाटिक सोसायटी बॉक बाम्बे, 39-40. 1964-65, पृ 183-90, और जनेल ब्रॉक इण्डिपन हिस्ट्री, 46. 1968, पृ 405-12.

## सम्पादकीय टिप्पणी

विवादग्रस्त मानते हैं।<sup>१</sup> इस संबंध में हमारी मान्यता उन आख्यातों से नहीं जुड़नी चाहिए जो इन गुफाओं के संबंध में कुछ जैन ग्रंथों में विद्यमान हैं और जिनको इन दोनों विद्वानों ने अत्यधिक विश्वसनीय माना है। यहाँ तो विचार का मुख्य आधार गुफा-२ के गभरिय में विराजमान शैलेश्वरीं मूर्ति के मूर्तिशास्त्रीय लक्षण होने चाहिए, जिनकी सूक्ष्म परीक्षा इन दोनों विद्वानों ने पूर्णतया नहीं की है। यह मूर्ति ध्यान-मुद्रा में स्थित एक ऐसे व्यक्तित्व की है जो सर्प की सप्त (?) -फणावली की छाया में आसीन है, जीवे पादपीठ पर दोनों और एक-एक मृग का अंकन है जिनके मध्य एक खण्डित अंकन है जो निश्चित ही चक्र है। यदि यह मूर्ति बुद्ध की मानी जाये तो सर्प-फणावली का संबंध बुद्ध के जीवन के नाग-मुच्चलिद नामक उपाख्यान से जोड़ना होगा, परन्तु तिब उससे मृग-और-चक्र प्रतीकों की संगति नहीं बनेगी, क्योंकि वह प्रतीक (मृग-दाव) सर्वत्र या अधिकतर, केवल बुद्ध की उस मूर्ति के साथ मिलता है जो भर्मचक्र-प्रवर्तन-मुद्रा में होती है। इसके विपरीत, इस मृग-और-चक्र प्रतीक की संगति तीर्थकर-मूर्तियों के साथ पूर्णतया बनती है जिनके पादपीठों पर उसका अंकन सर्वत्र मिलता है।<sup>२</sup> इसके प्राचीन ज्ञात उदाहरण, लगभग ६०० ई० के हैं—अकोटा की एक कांस्य-मूर्ति और ईंडर की एक पाषाण-मूर्ति।<sup>३</sup> इस तथ्य पर बल नहीं दिया जाना चाहिए कि भाराशिव-गुफा और अजंता की बाकाटक-गुफाओं की विस्थास-रेखाएँ मिलती-जुलती हैं, क्योंकि संकेत बार-बार मिलता है कि भारतीय स्थापत्य में रूपाकार, परंपरा-भैद होने पर भी प्रायः भिन्न-भिन्न नहीं होते। अतएव, इन गुफाओं के मूलतः बौद्ध होने के संबंध में जो मैं पहले कह चुका हूँ उसमें संशोधन करता हूँ।

इस ग्रंथ के प्रकाशन में मेरे जिन मित्रों ने अपनी सहायता दी है उनका उल्लेख प्रथम खण्ड में पृष्ठ १२-१४ पर दिया जा चुका है। उन्हें मैं कृतज्ञतापूर्वक पुनः धन्यवाद देता हूँ और उनसे निरन्तर सहयोग की अपेक्षा रखता हूँ।

५ अप्रैल, १९७५

श्रमस्तान्त्र घोष

१ (मिराशी) वासुदेव विष्णु, ज्ञानल और इण्डियन हिस्ट्री, ५१, १९७३, पृ ३१५-२८।

२ द्रष्टव्य प्रथम भाग में पृ ५।

३ यह सूचना निझी पत्रिकार में डॉ उमाकांत प्रेमानंद शाह ने कृष्णपूर्वक प्रदान की। वे और लिखते हैं : 'छठवीं जलाशयी से पूर्व की अधिकतर मूर्तियों में, यदि चक्र के दोनों ओर एक-एक मृग दिखाया गया हो तो वह मूर्ति शांतिनाथ की माननी होती जिनका चिह्न मृग है।'

## विषय-सूची

					पृष्ठ
सम्पादकीय टिप्पणी	...	...	...	...	(५)
चित्र-सूची	...	...	...	...	(११)

भाग ४

**वास्तु-स्मारक एवं सूतिकला**  
**600 से 1000 ई०**  
**(समापन)**

अध्याय 19	दक्षिण भारत	...	...	...	211
	के० आर० श्रीनिवासन्, भूतपूर्व अधीक्षक पुराविद्, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, मद्रास तथा हरिहरिष्यु सरकार, निदेशक, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली				

भाग 5

**वास्तु-स्मारक एवं सूतिकला**  
**1000 से 1300 ई०**

अध्याय 20	उत्तर भारत	...	...	...	241
	मुनीश चंड जोशी, अधीक्षक पुराविद्, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली				
अध्याय 21	पूर्व भारत	...	...	...	263
	सरही कुमार सरस्वती, भारतीय कला के भूतपूर्व प्रोफेसर, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय				
अध्याय 22	मध्य भारत	...	...	...	279
	कृष्णदेव, भूतपूर्व निदेशक, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली				

## विषय-सूची

अध्याय 23	पश्चिम भारत	...	...	...	...	302
	कृष्णदेव रथा डॉ० उमाकांत प्रेमानंद शाह, भूतपूर्व उपनिवेशक, ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ोदा					
अध्याय 24	दिल्ली के और दक्षिण भारत	...	...	...	...	312
	कौ० यो० सीदर राजन्, निदेशक, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, वहै दिल्ली तथा इसी में एक टिप्पणी की सेविका डॉ० रंगाचारी चंपकलाई, असोशिएट ऐतिहासिक प्रोफेसर, अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, वहै दिल्ली					

## भाग 6

### वास्तु-रूपारक एवं मूर्तिकला

1300 से 1800 ई०

अध्याय 25	उत्तर भारत	...	...	...	...	339
	मुनीश वाङ्मी जोशी					
अध्याय 26	पूर्व भारत	...	...	...	...	351
	सरसों कुमार सरस्वती					
अध्याय 27	मध्य भारत	...	...	...	...	354
	कृष्णदत्त बाजपेयी					
अध्याय 28	पश्चिम भारत	...	...	...	...	360
	डॉ० अशोक कुमार भट्टाचार्य, व्याख्याता, प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय					
अध्याय 29	दक्षिणाधर्म	...	...	...	...	370
	पी० आर० श्रीनिवासन्, अधीक्षक पुरातत्त्विक्ष, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, मैसूर					

## भाग 7

### चित्रांकन और काष्ठ-शिल्प

अध्याय 30	चित्र-चित्र	...	...	...	...	387
	खलम्बूर शिवराममूर्ति, निदेशक, राष्ट्रीय संग्रहालय, वहै दिल्ली					

(भाग 7 का समापन तृतीय छप्पड में होगा)

## चित्र-सूची

छायाचित्रों या रेखाचित्रों के शीर्षकों के आगे कोष्ठकों में कॉमीराइट के धारक का नाम दिया गया है। संग्रहालयों में कुछ छायाचित्र अवश्य लाएकों छात्र भेजे जाते हैं। ऐसी सभी स्थितियों में कॉमीराइट का अधिकार संबंधित प्रश्नालय तथा उस धारक का है। छायाचित्र के लिए केवल चित्र शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस सूची में निम्नलिखित शब्द संक्षिप्त रूप में प्रयुक्त किया गया है :

भा पु स=भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली

### छायाचित्र

### सम्मुख-चित्र

उज्जैन : तीर्थकर, व्यारहरी शती (नीरज जैन)

### आच्युत १९

- 127 क विस्तवासल : युका-मंदिर (भा पु स)
- क तिर्णपर्वतिकुण्ठम् : अंडप्रभ-मंदिर (भा पु स)
- 128 क तिर्णपर्वतिकुण्ठम् : मंदिरों के विमान (भा पु स)
- क चट्टीपट्टी : भग्न मंदिर और उसके अधिष्ठान पर स्थापित मूर्तियाँ (भा पु स)
- 129 क सेम्बटटूर : भग्न मंदिर और उसके अधिष्ठान पर स्थापित मूर्तियाँ (भा पु स)
- क श्रवणबेलगोला : चंद्रगुप्त-बस्ती का मंदिर-समूह (भा पु स)
- 130 क कम्बदहलि (श्रवणबेलगोला) : पंचकूट-बस्ती (भा पु स)
- क श्रवणबेलगोला : चामुण्डराय-बस्ती (भा पु स)
- 131      श्रवणबेलगोला : गोमटेश्वर-मूर्ति (भा पु स)
- 132      श्रवणबेलगोला : गोमटेश्वर-मूर्ति का शीर्ष (भा पु स)
- 133      लिरक्कोल : हीलोत्कीर्ण तीर्थकर-मूर्तियाँ (नीरज जैन)

## चित्र-सूची

- 134 लिखमलै : नेमिनाथ-मंदिर (भा पु स)
- 135 क बलिमलै : तीर्थंकरों और यक्षियों की शैलोत्कीर्ण मूर्तियाँ (भा पु स)
- ख चिद्गम्भीर : परिचारिकाओं सहित बाहुबली और तीर्थंकर पार्वतनाथ की शैलोत्कीर्ण मूर्तियाँ (इस्तीतूत फॉसे व' इण्डोलॉजी, पार्टिक्यूलरी)
- 136 क चिद्गम्भीर : यक्षी-सहित महावीर की शैलोत्कीर्ण मूर्ति (इस्तीतूत फॉसे)
- ख उत्तमपत्तेयम् : तीर्थंकरों की पंक्तिबद्ध शैलोत्कीर्ण मूर्तियाँ (भा पु स)
- 137 क कलुगुमलै : अनुचरों-सहित तीर्थंकरों की शैलोत्कीर्ण मूर्तियाँ (भा पु स)
- ख कलुगुमलै : यक्षी और तीर्थंकरों की शैलोत्कीर्ण मूर्तियाँ (भा पु स)
- 138 क कलुगुमलै : तीर्थंकरों की पंक्तिबद्ध शैलोत्कीर्ण मूर्तियाँ (भा पु स)
- 139 क चितराल : शैलाश्रय (भा पु स)
- ख चितराल : तीर्थंकरों की शैलोत्कीर्ण मूर्तियाँ (भा पु स)
- 140 क कलिलम : शैलाश्रय (भा पु स)
- ख कलिलम : शैलाश्रय के सामने का मंदिर (भा पु स)
- 141 पालघाट : मंदिर और उसके सामने पुर्ववर्ती मंदिर का अधिष्ठान (भा पु स)
- 142 पालघाट : तीर्थंकर तथा अन्य मूर्तियाँ (भा पु स)

## अध्याय 20

- 143 ओसिया : महावीर-मंदिर, देवकुलिकाएं (भा पु स)
- 144 ओसिया : महावीर-मंदिर, तोरण (भा पु स)
- 145 फलोदी : पार्वतनाथ-मंदिर (भा पु स)
146. अजमेर : अढाई-दिन-का-झोपड़ा, छत (भा पु स)
147. अजमेर : अढाई-दिन-का-झोपड़ा, भ्रातःभाग (भा पु स)
- 148 क नीलकण्ठ : बास्तु-खण्ड (भा पु स)
- ख आवस्ती : तीर्थंकर पार्वतनाथ (लखनऊ संग्रहालय) (अमेरिकन इंस्टीट्यूट ऑफ इण्डियन स्टडीज, वाराणसी, पुरातत्त्व एवं संग्रहालय विभाग, लखनऊ के सौजन्य से)
- 149 कटरा : तीर्थंकर नेमिनाथ (भरतपुर संग्रहालय) (अमेरिकन इंस्टीट्यूट, पुरातत्त्व एवं संग्रहालय विभाग, लखनऊ सौजन्य से)
- 150 अजमेर : तीर्थंकर-मूर्ति (राजपूताना संग्रहालय) (दिपिनकुमार जैन, पुरातत्त्व एवं संग्रहालय विभाग, राजस्थान के सौजन्य से)
- 151 बीकानेर संग्रहालय : एक मूर्ति का परिकर (अमेरिकन इंस्टीट्यूट, पुरातत्त्व एवं संग्रहालय विभाग, राजस्थान के सौजन्य से)
- 152 जयपुर संग्रहालय : तीर्थंकर मुनिसुवत (अमेरिकन इंस्टीट्यूट, पुरातत्त्व एवं संग्रहालय विभाग, राजस्थान के सौजन्य से)

## चित्र-सूची

- 153 भरतपुर संग्रहालय : तीर्थकर पाश्वनाथ (अमेरिकन इंस्टीट्यूट, पुरातत्त्व एवं संग्रहालय विभाग, राजस्थान के सौजन्य से)
- 154 पल्लू : बास्देवी (कीकानेर संग्रहालय) (अमेरिकन इंस्टीट्यूट, पुरातत्त्व एवं संग्रहालय विभाग, राजस्थान के सौजन्य से)

## आधार 21

- 155 क मुण्डोद्रेश : तीर्थकर ऋषभनाथ (आशुतोष संग्रहालय) (आशुतोष म्यूज़ियम और इण्डियन आर्ट, कलकत्ता)
- ख मायता : तीर्थकर ऋषभनाथ (आशुतोष संग्रहालय) (आशुतोष म्यूज़ियम)
- 156 क गढ़ अयपुर : तीर्थकर ऋषभनाथ (आशुतोष म्यूज़ियम)
- ख उत्तर बंगाल : एक मूर्ति (म्यूज़ियम और बरेन्ड रिसर्च सोसायटी, राजशाही)
- 157 क देवपाणी : एक मूर्ति (म्यूज़ियम और बरेन्ड रिसर्च सोसायटी, राजशाही)
- ख अलौरा : अंबिका की कांस्य-मूर्ति (पटना संग्रहालय) (भा पु स, पटना म्यूज़ियम के सौजन्य से)
- 158 क मानसूम : तीर्थकर ऋषभनाथ की कांस्य-मूर्ति (आशुतोष म्यूज़ियम)
- ख पलमा : तीर्थकर अजितनाथ (पटना संग्रहालय)
- 159 क पुहलिया : चतुर्मुख (आशुतोष संग्रहालय) (आशुतोष म्यूज़ियम)
- ख देउलिया : चतुर्मुख (आशुतोष संग्रहालय) (आशुतोष म्यूज़ियम)
- 160 क अवारी : मंदिर की कांस्य-तिमित अनुकृति (भारतीय संग्रहालय)
- ख बानपुर : तीर्थकर ऋषभनाथ की कांस्य-मूर्ति (भुवनेश्वर संग्रहालय) (भारतीय संग्रहालय)
- 161 क बानपुर : तीर्थकर चट्टप्रथ की कांस्य मूर्ति (भुवनेश्वर संग्रहालय) (पुरातत्त्व एवं संग्रहालय विभाग, उडीसा)
- ख उडीसा : तीर्थकर पाश्वनाथ (दिविंग संग्रहालय) (पुरातत्त्व एवं संग्रहालय विभाग, उडीसा)
- 162 क उडीसा : यज्ञी-मूर्ति (वारिपद संग्रहालय) (पुरातत्त्व एवं संग्रहालय विभाग, उडीसा)
- ख काकटपुर : चट्टप्रथ की कांस्य-मूर्ति (आशुतोष म्यूज़ियम)

## आधार 22

- 163 खजुराहो : क्षोत्रिनाथ-मंदिर, तीर्थकर के माता-पिता (भा पु स)
- 164 खजुराहो : घण्टाई-मंदिर (भा पु स)
- 165 खजुराहो : घण्टाई-मंदिर, यमेश्वर की छत (भा पु स)
- 166 खजुराहो : पाश्वनाथ-मंदिर (भा पु स)
- 167 खजुराहो : पाश्वनाथ-मंदिर, पुष्टिमाण (भा पु स)
- 168 खजुराहो : पाश्वनाथ-मंदिर, दक्षिणी बहिर्भूति का एक भाग (भा पु स)

## चित्र-सूची

- १६९ खजुराहो : पाश्वनाथ-मंदिर, मण्डप की छत (भा पु स)  
 १७० खजुराहो : पाश्वनाथ-मंदिर, पृष्ठवर्ती गर्भगृह का प्रवेशद्वार (भा पु स)  
 १७१ खजुराहो : आदिनाथ-मंदिर (भा पु स)  
 १७२ खजुराहो : आदिनाथ-मंदिर, दक्षिणी बहिर्भित्ति का एक भाग (भा पु स)  
 १७३ खजुराहो : पाश्वनाथ-मंदिर, महामण्डप से चतुर्विशति-पट्ट (भा पु स)  
 १७४ क खजुराहो : पाश्वनाथ-मंदिर, बहिर्भित्ति पर सरस्वती (भा पु स)  
 ख खजुराहो : पाश्वनाथ-मंदिर, बहिर्भित्ति पर देव-मूर्तियाँ (भा पु स)  
 १७५ खजुराहो : पाश्वनाथ-मंदिर, बहिर्भित्ति, शिव-मस्तक (भा पु स)  
 १७६ खजुराहो : पाश्वनाथ-मंदिर, बहिर्भित्ति पर सुरमुंदरी (भा पु स)  
 १७७ आरंग : भाष्ट देवल-मंदिर (भा पु स)  
 १७८ आरंग : भाष्ट देवल-मंदिर, गर्भगृह में तीर्थकर-मूर्तियाँ (भा पु स)  
 १७९ चौदपुर : नवग्रह-पट्ट (भा पु स)  
 १८० अहार संग्रहालय : यक्षी चक्रेशवरी (पुरातत्त्व एवं संग्रहालय विभाग, मध्य प्रदेश)  
 १८१ क लखनादोन : तीर्थकर-मूर्ति (पुरातत्त्व एवं संग्रहालय विभाग, मध्य प्रदेश)  
 ख लखनादोन : तीर्थकर पाश्वनाथ (पुरातत्त्व एवं संग्रहालय विभाग, मध्य प्रदेश)  
 १८२ क गंधारल : यक्षी चक्रेशवरी (पुरातत्त्व एवं संग्रहालय विभाग, मध्य प्रदेश)  
 ख मोधाता : पीतल-निशित तीर्थकर-मूर्ति का परिकर

## अध्याय 23

- १८३ माउण्ट आबू : विमल-वस्त्रहि-मंदिर, रंग-मण्डप की छत (भा पु स)  
 १८४ माउण्ट आबू : विमल-वस्त्रहि-मंदिर, रंग-मण्डप के स्तंभों पर तौरण (भा पु स)  
 १८५ माउण्ट आबू : विमल-वस्त्रहि-मंदिर का एक प्रवेशद्वार (भा पु स)  
 १८६ क माउण्ट आबू : विमल-वस्त्रहि-मंदिर, मुख-मण्डप का छत में कालिया-दशन (भा पु स)  
 ख माउण्ट आबू : विमल-वस्त्रहि-मंदिर, मुख-मण्डप की छत में नरसिंह (भा पु स)  
 १८७ क माउण्ट आबू : विमल-वस्त्रहि-मंदिर, मण्डप की स्तूपी पर यक्षी श्रविका (भा पु स)  
 ख माउण्ट आबू : विमल-वस्त्रहि-मंदिर, रंग-मण्डप की स्तूपी पर यक्षी-मूर्ति (भा पु स)  
 १८८ माउण्ट आबू : विमल-वस्त्रहि-मंदिर, मुख-मण्डप (भा पु स)  
 १८९ कुंभरिया : नेमिनाथ-मंदिर, बहिर्भित्ति का आंशिक हृष्य (भा पु स)  
 १९० माउण्ट आबू : लूण-वस्त्रहि-मंदिर, रंग-मण्डप की छत (भा पु स)  
 १९१ माउण्ट आबू : लूण-वस्त्रहि-मंदिर, नद-चौकी के स्तंभ (भा पु स)  
 १९२ माउण्ट आबू : लूण-वस्त्रहि-मंदिर, छज्जा (भा पु स)

## चित्र-सूची

- 193 माउण्ट आबू : लूण-वसहि-मंदिर, चीथि की छत पर अरिष्टनेमि के जीवन के दृश्योंकन (नीरज जैन, सतना)
- 194 माउण्ट आबू : लूण-वसहि-मंदिर, चीथि की छत पर समवसरण, डारिका तथा शिरनार तीर्थ के दृश्योंकल (भा पु स)
- 195 क माउण्ट आबू : विमल-वसहि-मंदिर, सभा-मण्डप की छत पर विदादेवी मानवी (उमाकांत प्रेमानंद शाह)  
ख माउण्ट आबू : विमल-वसहि-मंदिर, सभा-मण्डप की छत पर विदादेवी महामानवी (उमाकांत प्रेमानंद शाह)
- 196 कुंभरिया : महावीर-मंदिर, तीर्थकरों के माता-पिता और पाश्वनाथ के जीवन-दृश्य (उमाकांत प्रेमानंद शाह)
- 197 माउण्ट आबू : विमल-वसहि-मंदिर, एक छत पर भगविद्या वज्राकुशी का अंकन (उमाकांत प्रेमानंद शाह)
- 198 क माउण्ट आबू : विमल-वसहि-मंदिर, अप्सरा-मूर्ति (उमाकांत प्रेमानंद शाह)  
ख बराबन : तीर्थकर-मूर्ति (प्रिस ऑफ वेल्स संग्रहालय)
- 199 खंभात : एक हानी-दम्पति (उमाकांत प्रेमानंद शाह)
- 200 बराबन : साक्षेव (उमाकांत प्रेमानंद शाह)
- 201 माउण्ट आबू : लूण-वसहि-मंदिर, हस्तिशाला में बस्तुशाल और उसकी पलियो (उमाकांत प्रेमानंद शाह)
- 202 बाव : तीर्थकर की कांस्य-मूर्ति (उमाकांत प्रेमानंद शाह)

## अध्याय 24

- 203 क लक्ष्मणी : अहा-जिनालय (भा पु स)  
ख लक्ष्मणी : अहा-जिनालय, परवर्ती मण्डप (भा पु स)
- 204 श्रवणबेलगोला : पाश्वनाथ-बस्ती (भा पु स)
- 205 क श्रवणबेलगोला : अकण्ण-बस्ती (भा पु स)  
ख हनुमकोण्डा : कदलालय-बस्ती (भा पु स)
- 206 क हनुमकोण्डा : तीर्थकर पाश्वनाथ की शैलोक्तीर्ण मूर्ति (भा पु स)  
ख हनुमकोण्डा : अनुचर सहित तीर्थकर की शैलोक्तीर्ण मूर्ति (भा पु स)
- 207 सितामूर : मंदिर का गोमुर (इंस्टीटूशन फॉर्स द इण्डोलौंजी, पाण्डिचेरी)
- 208 सितामूर : मंदिर में नवीन आस्तु-कृति (इंस्टीटूशन फॉर्स)
- 209 तिहर्पर्तिक्कुण्ठम् : मंदिर (भा पु स)
- 210 तिहर्पर्तिक्कुण्ठम् : बर्धमान-मंदिर, संगीत-मण्डप (भा पु स)
- 211 तिहर्पर्तिक्कुण्ठम् : महावीर-मंदिर (भा पु स)
- 212 क विजयप्रगल्भम् : चंद्रनाथ-मंदिर (जातिलाल कपूरचंद, कोयम्बतूर)

## चित्र-सूची

- 212 ल दिज्यमंगलम् : चंद्रनाथ-भविर, गोपुर (जांतिलाल कपूरचंद, कोयम्बत्तूर)
- 213 तिष्ठमलैः मंदिर, विहंगम दृश्य (भा पु स)
- 214 तिष्ठमलैः मंदिर का प्राकार और गोपुर (भा पु स)
- 215 तिष्ठमलैः घर्मदिकी-मंदिर में गोप्यट की शैलोत्कीर्ण मूर्ति (भा पु स)
- 216 वैकुण्ठम् : तीर्थंकरों की कांस्य-मूर्तियाँ (भा पु स)
- 217 क दानबुलपड़ु : तीर्थंकर पाण्डवनाथ (भा पु स)
- ल दानबुलपड़ु : बर्तुलाकार पीठ में चौमुख (भा पु स, शासकीय संग्रहालय, ग्राम के सौजन्य से)
- 218 क दानबुलपड़ु : बर्तुलाकार पीठ के किनारों पर देव-देवियाँ (भा पु स)
- ल विलिवक्कम् : तीर्थंकर-मूर्ति (भा पु स)

## अध्याय 25

- 219 चित्तोड़ : कीर्तिस्तंभ और मंदिर (नीरज जैन, सतना)
- 220 चित्तोड़ : शृंगार-चौरी (नीरज जैन)
- 221 क चित्तोड़ : शृंगार-चौरी, यक्षी-मूर्ति (भा पु स)
- ल अशोध्या : कट्टरा जैन मंदिर, सुमतिनाथ की टीक (हरीशचंद्र जैन, दिल्ली)
- 222 चित्तोड़ : सात-बीस डेवढी (भा पु स)
- 223 जैसलमेर किला : सुमतिनाथ-मंदिर (भा पु स)
- 224 जयपुर : पटोदी का मंदिर, भित्ति-चित्र (नीरज जैन)
- 225 त्रिलोकपुर : पाण्डवनाथ-भविर-शिखर (हरीशचंद्र जैन)
- 226 वाराणसी : दिगंबर जैन मंदिर, अंतःभाग (हरीशचंद्र जैन)

## अध्याय 27

- 227 दिगंबर जैन संग्रहालय, उज्जैन : सर्वतोभद्र (नीरज जैन, सतना)
- 228 क पजनारी : मंदिर में तीर्थंकर-मूर्तियाँ (रमेश जैन, सगर)
- ल पटना : तीर्थंकर-पाण्डवनाथ (रमेश जैन)
- 229 क भालियर किला : तीर्थंकर की शैलोत्कीर्ण पूर्णि (भा पु स)
- ल भालियर किला : तीर्थंकरों की शैलोत्कीर्ण मूर्तियाँ (भा पु स)
- 230 क दिगंबर जैन संग्रहालय, उज्जैन : तीर्थंकर-मूर्ति का परिकर (नीरज जैन)
- ल नरवर : तीर्थंकर मूर्ति का परिकर (भालियर संग्रहालय) (भा पु स, पुरातत्त्व एवं संग्रहालय विभाग, गठ्य प्रदेश के सौजन्य से)
- 231 क दिगंबर जैन संग्रहालय : बालयतियों की मूर्ति (नीरज जैन)
- ल मरीमाता-घुफा : विद्याधर की मूर्ति (भा पु स)

## चित्र-सूची

- 232 क शिवपुरी : अभिका (पुरातत्व एवं संग्रहालय विभाग, मध्य प्रदेश)  
 ख दिगंबर जैन संग्रहालय, उज्जैन : शासन देवी की पूति (नीरज जैन)
- 233 क बडोह : मंदिर-समूह (भा पु स)
- ख पजनारी : मंदिर (रमेश जैन)
- 234 क मल्हारगढ़ : मंदिर का ऊपरी भाग (पुरातत्व संग्रहालय, सागर विश्वविद्यालय)
- ख कोल्हा : मंदिर की अलंकृत छत (भा पु स)

## ग्रन्थाय 28

- 235 रणकपुर : आदीश्वर-मंदिर, बहिर्भाग (भा पु स)
- 236 रणकपुर : आदीश्वर-मंदिर, मध्यवर्ती गर्भगृह (नीरज जैन, सतना)
- 237 शत्रुघ्न : मंदिर-नगर का एक भाग (भा पु स)
- 238 गिरनार : मंदिर-नगर का एक भाग (भा पु स)
- 239 रणकपुर : आदीश्वर-मंदिर, एक मण्डप (भा पु स)
- 240 रणकपुर : आदीश्वर-मंदिर, एक छत (भा पु स)
- 241 रणकपुर : आदीश्वर-मंदिर, एक छत (नीरज जैन)
- 242 रणकपुर : पाश्चंनाथ-मंदिर, बहिर्भित्ति का एक भाग (नीरज जैन)
- 243 रणकपुर : पाश्चंनाथ-मंदिर, बहिर्भित्ति का एक भाग (भा पु स)
- 244 रणकपुर : शत्रुघ्न-गिरनार-पट्ट (नीरज जैन)
- 245 रणकपुर : नंदीश्वर-द्वीप-पट्ट (नीरज जैन)
- 246 रणकपुर : सहजकण्ठ पाश्चंनाथ (नीरज जैन)

## ग्रन्थाय 29

- 247 हम्पी : गंगिण्डि-मंदिर और उसके सामने के स्तंभ (भा पु स)
- 248 हम्पी : हेमकूट पर्वत पर मंदिर-समूह (भा पु स)
- 249 क हम्पी । हेमकूट पर्वत पर शिकूटाचल मंदिर (भा पु स)  
 ख मूडविद्वी : सहल स्तंभों-वाला मंदिर (भा पु स)
- 250 क मूडविद्वी : भैरादेवी-मण्डप के स्तंभ (भा पु स)  
 ख मूडविद्वी : भैरादेवी-मण्डप के स्तंभ (भा पु स)
- 251 मूडविद्वी : युनियों के समाधि-स्मारक (भा पु स)
- 252 क कार्कल : चौमुख-वस्ती (भा पु स)  
 ख वेणूर : शांतीश्वर-वस्ती के सामने के स्तंभ (भा पु स)

## चित्र-सूची

- 253 मढ़कल : चंद्रनाथेश्वर-बस्ती के सामने के स्तंभ (भा पु स)
- 254 क कार्कल : अहुदेव-स्तंभ (भा पु स)  
ख मूडविद्री : एक स्तंभ का हीर्ष (भा पु स)
- 255 कार्कल : गोमटेश्वर-मूर्ति (भा पु स)
- 256 क बारंगल किला : तीर्थंकर पालवंनाथ (राज्य संग्रहालय, हैदराबाद) (पुरातत्व एवं संग्रहालय विभाग, आंध्र प्रदेश)  
ख मूडविद्री : तीर्थंकर की घासु-मूर्ति (फोटो आर्ट्स, मूडविद्री)
- 257 क मूडविद्री : तीर्थंकर की घासु-मूर्ति (फोटो आर्ट्स, मूडविद्री)  
ख मूडविद्री : चानु-निर्मित घासुमुख मूर्ति (फोटो आर्ट्स, मूडविद्री)
- 258 मूडविद्री : चानु-निर्मित भेर (भा पु स)

## अध्याय 30

- 259 शित्तन्नवासल : सूफा की छत में चित्रांकन (भा पु स)
- 260 क शित्तन्नवासल : स्तंभ और तोरण पर चित्रांकन (भा पु स)  
ख शित्तन्नवासल : स्तंभ पर चित्रांकित नर्तकी (भा पु स)
- 261 तिरुप्परुस्तिकुण्ठम् : महावीर-मंदिर में चित्रांकन। ऊपर की पंक्ति में ऋषभनाथ और लौकिक देवता, नीचे की पंक्ति में दीक्षा के लिए चबूत ऋषभनाथ (भा पु स)
- 262 तिरुप्परुस्तिकुण्ठम् : महावीर-मंदिर में चित्रांकन। ऊपर की पंक्ति में ऋषभदेव का बैराग्य और कच्छ-महाकच्छ का आल्यान, नीचे की पंक्ति में नमि और विनमि का आल्यान (भा पु स)
- 263 तिरुप्परुस्तिकुण्ठम् : महावीर-मंदिर में चित्रांकन। ऊपर की पंक्ति में नमि और विनमि का अभिषेक-समारोह, नीचे की पंक्ति में ऋषभनाथ की प्रथम चर्या (भा पु स)
- 264 तिरुप्परुस्तिकुण्ठम् : महावीर-मंदिर में चित्रांकन, कुष्णलीला के दृश्य

## रंगीन चित्र

## अध्याय 30

- 1 शित्तन्नवासल : कमल-सरोवर में सुमन-संचय (भा पु स)
- 2 शित्तन्नवासल : सरोवर में कमल और हंस (भा पु स)
- 3 शित्तन्नवासल : हंस-पंक्ति (भा पु स)
- 4 शित्तन्नवासल : कमल-सरोवर में सुमन-संचय (भा पु स)
- 5 शित्तन्नवासल : नृस्य-रत्न अप्सरा (भा पु स)
- 6 एलोरा : पुष्पोद्धार लिखे उड़ती देव-देवियाँ (भा पु स)

## रंगिन चित्र

- 7 एलोरा 1 व्योमचारी देव-देवियाँ (भा पु स)
- 8 एलोरा 1 व्योमचारी देव-देवियाँ (भा पु स)
- 9 एलोरा 1 व्योमचारी देव-देवियाँ (भा पु स)
- 10 एलोरा 1 व्योमचारी देव-देवियाँ (भा पु स)
- 11 एलोरा 1 व्योमचारी देव-देवियाँ (भा पु स)
- 12 और 13 मूडबिंदी की एक पाण्डुलिपि : काहत पर काली; भक्तराज (राष्ट्रीय संग्रहालय, मूडबिंदी जैन वसदि के सौजन्य से)
- 14 और 15 मूडबिंदी की एक पाण्डुलिपि : पद्मासन तथा खड़ासन-मुद्रा में अगवान महावीर (राष्ट्रीय संग्रहालय, मूडबिंदी जैन वसदि के सौजन्य से)
- 16 और 17 मूडबिंदी की एक पाण्डुलिपि : यक श्रजित और भक्तगण (राष्ट्रीय संग्रहालय, मूडबिंदी जैन वसदि के सौजन्य से)
- 18 और 19 मूडबिंदी की एक पाण्डुलिपि : तीर्थंकर पार्वती और वर्षोद-पद्मावती तथा ध्रुतदेवी (राष्ट्रीय संग्रहालय, मूडबिंदी जैन वसदि के सौजन्य से)
- 20 और 21 मूडबिंदी की एक पाण्डुलिपि : बाहुबली और उनकी वहिने तथा ध्रुतदेवी (राष्ट्रीय संग्रहालय, मूडबिंदी जैन वसदि के सौजन्य से)

## रेखान्चित्र

### सम्पादक का अभिभव

- 10 करेज एमीर (अफ़गानिस्तान) : तीर्थंकर (फ्लॉज़ फ़िशर)

### अध्याय 19

- 11 शितलवासन : गुफा-मंदिर की रूपरेखा (बोयेल के अनुसार) (भा पु स)

### अध्याय 20

- 12 आवास्ती : नेमिनाथ-मंदिर की रूपरेखा
- 13 इलाहाबाद-संग्रहालय : देवकुलिका (प्रमोदचंद्र के अनुसार) (प्रमोदचंद्र)
- 14 इलाहाबाद-संग्रहालय : मंदिर (प्रमोदचंद्र के अनुसार) (प्रमोदचंद्र)
- 15 श्रोतिया : महावीर-मंदिर-समूह की एक देवकुलिका (मुनीश चंद्र जोशी)
- 16 केमला (बुलगारिया) : कांस्य तीर्थंकर-मूर्ति (बैतजेस के अनुसार) (इस चित्रकृतो इतालियनो पर इल मीटियो एद एस्केमो श्रोतियत)
- 17 कंकाली टीला : किसी राजा का घड़ (स्मिथ के अनुसार) (भा पु स)
- 18 कंकाली टीला : तीर्थंकर-मूर्ति (स्मिथ के अनुसार) (भा पु स)

## रेखा-चित्र

### अध्याय 21

- 19 हमवाजा (प्रोप, वर्मा) : लेमेस्कना की रूपरेखा और विभाग (पुरातत्त्व विभाग, वर्मा)
- 20 पगान (वर्मा) : आनंद-मंदिर की रूपरेखा (पुरातत्त्व विभाग, वर्मा)
- 21 पहाड़पुर, (बांगला देश) : मंदिर की रूपरेखा (भा पु स)

### अध्याय 22

- 22 सजुराहो : शातिलाल-मंदिर की रूपरेखा (भा पु स)

### अध्याय 28

- 23 रणकपुर : युगावीश्वर-मंदिर की (रूप-रेखा) कजिन्स के अनुसार (भा पु स)

### अध्याय 30

- 24 शित्तनवासल : चित्रित नर्तकी (कलम्बूर शिवराममूर्ति)
- 25 शित्तनवासल : चित्रित राजदंपति (कलम्बूर शिवराममूर्ति)

भाग 4

वास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला  
600 से 1000 ई०

## अध्याय 19

### दक्षिण भारत

#### जैन धर्म की लोकप्रियता

सातवीं से दसवीं शताब्दियों का समयांतराल दक्षिण और दक्षिणापथ में छोटे-बड़े जैन संस्थानों के सक्रिय निर्माण का साक्षी है। इसी अवधि में शैव और वैष्णव संस्थानों और उनके मंदिरों का भी विकास हुआ। तमिलनाडु में शैव और वैष्णव—नायनमार और आलवार—संतों के सांप्रदायिक विरोध के होते हुए भी जैन संस्थानों के सक्रिय निर्माण की प्रक्रिया विकासोन्मुख ही रही। अंसावशेषों, विद्यमान पुरावशेषों और सैकड़ों तमिल, तेलुगु तथा कन्नड़ अभिलेखों में जैन मंदिरों और संस्थानों को दिये गये दानों के उल्लेख से ज्ञात होता है कि जैन मतावलंबी सर्वत्र विद्यमान थे और लगभग प्रत्येक ग्राम में उनकी प्रचुर जनसंख्या थी। १००० ई० के पश्चात्, विशेषकर रामानुजाचार्य द्वारा होयसल-नरेश विष्णुवर्धन के जैन धर्म से वैष्णव धर्म में मत-परिवर्तन करने से और लिंगायत शैव मत के उद्भव और विकास से कन्नड़ और निकटवर्ती तेलुगु क्षेत्रों में जैन धर्म की अवनति हुई।

#### तमिलनाडु के शैलोत्कीर्ण मंदिर

तमिलनाडु के शैलोत्कीर्ण जैन गुफा-मंदिर सातवीं शताब्दी से मिलते हैं। सामान्यतः ये उन पर्वतश्रेणियों में विद्यमान हैं जो पहले जैन संन्यासियों के द्वारा ईसा-पूर्व लगभग दूसरी शताब्दी<sup>1</sup> से अधिवासित थीं और जिनमें से कुछ ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करती हैं जिनसे इनका शैव और वैष्णव केंद्रों में परिवर्तित होना प्रसाधित होता है।

मुविधाजनक गुफाओं, इंट और घारे से निर्मित मंदिर और गर्भगृहों से युक्त इन पर्वतीय अधिष्ठानों में से अनेक खेत्यवासों और श्राविकाश्रमों के महत्वपूर्ण केंद्र बन गये थे। ऐसे ही स्थलों पर फलवद्धों और पाण्ड्यों ने बहुसंख्या में शैलोत्कीर्ण मंदिरों का निर्माण कराया जिनमें से अनेक मूलतः जैन थे किन्तु बाद में ज्ञाहृष्य केंद्रों में परिवर्तित कर दिये गये।

इन क्षेत्रों में प्रस्तार (ग्रेनाइट, नाइस, चार्टोकाइट) शिल्प-सुलभ न होने के कारण उत्खनन-प्रक्रिया की भिन्नता तथा श्रम और समय की दृष्टि से ये लयन या गुफा-मंदिर सरल रचना-शैली और

<sup>1</sup> [द्रष्टव्य : अध्याय 9—संपादक.]

सामान्य मण्डप-प्रकार के हैं। इनमें आयताकार मण्डप के साथ अग्रभाग में स्तंभ और छोटे-बड़े सपहट भित्ति-स्तंभ हैं जिनका अलंकरण उथले उरेखन के रूप में है। पिछली और पाश्वभित्तियों में देवकोष्ठ उत्कीर्ण हैं। मण्डप को बहुधा अगले और पिछले भागों में स्तंभों की अंतःपंक्ति अथवा उनके अभाव में फर्श और छत के स्तर के द्वारा विभक्त किया गया है। पृष्ठ-भित्ति के देवकोष्ठ की संख्या एक से अधिक और कहीं-कहीं एक पंक्ति में तीन, पाँच, अथवा सात तक होती है। देवकोष्ठ का मुखभाग मण्डप की ओर प्रक्षिप्त होता है और उसका आकार-प्रकार प्रायः दक्षिणी विमान-शैली के अनुरूप होता है।

ज्ञानिक प्राचीन जैन गुफा-मंदिर तिरुनेलवेली जिले में मलैयडिक्कुरिच्चि स्थान पर है जिसे बाद में शिव मंदिर में परिणत कर दिया गया। यह गुफा-मंदिर सामान्य मण्डप-शैली का है जिसके अग्रभाग में दो स्तंभ और दो भित्ति-स्तंभ हैं जिनपर कला-पिण्ड तथा मानव, पशु, पश्चियों आदि के कला-प्रतीकों जैसे सामान्य अलंकरण हैं। मानव-आकृतियों स्पष्टतः जैन शैली की हैं। इनके अतिरिक्त अन्य मूर्तियाँ जैन आकृतियाँ होने का आभास देती हैं, जो गुफा के शैव मत के अनुरूप परिवर्तन के साथ पूर्णतया अथवा अंशतः परिवर्तित कर दी गयी। इनमें से एक मूर्ति पर हाथी पर आरुड़ चतुर्भुजी देवता, संभवतः इंद्र, अथवा ब्रह्म-शास्ता, अथवा कुबेर-यक्ष का अस्पष्ट रेखांकन है।

इस गुफा को शैव मंदिर के रूप में परिवर्तित करने का पता एक परवर्ती पाण्ड्य अभिलेख में शिव को समर्पित करने के उल्लेख से चलता है। यह रूपांतरण संभवतः शैव संत ज्ञानसंबंदर के प्रभाव से कून पाण्ड्य (अरिकेशरी-मारवर्मन, ६७०-७०० ई०) द्वारा जैन मत से शैव मत में परिवर्तन का परिणाम था। इस घटना का प्रभाव जैन निर्माण-कार्यों के अधानक दक्ष ज्ञाने के रूप में पड़ा; अन्यथा तिरुनेलवेली जिले के वेच्चिप्पारै के जैन गुफा-मंदिर का सौंदर्य अत्यंत निखरा हुआ होता जिसका उत्खनन भी सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में हुआ था।

मदुरै के उपनगर तिरुप्परनकुण्टम का विशाल गुफा-मंदिर संभवतः रूपांतरण का दूसरा उदाहरण है जिसके मूल जैन मंदिर को लगभग ७७३ ई० में शैव रूप दिया गया। तिरुप्परन-कुण्टम की उसी पहाड़ी की एक अन्य शैलोत्कीर्ण गुफा को भी इसी प्रकार परिवर्तित किया गया। यह स्थान अब सुब्रह्मण्य की पूजा का केंद्र है।

आनंदमलै भी जैन केंद्र से ब्राह्मण केंद्र में रूपांतरण का एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत करता है। यहाँ का नरसिंह को समर्पित शैलोत्कीर्ण गुफा-मंदिर एक सुचिति वैष्णव उत्खनन का उदाहरण है, जिसे पाण्ड्यों के राज्यकाल में लगभग ७७० ई० में उत्कीर्ण किया गया। जैन केंद्रों के शैव या वैष्णव केंद्रों में परिवर्तन के अनेक उदाहरण हैं, जो पिल्लैयरपट्टि और कुन्नकुण्डि (रामनाथ-पुरम जिला), अरिदुमट्टि (मदुरै जिला) नर्तमलै और कुदुमियमलै (तिरुच्चिरापल्लि जिला), तिरुच्चिरापल्लि वीरशिखामणि और कलुगुमलै (तिरुनेलवेली जिला), दलवनूर (दक्षिण अकाटि जिला) सीयमंगलम और मामूलूर (उत्तर अकाटि जिला) में देखे जा सकते हैं। केवल युदूक्कोट्टै

के निकट शिलालेखासल (तिरुच्चिरापल्लि ज़िला) में ही इस प्रकार के परिवर्तनों से सुरक्षित जैन पुरावशेष विद्यमान हैं। यह एक प्रसिद्ध 'जैन कोद्र' के रूप में 'ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी'<sup>१</sup> से नौवीं शताब्दी ईसवी तक निरंतर जैनों के प्रभृत्व में रहा है।

शिलालेखासल के शैलोत्कीर्ण जैन मुफा-मंदिर को उसके शिलालेख में आण्णलदायिल का अरिवर-कोविल (अन्नवाशल स्थित अर्हत का मंदिर) कहा गया है, जो अपने अस्तित्व में सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध अथवा आठवीं शताब्दी के पूर्वांचल में आया होगा, जैसा कि शैलोत्कीर्ण मण्डप की उत्तरी ओर के लघु अभिलेख की पुरालिपि से ज्ञात होता है।<sup>२</sup> यह विशिष्ट मण्डप-कैली का मुफा-मंदिर है जिसमें आवश्यकार शैलोत्कीर्ण मण्डप और उसके अग्रभाग में दो स्तंभ और दो भित्ति-स्तंभ (रेखाशिष्ठ ११, चित्र १२७ क.) हैं। उसके भीतर चौकोर गर्भगृह है, जिसके फर्श का स्तर ऊँचा है। वहाँ तक पहुँचने के लिए तीन सीढ़ियों का मार्ग तथा सामान्य-सा द्वार है। गर्भगृह का मुख्यभाग यथारीति किंचित् मण्डप की ओर प्रक्षिप्त है। मण्डप की दो अंतःभित्तियों में देवकोष्ठ उत्कीर्ण हैं। दक्षिणी देवकोष्ठ में पादर्वनाथ की प्रतिमा, त्रिलूङ और नागफण के साथ, पद्मासन-मुद्रा में अंकित है। निकटवर्ती स्तंभ पर तमिल नामाभिलेख में उलोकादित्तन् (लोकादित्य) के रूप में इस पादर्वनाथ-प्रतिमा का उल्लेख है। उत्तरी देवकोष्ठ में व्यान-मुद्रा में छत्रयुक्त मूर्ति अंकित है तथा निकटवर्ती स्तंभ पर तमिल नामाभिलेख में तिरुवाशिरियन (श्री आचार्य) लिखा है। इसे आचार्य की मूर्ति समझा जाता है। दोनों ही शिलालेख नौवीं शताब्दी की लिपि में हैं। मण्डप और गर्भगृह की भित्तियाँ और छत चिकनी हैं, गर्भगृह की छत पर छत्र की उभरी किनारियों का अलंकरण है। पूर्णभित्ति पर एक पंचित में ध्यानस्थ मुद्रा में तीन मूर्तियाँ उरेखित हैं। इनमें से दो के सिर के ऊपर त्रिलूङ हैं, जिससे प्रतीत होता है कि वे तीर्थंकर-मूर्तियाँ हैं। तीसरी मूर्ति के ऊपर केवल एक छत्र है, जिससे मूर्ति की पहचान आचार्य अथवा चक्रवर्ती के रूप में की गयी है। मण्डप के अग्रभाग<sup>३</sup> के दक्षिणी शिलालण्ड के मूल पर तमिल भाषा का एक अभिलेख है, जो पाण्ड्य नरेश अबनिय-शेखर श्रीबल्लभ (श्रीमार श्रीबल्लभ, द१४२-द६२ ई०) के समय का है। इसके अनुसार जैनाचार्य इलन गौतमन ने, जिन्हें मदुरै आशिरियन भी कहा जाता था, अर्ध-मण्डप के जीर्णोंद्वारा तथा पुनर्निमाण की घबराई की और चित्रों तथा मूर्तियों से पुनः अलंकृत कराया और सामने के भाग में मुख-मण्डप का निर्माण कराया, जिसका मूलरूप में निर्मित अधिष्ठान आज भी विद्यमान है।<sup>४</sup> इस अभिलेख में मान-स्तंभ के निर्माण का उल्लेख है जिसका पद्म-

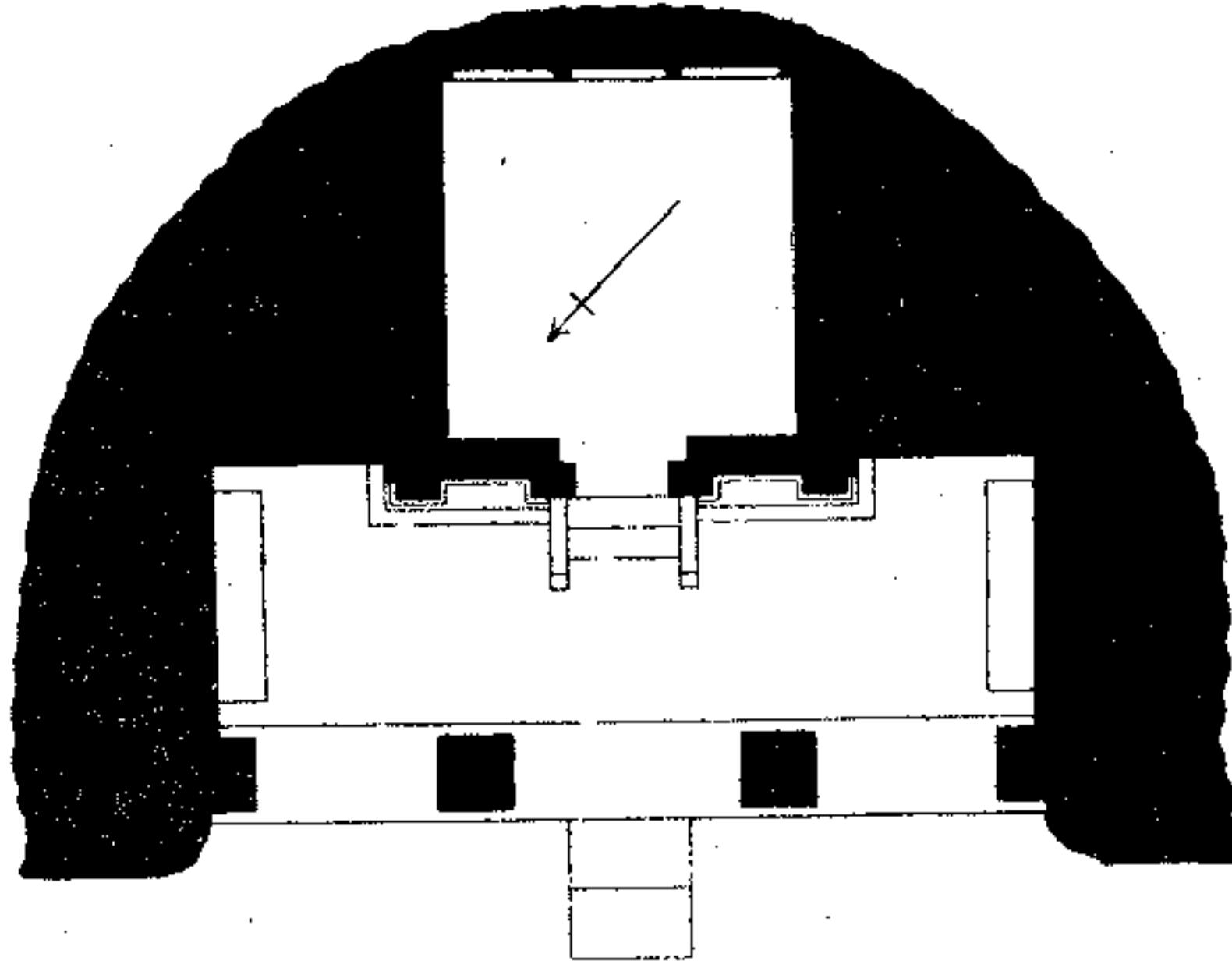
१ ई० दू० दूसरी शती से तीसरी शती ई० तक के सभी प्राचीन जैन कोद्रों के लिए अध्याय ९ प्रष्टव्य.

२ एनुप्रति रिपोर्ट अ०८ इण्डियन एपोड्राफी, १९६०-६१; स० ३२४.

३ एनुप्रति रिपोर्ट अ०८ साथथ इण्डियन एपोड्राफी, १९०४; ३६८.

४ प्रस्तर-मण्डप की वर्तमान रचना, जिसमें चार प्रस्तर-स्तंभ और शिलारण्डों से आच्छादित दितान है, मूल मण्डप के अवशेषों पर इस अव्याय के लेखक द्वारा सुरक्षा की दृष्टि से उस समय करायी गयी थी, जब वह पुदुक्कोट्टी में १९४६ से पहले राज्य का पुरातत्वाविकारी था। इसमें प्रयुक्त स्तंभ कुड्डमियमलै शिव (शिलानाथ स्वामी) मंदिर के जल-स्तंभीय भाग मण्डप से सिये गये हैं। इसका अविष्टान मूल रूप में ही विद्यमान है।

पुष्पोक्ति चौकोर शीर्षफलक मंदिर के सामने सफाई कराते समय उपलब्ध हुआ था। यह गुफा-मंदिर पाण्ड्य साम्राज्य के उत्तरी भाग में अवस्थित था, जिसे पल्लव-शक्ति ८६२ ई० के पूर्व कभी भी आक्रमण नहीं कर सकी। अतएव यह कभी भी पल्लव निर्मित गुफा-मंदिर नहीं था, जैसा कि कुछ लेखकों का विचार है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका उत्तरान्त मूलतः सातवीं शताब्दी के अंत में अथवा आठवीं शताब्दी के



रेखाचित्र 11. शिस्तनवासल : गुफा-मंदिर की रूपरेखा

प्रथम चरण में, पाण्ड्य भारत शेन्द्रन (६५४-६७० ई०) और अरिकेश्वरी मारवर्मन (६७०-७०० ई०) के राज्यकाल में तथा मारवर्मन के जैन मत से शैव मत में धर्म-परिवर्तन के पहले हुआ है, जैसी कि मलैयडि-कुरुच्छिय और पेच्चिप्पारै के गुफा-मंदिरों की स्थिति है। अग्रभाग के सांभों के बीचे पूर्वोक्त दो अभिलेखों के ऊपरी भाग के पलस्तर पर भव्य चित्रांकन, जो भद्रौरै आशिरियन की पुनर्निर्माण और पुनःसज्जन की धोषणा के अनुसार चित्रित हैं, केवल नीवीं शताब्दी के मध्यकाल के होने चाहिए।<sup>1</sup>

1. चित्रकृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य : श्रीनिवासन (के सार), ए नोट ऑन द डेट ऑफ द शिस्तनवासल पैटिग्स.

### तमिलनाडु के निमित मंदिर

प्रस्तरनिमित जैन मंदिरों का कम तमिलनाडु में पहलव-शैली के मंदिरों से प्रारंभ होता है। उदाहरणार्थ, कांचीपुरम के उपनगर तिरुप्पुरुत्तिकुण्ठम् अथवा जिन-कांची के जैन-मंदिर-समूह में चंद्रप्रभ-मंदिर (चित्र १२७ छ.) है, जो आज भी जैन धर्म का लोकप्रिय केंद्र है। विशाल प्राकार के भीतर चार बड़े मंदिरों तथा तीन लघु मंदिरों के समूह में (चित्र १२८ क.) यह मंदिर नितांत उत्तर-वर्ती संरचना है। यह तीन तल का चौकोर विमान-मंदिर है, जिसके सामने मुख्य-मण्डप है। तीनों तलों में सबसे नीचे का तल ठोस है और जो मध्य तल के लिए नैकटी का काम देता है तिरुप्पर मुख्य मंदिर है। यह उत्कालीन जैन मंदिरों का प्रचलित रूप है। इस मंदिर का भूमि-तल स्थानीय भूरे रंग के बलुए पत्थर का बना है, बैसे ही, जैसे पहलव नरेश राजसिंह द्वारा निमित अन्य मंदिर हैं। राजसिंह की राजधानी कांची में अधिष्ठान की गोटीं के लिए ग्रेनाइट पत्थर उपयोग में लाया गया है। राजसिंह तथा उसके उत्तराधिकारियों द्वारा निमित मंदिरों का यह विशेष लक्षण है।

मंदिर की बाहरी भित्ति पर व्यालाघासित स्तंभ और भित्ति-स्तंभों का अंकन है और उनके मध्य उथले देवकोष्ठ उत्कीण हैं। देवकोष्ठों के ऊपर मकर-तोरण बने हैं। सभी देवकोष्ठ रिक्त हैं। प्रथम तल पर हार, कोनों पर चौकोर कर्णकूट और उनके बीच में अवयताकार भद्रशालाएं निमित हैं।

मध्य तल नीचे की अपेक्षा कम चौकोर है और उसके चारों ओर प्रदक्षिणा-पथ है। इसकी बाहरी भित्ति पर बलुए पत्थर के भित्ति-स्तंभ हैं। भित्तियाँ इंटों की हैं और उन्हें बलुए पत्थर के भित्ति-स्तंभों से जोड़ा गया है। शीर्षभाग में लघु देवकोष्ठ पंक्तिबद्ध अंकित हैं। इन लघु देवकोष्ठों की प्रमुख विशेषता उनके अवभाग में अंकित तीर्थकरों और अन्य देवताओं की प्रतिमाएँ हैं। लघु देवकोष्ठों के हार के पीछे तीसरे तल का उठान कम है, जिसमें चतुर्भुज सपाट भित्ति-स्तंभ है और चबूतरे पर चार उकड़े बैठे हुए सिंह हैं। इस तल के ऊपर चौकोर श्रीवा है, जिसके ऊपर चौकोर शिखर और उसके ऊपर चौकोर स्तूपी है। शिखर के चारों ओर तीर्थकर-मूर्तियाँ हैं।

मध्य तल का गर्भगृह चंद्रप्रभ को समर्पित है। इस गर्भगृह में प्रवेश नीचे के ठोस तल में बनायी गयी दो सीढ़ियों के द्वारा किया जाता है। समग्र दृष्टि से यह मंदिर आठवीं शताब्दी की निमित्ति माना जा सकता है; यद्यपि इसका ऊपरी भाग विजयनगर-शासनकाल में इंटों द्वारा पुनर्निमित किया गया प्रतीत होता है।

विजयमंगलम का उपग्राम मेद्दुपुत्तूर कोयम्बत्तूर जिले के कोंगुमण्डलम का एक प्राचीन जैन केंद्र है। यहाँ का चंद्रनाथ-मंदिर गंगा-शैली की रचना है, जिसमें इट निमित दक्षिणमुखी विमान लगभग

प्रोसीरिंग्स शॉफ दि इंडियन हिल्ट्री कांप्रेस. 1944. पृ 168. (अध्याय 30 भी द्रष्टव्य, जहाँ पहलव तथा परवर्ती नरेशों द्वारा गुफा-मंदिर के निर्माण का उल्लेख है और जिसमें पूर्ववर्ती तथा परवर्ती जिक्रांकनों का सचित्र वर्णन है—संपा.)

समकालीन या कुछ परवर्ती प्रस्तरनिर्मित अर्ध और महा-मण्डप हैं। नीचे से शीर्षस्थ कंगूरों तक ईटों का विस्तार गंग-शैली की छितली वर्गकार संरचना है, जिसमें अष्टभुजी ग्रीवा और शिखर हैं। चूने और गरे ढारा की गयी परवर्ती मरम्मत से उत्पन्न कुछ परिवर्तन इस संरचना में दृष्टिगोचर होते हैं। भग्नानासिका में चूने से निर्मित तीर्थकर-प्रतिमाएँ हैं। गर्भगृह के अंतर्भूमि में बंदप्रभ की प्रतिमा है और शेष भाग अष्टभुजी ग्रीवा और शिखर से लगी हुई दुचत्ती है। वर्गकार संरचना की भित्तियों के चौकों पर धुंधले पड़े चूके चित्रांकन हैं, जिनमें यत्र-तत्र, विशेष कर दो निचले चौकों में, कमलयुष्मों और नृत्यरत युवतियों की रूपरेखा दृष्टिगोचर होती है। अबले चौक में जैन पौराणिक चित्र हैं और सबसे ऊपर के चौक में गवनिका-शैली की कुण्डलित बंदनवार है, जिसकी कुण्डली के भीतर रेखाचित्रों का अंकन है। इससे ऊपर के स्तर भी चित्रित दिखाई पड़ते हैं। प्रस्तर निर्मित अर्ध-मण्डप चौड़ाई में प्रथम तल के विस्तार के समान ही है, जबकि सामने का महा-मण्डप कुछ लंबा है। महा-मण्डप की पार्श्वभित्तियों के मध्य में देवकोष्ठ, कपोत और शाला-शिखर हैं। उसी भित्ति के अंतिम छोरों पर प्रस्तर और शिखरमुक्त भित्ति-स्तंभों के ऊपर तोरण-प्रतीक हैं। तोरण के भीतर जैन पौराणिक दृश्यों का चित्रण है। इस मंदिर-समूह के बाहर की अतिरिक्त संरचनाएँ जिनमें विशाल मुख-मण्डप और अश्र-मण्डप, प्राकार और गोपुर सम्मिलित हैं, विजयनगर-शासनकाल की रचनाएँ हैं। महा-मण्डप के भीतर पूर्व से पश्चिम की भित्तियों के पार्श्वों में चार संशिष्ट स्तंभ हैं, जो उन भित्तियों को नीची छत की पार्श्ववीथियों के साथ तीन भागों में बांटते हैं। केंद्रीय भाग की मुण्डेर से मध्य वीथी बन गयी है। मध्य वीथी की छत के मध्यभाग पर एक विशाल शिलापट्ट है, जिसपर कम्बलमुख्य-कुटुम्बक रहा है। मुण्डेर के दोनों ओर के सरदल पर कड़ियों के सिरों के निकट व्याल, जलेक, दैर्घ्य-अद्वय आदि का अंकन पूर्वों और पश्चिमी पक्षियों में हैं तथा उत्तरी और दक्षिणी पक्षियों में नृत्य-फलंकारों के अतिरिक्त चौबीस तीर्थकरों की मूर्तियाँ और एक मात्र महिला, संभवतः गंग के मंत्री चामुण्डराय की बहन पुरुलप्पा, हैं जिसका अभिलेखांकित निशिदिका-स्तंभ मुख-मण्डप के स्तंभों में सम्मिलित है। इस निशिदिका-स्तंभ के दक्षिणी भाग पर अश्वनाल के समान देवकोष्ठ का अंकन है, जिसके भीतरी पद्मासनस्थ तीर्थकर-मूर्ति है और उसके नीचे के देवकोष्ठ में एक महिला की प्रतिमा उत्कीर्ण है। स्तंभ के अन्य तीन ओर ग्रन्थ और तमिल अभिलेख में इस स्तंभ का चामुण्डराय की बहिन पुरुलप्पा की निशिदिका के रूप में उल्लेख किया गया है। अर्द्ध-मण्डप का भीतरी भाग प्रतिमा-रहित और साधारण है किन्तु उसके फर्श पर एक पीठ है, जिसके एक ओर प्रक्षिप्त जाली तथा सामने की ओर सिंह है, जिसपर चंद्रनाथ की लघु अभिषेक-मूर्ति रखी है। तमिल व्याकरणाचार्य तथा नन्नूल के लेखक प्रसिद्ध जैनाचार्य पवणदि इस स्थान के निवासी थे।

चोल और पाण्ड्य शैलों के तोण्डीमण्डलम के दक्षिण में निर्मित-शैली के अनेकों जैन मंदिर, मुत्तरेयार और पाण्ड्यों के ढारा प्रस्तर के बनवाये हुए हैं। इस तथ्य की पुष्टि पुरालेखीय साक्षों, प्रतिमाओं और भग्न मंदिरों के टीखों के अवशेषों से, जिन्हें महत्वपूर्ण स्थानीय नामों से पुकारा जाता है, होती है। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण है चेट्टीपट्टी (पुदुकोट्टी-तिरुच्चिरापल्लि) (चित्र १२८ ख) के संपूर्ण-प्रस्तर-मंदिर के उत्खनन से प्राप्त अवशेष, जिनसे मंदिर-समूह के अधिष्ठान, प्राकार और

पूर्व में गोपुर-प्रवेश का पता चला। इस समूह में दो चोल-पाल निर्मित केंद्रीय मंदिर और उनके पीछे दो लघु मंदिर थे। इस स्थल से उकड़ू बैठे हुए सिंहों पर आधारित दो स्तंभ, दो सिंह-शीर्षों पर दण्ड-रहित स्तंभ और अन्य वास्तु-अवशेष उपलब्ध हुए हैं। अधिष्ठान पर चोल-नरेश राजराज-प्रथम (६८५-१०१४ई०) के स्तम्भित अभिलेख से मंदिर का निर्माण-काल इस समय से पूर्व मुक्तरेयार शासन-काल में नौवीं शताब्दी का उत्तरार्ध और दसवीं शताब्दी का पूर्वी निश्चित होता है। एक अन्य शिलालेख में दसवीं शताब्दी के आचार्य मतिसागर का उल्लेख है। अन्य संदर्भों के अनुसार आचार्य मतिसागर द्वयापाल और वादिराज के धर्मगुरु थे। और अधिक महत्वपूर्ण हैं एक दर्जन से अधिक तीर्थकरों की भव्य प्रतिमाएं जिनमें महावीर और पाश्चानाथ की प्रतिमाएं सम्मिलित हैं, अन्य प्रतिमाएं अनुगामी देवों की हैं। मंदिर की मूलनाथक तीर्थकर-प्रतिमा, जिसे उत्खनन-स्थल से हटाकर अब ग्राम के निकट स्थापित कर दिया गया है, सिंहासन-मुद्रा में त्रिष्णु के नीचे अवस्थित अत्यंत भव्य है। सूति के शिलापट्ट पर एक अभिलेख है जिसमें लिखा है कि तिर्वेण्णायिल के ऐंयुर्हव पेहमपल्लै (जिसका पुराना नाम चेट्टीपट्टी है) के पाँच सौ व्यापारियों के मण्डल ने मंदिर के गोपुर का निर्माण जयवीर वेरिल-मंथान के द्वारा करवाया था। दसवीं-व्याख्याहवीं शताब्दी की लिपि में इस शिलालेख की तिथि इस मंदिर-समूह को किञ्चित् पूर्ववर्ती काल का ठहराती है।

सेम्बलूर (चित्र १२९ क), मंगदेवनपट्टि, वेल्लनूर और कण्णगरबकुड़ि, सभी पूर्वोक्त जिले में और कोविलगुलम और पल्लिमदम, रामनाथपुरम जिले में जैन निर्मित मंदिरों के पुरावशेष मिलते हैं। जिन स्थानों का उल्लेख पहले किया गया है उनमें तीर्थकरों और अन्य जैन प्रतिमाओं के अतिरिक्त सिंहाधार-स्तंभ भी मिलते हैं जो मुक्तरेयार शासकों द्वारा राजसिंह और उसके राजाओं के समय की अनुकृतियाँ हैं।

### दक्षिण कर्णाटक के निर्मित मंदिर



दक्षिण के संपूर्ण-प्रस्तर-निर्मित प्राचीन मंदिरों में सर्वाधिक प्राचीन विमान जैन मंदिरों के रूप में तीन साधारण विमान-मंदिरों का समूह है जिसे चंद्रगुप्त-बस्ती (चित्र १२९ स) कहा जाता है। यह मंदिर-समूह श्रवणबेलगोला (हासन) की चंद्रगिरि पहाड़ी अथवा चिक्कबेट्टा पर है। प्रत्येक विमान नीचे से दो भीटर लंबा-चौड़ा है तथा एक संयुक्त आयताकार अधिष्ठान के छोरों पर स्थित है। इन दोनों विमानों के मध्य में तीसरा मंदिर समतल वितान का है। दोनों विमानों की बाह्य पाश्वभित्तियों और चबूतरे को आगे बढ़ाकर प्रत्येक के सामने एक अर्ध-मण्डप की रचना की गयी है जिससे संपूर्ण परिसर एक विशाल चीक-जैसा दिखाई देता है। यह विमान-समूह अब बहुत काल पश्चात् निर्मित विशाल कट्टल-बस्ती के मण्डप का उत्तरी पाश्व अंग बन गया है। चंद्रगुप्त-बस्ती के अर्ध-मण्डप का अपभाग व्याख्याहवीं शताब्दी में भव्य शिल्पांकन और सेलखड़ी की सूक्ष्मांकित जाली से ढंक दिया गया। मध्य में प्रवेश-द्वार बनाया गया जो वर्णनात्मक मूर्तियों की चित्र-बल्लरित्यों द्वारा अलंकृत है। द्वार पर चंद्रगुप्त मौर्य और मद्रबाहु के संबंधों की पारंपरिक गाथाओं का बोध करानेवाली

प्रतिमाओं की दृश्य-पंक्ति और कुछ अन्य जीन प्रतिमाएँ रेखांकित हैं।<sup>1</sup> चंद्रगुप्त से पारंपरिक रूप से जुड़े हुए ये तीनों विमान-मंदिर या त्रिकूट शबणबेलगोला और उसके निकटवर्ती क्षेत्र के सर्वाधिक प्राचीन विद्यमान वास्तु-स्मारक हैं, जो लगभग ८५० ई० के कहे जा सकते हैं। दो पार्श्व विमानों में प्रतिष्ठापित भूज विद्यमानों का मूल स्थान अब ज्ञात नहीं है किन्तु आजकल इन मंदिरों का महत्व अपेक्षाकृत कम है और इनमें दो यक्षियों—पद्मावती और कुष्माण्डनी—की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठापित हैं। मध्यवर्ती गर्भगृह में पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठापित है। यह विमान-मंदिर प्रतीत होता है, जिसका ऊपरी हाँचा लुप्त हो गया है और जो आजकल मुख्य मंदिर के रूप में प्रयुक्त होता है।

भित्ति के ऊपरी भाग में बरल के निकट हंसों की शिल्पाकृतियाँ अंकित हैं। ऊपर के ब्राकाकार कपोत पर तीन कंगूरों से युक्त कुड़ु-तोरण हैं जिनकी संख्या नीचे के भित्ति-स्तंभों के समान है। कपोत के ऊपर सरदल के ऊपरी भाग में व्याल-आकृतियाँ अंकित हैं। संपूर्ण-विमान-समूह में सरदल-अंकन का यही रूप रहा है। इस अधिरचना के ऊपर प्रत्येक विमान के अंत में चोटी पर चौकोर ग्रीवा और शिखर एक छोटी स्तूपी के साथ हुआ करते हैं, जो अब नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि दो विमानों के शिखरयुक्त अंतराल के मध्य में भी इसी प्रकार के ग्रीवा-शिखर की अधिरचना थी, जो मूलतः एक पंक्ति में तीन विमानों के समूह का दक्षिणमुखी त्रिकूट बनाती थी। दूसरा तल बहुत छोटा और साधारण है और परबर्ती जीर्णोद्धार के समय बनी भारी जगती के कारण अनगढ़ लगता है। प्रथम तल की सरल संरचना के कारण इन अष्टांग अथवा अष्टवर्ग विमानों का दूसरा तल एक तल का षडंग अथवा षड्वर्ग-जैसा दिखाई देता है। यह सामान्य लैंचाई के प्रारंभिक अष्टांग-विमान निर्मित करने की परिपादी के अनुसार हुआ है।

शबणबेलगोला के बाह्य अंचल में स्थित कम्बदहलि की पंचकूट-बस्ती का (चित्र १३० क) दक्षिणी-विमान-वास्तुकला में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि यह स्थान दक्षिणी वास्तुशास्त्र, शिल्प-शास्त्र और आगम ग्रंथों में वर्णित तत्त्वों और शैलियों का सचित्र उदाहरण प्रस्तुत करता है। प्राकार के भीतर यह पाँच विमानों का समूह है तथा सामने गोपुर है। पूर्ववर्ती समय में यह तीन विमानों का त्रिकूटावल था जिनके सामने एक संयुक्त चौकोर मण्डप और उत्तर की ओर से तीनों के लिए संयुक्त प्रवेश-द्वार था। परिधीय रेखा में केंद्रीय मुख्य विमान गोपुर सहित उत्तरमुखी है और पार्श्व के दोनों विमान क्रमशः पूर्व और पश्चिममोन्मुखी हैं तथा सभी वर्गकार और द्वितल हैं। केंद्रीय अथवा उत्तरमुखी दक्षिणी विमान की वर्गकार अधिरचना पर वर्गकार ग्रीवा और शिखर दक्षिण की नागर-विमान-शैली के अनुरूप हैं तथा पूर्वोन्मुखी पश्चिमी विमान की वर्गकार संरचना पर अष्टभुजी ग्रीवा-शिखर उसे द्राविड़ रूप प्रदान करते हैं; और पूर्व में, उसके सामने के भाग में, पश्चिममोन्मुखी गोलाकार ग्रीवा-शिखर है जो वेसर-शैली की प्रस्तुति है। इस प्रकार तीनों विमान निर्शित रूप से दक्षिणी वास्तुकला की नागर, द्राविड़ और वेसर-शैली की कृतियाँ हैं जिनका वर्णकरण ग्रीवा और शिखर

1 शिल्पी का नाम बलिगाम (बेलगाम) का दासोबर अनेक स्थानों पर उल्लिख है। यह बहुत व्यक्ति है जिसे बेलूर के प्रसिद्ध होयसल-मंदिर की अनेक प्रतिमाओं के निर्माण का यक्ष प्राप्त है।

की आयोजना और रूप-प्रकार पर आधारित है। ये रूप हैं — चौकोर, अष्टभुजी अथवा बहुभुजी और वृत्तीय या वक्ररेखीय।

ये तीनों ही विमान अपने अर्ध-मण्डपों के द्वारा संयुक्त महा-मण्डप से जुड़े हुए हैं। विमान की प्रत्येक भित्ति पर आधार से शीर्ष तक छह चतुर्भुजी अर्ध-स्तंभ हैं। पल्लव, मुत्तरैयार और गंग मंदिरों की शैलीगत विशेषता के अनुसार इनके सरदलों पर हंसों की शिल्पाकृतियाँ हैं। प्रक्षिप्त एवं वक्राकार कपोत पर नीन पंक्तियों में तीन-तीन कंगूरों सहित कुडु-तोरण हैं और सबके शीर्ष पर अंतिम स्तर के रूप में व्याल-माला अंकित है। प्रत्येक ओर के केंद्रीय अर्ध-स्तंभ के शीर्ष पर तोरण से आच्छादित देवकोष्ठ में तीर्थकर-प्रतिमा विराजमान है। तोरण विभिन्न प्रकार के हैं, यथा पत्र-तोरण, या पुष्प-पल्लवों की माला, चित्र-तोरण जिसमें पशु-पक्षी तथा घनुषाकार भुजाओं में अंकित व्याल-आरोही सम्मिलित हैं एवं विद्याधर-तोरण जिसमें उड़ते हुए विद्याधरों की शिल्पाकृतियाँ हैं। इनमें अंतिम तोरण-प्रकार दक्षिणेतर मंदिरों में बहुत कम पाया जाता है।

अर्ध-मण्डप में इसी प्रकार के देवकोष्ठ हैं। चौकोर आवृत मुख-मण्डप में भी यूर्वोक्त विमानों और उनके अर्ध-मण्डपों के समान अर्ध-स्तंभ हैं। चालुक्य-शैली के सेलखड़ी के गोल स्तंभों का खुला हुआ अग्र-मण्डप महा-मण्डप के सामने बाद में जोड़ दिया गया। महा-मण्डप के भीतर प्रचलित पल्लव-शैली के चार केंद्रीय स्तंभ हैं जिनके कलश-शीर्षयुक्त दण्ड चौकोर आधार और सुदृढ़ पदमपीठों पर अवस्थित हैं। अन्य आठ स्तंभ मण्डप-शैली के हैं जो नीचे और ऊपर चौकोर शदूरम और मध्य में अष्टकोणीय कट्टू से युक्त हैं। मध्यवर्ती चार और उनके समीपवर्ती आठ स्तंभों की आयोजना नवरंग-शैली की प्रतीत होती है जिसकी मूल उत्पत्ति चालुक्य-शैली से हुई है। शैलियों का यह रचनात्मक सादृश्य और अधिक स्पष्ट होता है—केंद्रीय बीथि की छत के शिलापट्ट के छोरों पर दिक्पालों के अंकन से तथा उनके मध्य में द्विभुजी धरणेन्द्र-न्यश की प्रतिमा से, जो कोशण्डधारी राम के समान धनुष पकड़े और मुँह से शंख बजाने को उद्यत-मुद्रा में अंकित है। यक्ष के सिर पर पंचकण नाग-चतुर्भुज है। दोनों ओर चमरधारी हैं। मध्यवर्ती मंदिर भावावीर को समर्पित है जो अलंकृत सिंहासन पर आसीन हैं और उनके दोनों ओर चमरधारी हैं। बाहर प्रत्येक विमान के सरदल के ऊपर का हार वेदिकाओं पर अवस्थित है; कोनों पर चार कण्कूट और चारों दिशाओं में चार भद्रशालाएँ हैं।

दूसरे तल की रचना अधिक सामान्य है। इसकी प्रत्येक हर्म्य-भित्ति पर चार-चार अर्ध-स्तंभ हैं। प्रत्येक ओर मध्य के दो अर्ध-स्तंभ कुछ आगे को निकले हुए हैं और उनपर तोरणों से आच्छादित देवकोष्ठ निर्मित हैं।

नीचे के तल की भाँति सरदल पर हंस-बलभी बनी हुई है। दूसरे तल के हर्म्य-प्रस्तर के ऊपरी भाग पर व्याल-माला की चित्र-बल्लरी है और कोनों पर उकड़ूं बैठे हुए चार सिंहों को स्थापित किया गया है। केवल ग्रीवा से ऊपर ही तीनों विमानों की भिन्न निर्मिति दिखाई पड़ती है। मध्यवर्ती

विमान में नागर-शैली की वग़ाकार श्रीवा और उसके ऊपर शिखर है। पश्चिमी विमान की रूपरेखा में द्राविड़-शैली का अष्टभुजी श्रीवा-शिखर है। वेसर-शैली का पूर्वी विमान गोलाकार है और उसकी श्रीवा तथा शिखर भी गोल हैं। तीनों विमानों के ऊपर की स्थूपियाँ लुप्त हो गयी हैं।

स्वस्तिकाकार रचना के इस केंद्रीय त्रिकूटाचल (चंद्रगुप्त-वस्ती की सीधी जुड़ाई के विपरीत) में एक खुला स्तंभीय अर्ध-मण्डप बाद में जोड़ा गया जिसके स्तंभ परवर्ती घालुक्य-शैली में सेलखड़ी से निर्मित हैं और जो छत को कोनों पर आधार प्रदान करते हैं। अर्ध-मण्डप के सामने एक अर्ध्य-पीठ है जो आधारीय उपान पर निर्मित है जिसकी रचना उत्तरोत्तर बढ़ते हुए माप और विभिन्न आयोजना की है। नीचे का भाग चौकोर, उससे अगला अष्टभुजी, जिसकी आठों भुजाओं पर दिक्-पालों की प्रतिमाएँ हैं और सबसे ऊपर का गोल है। ये सभी वग़ाकार, अष्टभुजी और गोल संरचनाएँ नागर, द्राविड़ और वेसर-शैलियों के विमान-शिखरों के अनुरूप हैं।

अर्ध्य-पीठ के सामने कुछ ही दूरी पर परवर्ती काल की अतिरिक्त निर्मितियाँ संभवतः दसवीं शताब्दी के अंतिम चरण की हैं। ये दोनों द्वितीय वग़ाकार अष्टांग नागर विमान (दोनों ओर एक-एक) अपने-अपने अर्ध-मण्डप और महा-मण्डप सहित एक दूसरे के सामने पूर्व और पश्चिम में हैं। उनके महा-मण्डप एक दूसरे के समानांतर एक संयुक्त खुले मुख-मण्डप से जुड़े हैं। पश्चिमी विमान में प्रत्येक और त्रिरथ-शैली के तीन प्रक्षिप्त खण्डक हैं। विमान के इन प्रक्षिप्त खण्डकों का सादृश्य प्रस्तर के ऊपर प्रत्येक और के कर्णकूटों और भद्रशालाओं से है। मध्यवर्ती खण्डक में समान ऊँचाई के चार अर्ध-स्तंभ हैं जिनमें से भीतर के दो के मध्य में देवकोष्ठ हैं। सभी अर्ध-स्तंभ (जो वास्तव में पूर्व निर्मित स्तंभ थे) केंद्रीय त्रिकूटाचल के समान अपने शिखर-भागों के साथ चतुर्भुजी रचनाएँ हैं। सरदल के ऊपर का हार चार कर्णकूटों और चार भद्रशालाओं से युक्त है।

दूसरा तल पूर्वोक्त रचनाओं से अधिक भिन्न नहीं है। इसमें कोनों पर चार सिंह और केंद्र में पिण्डी के ऊपर चौकोर श्रीवा और शिखर हैं। पूर्वी विमान की रचना अधिष्ठान से सरदल तक सीधी और बिना किसी रथाकार खण्डक के है। वह ठीक केंद्रीय त्रिकूट की रचना के समान और अपने पश्चिमी विमान से असमान है। सभी अर्ध-स्तंभ चतुर्भुजी हैं। ऊपर के सरदल की बलभी हंसों की शिल्पकृतियों से अलंकृत है। इस तल के हर्म्य की भित्तियाँ साधारण हैं और उनके ऊपरी कोनों पर चार सिंह अंकित हैं। वग़ाकार पिण्डी वग़ाकार श्रीवा और शिखर के साथ है, उसी प्रकार जैसे सामने के विमान और केंद्रीय विमान में है।

इन आमने-सामने याले प्रदिरों के नवरंग-शैली के महा-मण्डपों के अपने चारों स्तंभों की रचना में विविधता है। पूर्वी संरचना के चारों मध्यवर्ती स्तंभ गोल हैं और सेलखड़ी के बने हैं, जबकि पश्चिमी संरचना के सभी स्तंभ सामान्य स्तंभों के समान निर्मित हैं। चारों स्तंभों के ऊपर के केंद्रीय खण्डकों की छत पर दोनों ही महा-मण्डपों में समान आकृति का दिक्पाल केंद्रीय आकृति के साथ अंकित है, जैसा त्रिकूट-विमानों के मूल्य महा-मण्डप की छत में है।

संपूर्ण-मंदिर-समूह के सामने लघु गोपुर में, जो लगभग केंद्रीय त्रिकूट के ही समान है, उसी प्रकार का अधिष्ठान है जैसा कि तीन प्रमुख मंदिरों में है और देवकोळों पर कुछ भिन्न प्रकार के तोरण हैं। तोरण के ऊपरी सिरे के ब्याल से प्रक्षिप्त दो कुण्डलित ग्रंथ हैं जो दक्षिण-पूर्व के एशिया-मंदिरों के द्वारों के काल-ग्रंथकर-तोरणों के आरभिक स्वरूप से मिलते-जुलते हैं। तोरण के भीतर नीचे पद्मासनस्थ तीर्थकर-प्रतिमाएँ हैं, जबकि नीचे के देवकोळों में तीर्थकर-प्रतिमाएँ कायोत्सर्ग-मुद्रा में थीं, जैसाकि कुछ विद्यमान उदाहरणों से विदित होता है। वे सेलखड़ी की निर्मिति हैं। गोपुर की अधिरचना नष्ट हो चुकी है।

दो प्रतिमुखी और एक सामने का परवर्ती विमान महावीर को समर्पित है। त्रिकूट-समूह के तीनों मंदिरों में से उत्तरमुखी केंद्रीय मंदिर में आदिनाथ, पूर्वोन्मुखी में नेमिनाथ और पश्चिमोन्मुखी में शांतिनाथ (गेन्सुर राजपत्र के पूर्ववर्ती अभिलेख के अनुसार) प्रतिष्ठापित हैं। पद्मासनस्थ तीर्थकरों का सिंहासन गेनाइट प्रस्तर का है, जबकि तीर्थकर और उनके अनुचर चमरधारी सेलखड़ी के हैं। इसी सामग्री से एक अच्युत-मूर्ति अग्र-मण्डप के सम्मुख बनी हुई है तथा खण्डित पार्श्वनाथ, चमरधारी और कुछ वास्तुलगड़ एवं मूर्तिखण्ड, शयनरत्न हाथी तथा गंग-नरेशों के विजयास्त्र आदि सभी मंदिरों से बाहर के परिसर में पढ़े हुए हैं। परिसर के सामने लगभग ४००-५०० भीटर पर एक बहुत सुंदर और ऊँचा अभिलेखांकित स्तंभ है जिसमें शिखर सहित स्तंभ के सभी उपांग विद्यमान हैं। शिखर पर यह की मृति है। सभी निर्मितियाँ गेनाइट पत्थर की हैं और मंदिर की समकालीन हैं।

अपने समग्र रूप एवं चिन्हरणीय रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से महत्वपूर्ण यह मंदिर तत्कालीन बास्तु एवं मूर्तिकला की उन परिपाटियों का प्रतीक है जो पल्लव-पाण्ड्य और चालुक्य-राष्ट्रकूट-क्षेत्रों में, विशेषतः पल्लव-पाण्ड्य-क्षेत्र में, प्रचलित थीं। यह अलंकरण की प्रचलित पद्धतियों के उद्भव और विकास, आयोजना-वैभिन्न्य, वित्यास, परिमाण, निर्माण के प्रक्रियागत विकास की शैलियों और समकालीन स्थापत्य के विविध रूपों का चित्रण प्रस्तुत करता है। मंदिर-स्थापत्य की अनुगामी मूर्तिकला में ६०० और १००० ई० के समयांतराल में प्रचलित पल्लव-पाण्ड्य और सभीपवर्ती पूर्वी क्षेत्रों की कला-परंपरा एवं ठीक उत्तरवर्ती चालुक्य-राष्ट्रकूट-स्तोतों से व्युत्पन्न रूपों और प्रभेदों के दर्शन होते हैं। इन दोनों ही परंपराओं ने प्रायः समान सिद्धांतों एवं शिल्प-वंशों का अनुगमन किया है। किन्तु दोनों के निर्माण से संबंधित सामग्री के प्रयोग में भिन्नता है, यथा कठोर प्रस्तर और कोमल प्रस्तर द्वारा प्रयोगगत कठिनाईयाँ और सुविधाएँ उनकी अपनी-अपनी रही हैं। निर्माण-कार्य के लिए इवेत गेनाइट प्रस्तर का चुनाव, शुकनास। का अभाव, उत्तीर्ण तस्वीरें सहित बहु शाखाओं से अलंकृत उपरिद्वारों का अभाव, चालुक्य और चालुक्य-वंग की विशेषताएँ हैं जिसमें उत्तरी प्रासाद भी सम्मिलित हैं। इन विशेषताओं के कारण इन आद्य पश्चिमी गंग-मंदिरों को तमिलनाडु के पल्लव-पाण्ड्य उद्भव का कहा जायेगा। तथापि यह उल्लेखनीय है कि प्रथम तल के सामने के संकेंद्रित मण्डपों के शीर्षभाग पर हार की रचना का प्रयोग अनवरत है कि प्रथम तल के सामने के संकेंद्रित मण्डपों के शीर्षभाग पर हार की रचना का प्रयोग अनवरत

रूप से व्यापक रहा। यह प्रयोग वास्तव में ८५० ई० के लगभग पल्लवोत्तर मंदिरों से लुप्त हो गया, किन्तु कनाटिक और दक्षिणापथ के खालुक्य और राष्ट्रकूट नरेशों तथा उनके उत्तराधिकारियों के विमान-मंदिरों में निरंतर प्रचलित रहा और यह मण्डप के अंतःभाग के स्तंभ के साथ इस वर्ग के मंदिरों का विशेष लक्षण हो गया। इस प्रकार अपने पाँच विमानों के साथ यह पंचकूट-बस्ती एक महत्वपूर्ण प्रतीक बन गयी है।

श्रवणबेलगोला में चंद्रगिरि पहाड़ी पर चंद्रगुप्त-बस्ती के उत्तर में कुछ दूरी पर चामुण्डराय-बस्ती अथवा चामुण्डराज-बस्ति (चित्र १३० छ.) स्थित है जो विवेच्य अवधि के जैन मंदिरों में सर्वोपरि एवं भव्यतम कृति है और कला-कौशल की दृष्टि से किसी भी अन्य की अपेक्षा अधिक सुंदर है। इसका निर्माण राजमल्ल-चतुर्थ के गंग-भंडी चामुण्डराय ने दसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में कराया था। इस मंदिर-संग्रह में तीन ऊँक ला पूर्वोन्मुख कर्णकार द्वाविड़ विमान (नींव पर ११.५ मी० वर्ग) है और उसके नीचे के तलों में गर्भगृह हैं, जिनमें तीर्थंकर प्रतिष्ठापित हैं। एक छोटा अंतराल है जिसे प्रथम तल के बाहर से देखा जा सकता है, और विमान के ही समान छोड़ाई का लगभग वर्गकार विशाल महा-मण्डप है।

विमान में पाँच खण्डकों और उनके बीच में चार अंतराल हैं जो मुख्य भवन को पंचरथ आकार प्रदान करते हैं। प्रथम तल की संरचना में लघु मंदिरों की शुरुआता, कोनों पर कर्णकूट, मध्य में आयताकार कोण वा शालाएँ और उनके मध्य में अर्धवृत्ताकार पंजर या नीड़ निर्मित हैं।

विमान-भित्ति की प्रत्येक और के केंद्रीय भद्रों पर तथा मण्डप के दोनों ओर मध्य में सद्दे और आयताकार देवकोण हैं जो खड़गासन प्रतिमाओं के लिए बनाये गये हैं। ऊपर के उत्तीर पर हंस अंकित हैं। हंसों की इस चित्र-बल्लरी पर लता-पल्लव और कमल-कलिकार्ण इस प्रकार उत्कीर्ण किये गये हैं कि वे हंसों के पंख और पूँछ सदृश प्रतीत होते हैं।

कपोत अलंकृत है। उसपर इकहरा घुमाव है और किनारी पर छोटे-छोटे गुलाब के पुष्पों की सज्जा है। नीचे की भित्ति के अर्ध-स्तंभों की ऊर्ध्व रेखाओं के बीच कुड़-युगल अंकित है। सरदल की ऊपरी पंक्ति व्याल-माला के रूप में है जिसमें गज-व्याल और सिंह-व्याल अंकित हैं। विमान की भित्ति और अधिष्ठान के समान ही सरदल के भी प्रश्नोप हैं।

सरदल और उसके व्यालवरि भागों पर लघु मंदिरों का हार निर्मित है जो चार कर्णकूट वा वर्गकार विमान के रूप में हैं। तीन भद्रशालाएँ और अर्धवृत्ताकार पंजर उत्तर, दक्षिण और पश्चिम दिशाओं में हैं। यह हार अनपित शैली का है और मध्य तल के हर्म्य से स्वतंत्र है तथा उसे एक संकीर्ण और खुले हुए प्रदक्षिणा-पथ के द्वारा पृथक् रखा गया है। हार की यह रचना कम्बदहल्लि-मंदिर के विषरीत है जहाँ हार अपित-प्रकार का है और जड़ाऊ कार्य के समान ऊपरी तल के हर्म्य-भित्तियों से जुड़ा हुआ है। ऐसे अनपित हार मंदिरों में सांधार-शैली की दोहरी भित्तियों और आवृत

प्रदक्षिणा-पथ से युक्त प्रथम तल पर ही संभव है, जो चालुक्य-मंदिरों की प्रचलित शैली है। भित्तियों की अत्यधिक मोटाई और अंतः तथा बाह्य भित्तियों से बननेवाले अंतःमार्ग के अभाव में यहाँ की सांधार रचना स्पष्ट नहीं बन पायी है। तथापि, इसकी अर्ध-सांधार रचना अनपित्त-हार के लिए उपयुक्त है। इससे हार के मुख और पृष्ठभागों के सर्वांगीण निर्माण में सहायता मिली है, विशेषकर अर्धवृत्ताकार पंजरों की यज-पृष्ठाकृति की रचना में जिसका अपित्त-हारों में केवल सामने का भाग ही प्रस्तुत किया जा सकता है। हार का विस्तार उसके कूटों, कोष्ठों और पंजरों सहित मण्डप के ऊपर तक है। हार के सभी अंग अलंकृत हैं। उसके देवकोष्ठों में सुंदर-सुघड़ प्रतिमाएँ निर्मित हैं; उदाहरणार्थ, एक कोष्ठ में उत्तर-पूर्व और दक्षिण-पूर्व के कर्णकूटों में कुबेर की प्रतिमाएँ अथवा अंतराल के सामने के कर्णकूटों में पद्मासनस्थ तीर्थकरों या अगले पैरों को खड़ा करके बैठे हुए सिंह की आकृतियाँ हैं। भद्रवालाओं की केंद्रीय नासिकाओं में भी तीर्थकर-प्रतिमाएँ अंकित हैं, जबकि प्रत्येक शाला के दो-छोरों पर दहाड़ते हुए सिंहों का अंकन है। इसी प्रकार पंजरों के अग्रभागों पर भी तीर्थकर-प्रतिमाएँ अंकित हैं। हार-अवयवों के मध्यवर्ती द्वारांतरों में क्षुद्र-नासिकाएँ निर्मित हैं, इनमें भी यक्ष-यक्षियों और भक्त नर-नारियों की प्रतिमाएँ हैं। इस शृंखला में सर्वोत्तम प्रतिमा पद्मावती यक्षी की है जो महाबलीपुरम की यजस्तमी की मूर्ति की मुद्रा और शैली का स्मरण किलाती है, किन्तु अंतर इतना ही है कि इस मूर्ति में जल-स्नान करते हुए गज-युगल नहीं है। दक्षिणी अंतराल की क्षुद्र-नासिकाओं पर गज-मूर्तियों का इस रूप में अंकन, जो गंग-नरेशों का राजकीय चिह्न था, इस मंदिर को गंग-नरेशों की निर्मिति सिद्ध करता है।

महा-मण्डप में भी ऊपर लघु मंदिरों का हार है। इसके पूर्वी भाग के केंद्रीय लघु मंदिर की रूपरेखा द्वितीय अविरचना वाले गोपुर के समान है। इस गोपुर अथवा द्वार-शाला के दोनों ओर की क्षुद्र-नासिकाओं में आसीन महिलाओं की दो प्रतिमाएँ, संभवतः इस मंदिर में मानवीय प्रतिमा के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। महा-मण्डप के साथ एक अग्र-मण्डप की रचना बाद में हुई। इस मण्डप के बाह्य द्वार में चालुक्य-शैली की मध्य रूप से शिल्पांकित चौखट जड़ी हुई है।

मण्डप के भीतर सोलह स्तंभ स्वतंत्र रूप से स्थित हैं परन्तु उनमें से बीच के चार को छोड़कर शेष सभी मण्डप-प्रकार के शदुरम आधार और शीर्षयुक्त हैं। उनके बीच-बीच में कट्टु अलंकरण हैं और वे भद्रपीठों पर आधारित हैं। चारों केंद्रीय स्तंभ बीच में गोल हैं तथा उनके शिखर में कलश, ताढ़ि और कुंभ सम्मिलित हैं। अंतिग स्तंभों पर धरन आधारित हैं क्योंकि वहाँ पालि और शिलापट्ट नहीं हैं। ये पालिशादार प्रस्तर-स्तंभ गोल भद्रासन अधिष्ठानों पर आधारित हैं और अपेक्षाकृत सादे हैं। ये स्तंभ परवर्ती चालुक्य-शैली के अलंकरण-प्राचुर्य से रहित हैं। मण्डप के मध्यवर्ती फर्श का स्तर कुछ उठा हुआ है, जबकि ऊपर की छत पर पश्चलता के घेरे में विस्तीर्ण कमल का अंकन है। केंद्रीय पुष्पासन सादा है। महा-मण्डप के भीतर की स्तंभ-पंक्तियों के समान ही, अंतःभित्तियों पर चतुर्भुजी सादे अर्ध-स्तंभ हैं। मण्डप के पृष्ठभाग के अंतराल पर प्राचीन चिन्हांकनों के चिह्न हैं। गर्भगृह में सेलखड़ी से निर्मित नेमिनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठापित है। उनके पीछे तिरुवाचि और दो अनुचर हैं। वह मूल प्रतिमा के स्थान पर परवर्ती स्थापन है, जैसाकि उनके पादपीठ पर लिखे अभिलेख में उल्लेख

वास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला 600 से 1000 ई०

है। इसके समरूप यक्ष और यक्षी की प्रतिमाएँ भी उसी प्रस्तर से निर्मित हैं, विशेषकर यक्षी की मूर्ति भव्य रूप से शिल्पाकृति कृति है।

भण्डप के दक्षिणी-पूर्वी कोने से सीढ़ियों का चढ़ाव है जो दूसरे तल के मंदिर के सामने की खुली छत पर पहुँचता है। प्रथम तल की अपेक्षा इस हर्ष के चौक का परिमाण छोटा है और उसकी चारों पार्श्वभित्तियों के बाहरी भागों पर अर्ध-स्तंभ हैं। दक्षिणी, पश्चिमी और उत्तरी भित्तियों के दो-दो केंद्रीय अर्ध-स्तंभों के बीच के अंतराल में उथले देवकोष्ठ हैं जिनमें चूने से निर्मित तीर्थकरों की खड़ग्रासन प्रतिमाएँ उथली रेखाकल शैली में अंकित हैं। निवले तल के समान ही यहाँ के सरदल पर भी हंसों की शिल्पाकृतियाँ हैं, केवल कोनों पर सिंहों का अंकन है। कपोत पर कर्णकूटों और भद्रशालाओं का हार है। कूटों और शालाओं के भुखभागों पर तीर्थकर-प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं जबकि सुद्ध-नासिकाओं पर भक्त नर-नारियों की प्रतिमाएँ हैं। उत्तर और दक्षिण की अंतराल-भित्तियों के ऊपर के सरदल पर दो अर्धवृत्ताकार नीड़ अथवा पंजर हैं जिनके आगे-पीछे पूर्ण गज-पृष्ठाकृति का अंकन है। उनके सामने के तोरणों के देवकोष्ठों में तीर्थकर-प्रतिमाएँ व्यान-मुद्रा में अंकित हैं। अंतराल के आयताकार क्षेत्र के पीछे मंदिर के प्रवेश-द्वार पर सादी चौखट जड़ी हुई है जबकि गर्भ-गृह में सेलखड़ी से निर्मित पार्श्वनाथ की परबर्ती प्रतिमा है।

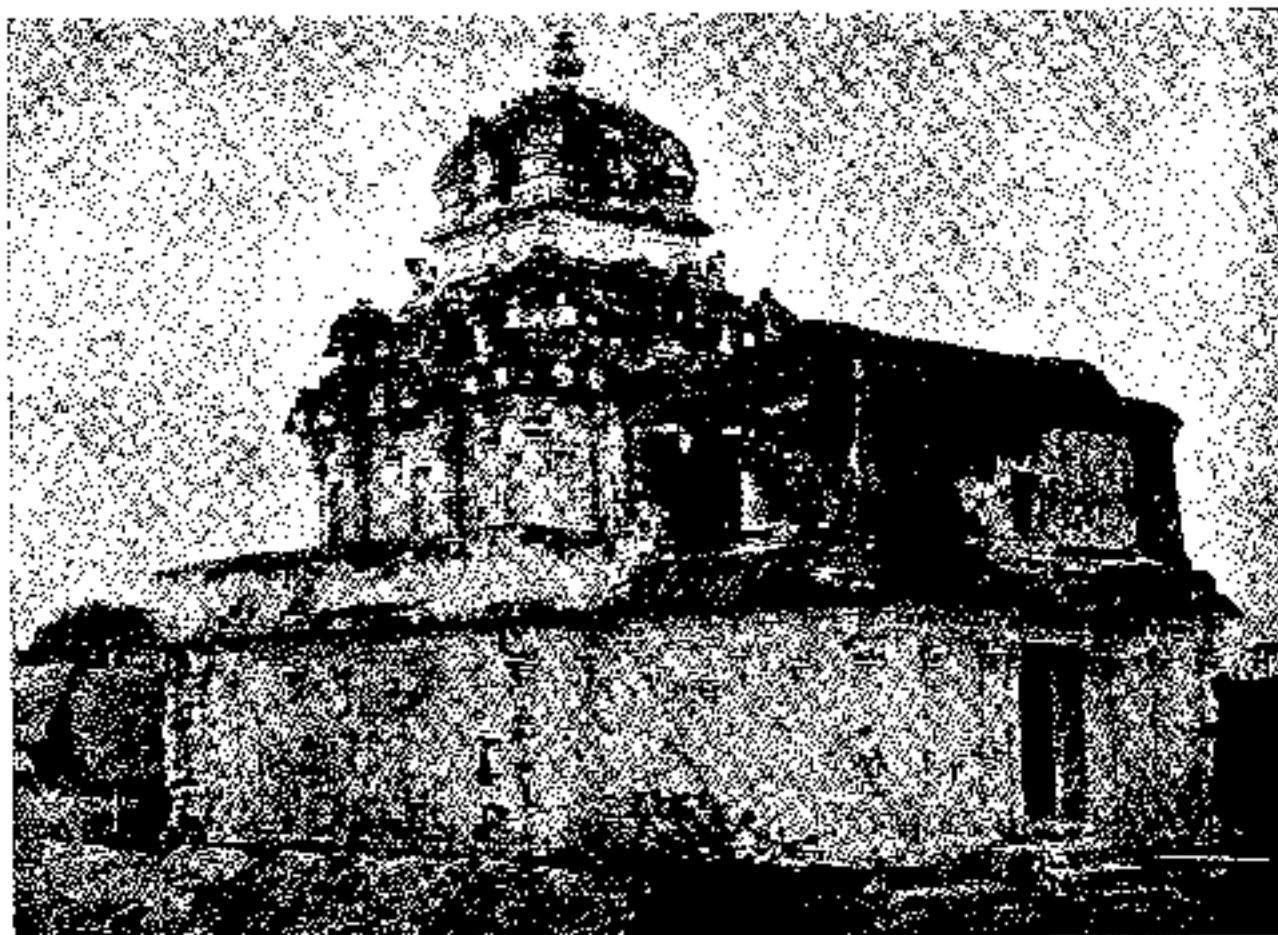
तीसरा तल चारों ओर से आवृत, कम ऊंचे छोटे चौक के रूप में है जिसका उठान दूसरे तल के हार के ऊपर हुआ है। इसमें सामान्य अर्ध-स्तंभ और तीर्थकर-प्रतिमाओं से युक्त देवकोष्ठ हैं। यह वास्तविक ग्रीवा के उठान में उपग्रीवा का कार्य करता है और इस प्रकार विमान की कुल ऊँचाई की उसके आधार के समानुपातिक सौंदर्य के अनुसार अभिवृद्धि करता है। अन्यथा वास्तुशिल्प की दृष्टि से यह बौनी और असुंदर रचना मात्र रह जाती। इसके ऊपर अष्टकोण शिखर से आच्छादित अष्टकोण ग्रीवा है जो कम्बदहलि की अपेक्षा कम सुंदर है। ग्रीवा-शिखर के आठों कोणों पर महानासिकाएँ प्रक्षिप्त हैं जिनके चारों ओर के देवकोष्ठों में तीर्थकर-प्रतिमाएँ तथा कोनों के देवकोष्ठों में भक्त नर-नारियों की प्रतिमाएँ अंकित हैं। सबसे ऊपर की स्तूपी एक ही शिलाखण्ड से निर्मित नहीं है, वरन् संश्लिष्ट है। यह चार भागों में संपूर्ण ग्रेनाइट की रचना है, जबकि सबसे ऊपर की स्तूपिका काली सेलखड़ी की है और कलश से संयुक्त कर दी गयी है।

चामुण्डराय-बस्ती के आधार-शिलालेख के अनुसार मंदिर का निर्माण चामुण्डराय के हारा सन् ६८२ ई० में कराया गया था। ऊपरी तल के गर्भगृह में पार्श्वनाथ की प्रतिमा की प्रतिष्ठापना सन् ६९५ में करायी गयी थी जैसाकि उक्त प्रतिमा के पादपीठ पर मंत्रि-पुत्र के अभिलेख से यिदित होता है। इससे ज्ञात होता है कि पिता और पुत्र के हारा मंदिर के निर्माण में तेरह वर्ष लगे। सामने के अग्र-भण्डप का निर्माण संभवतः होयसल विष्णुवर्धन के समय किया गया।

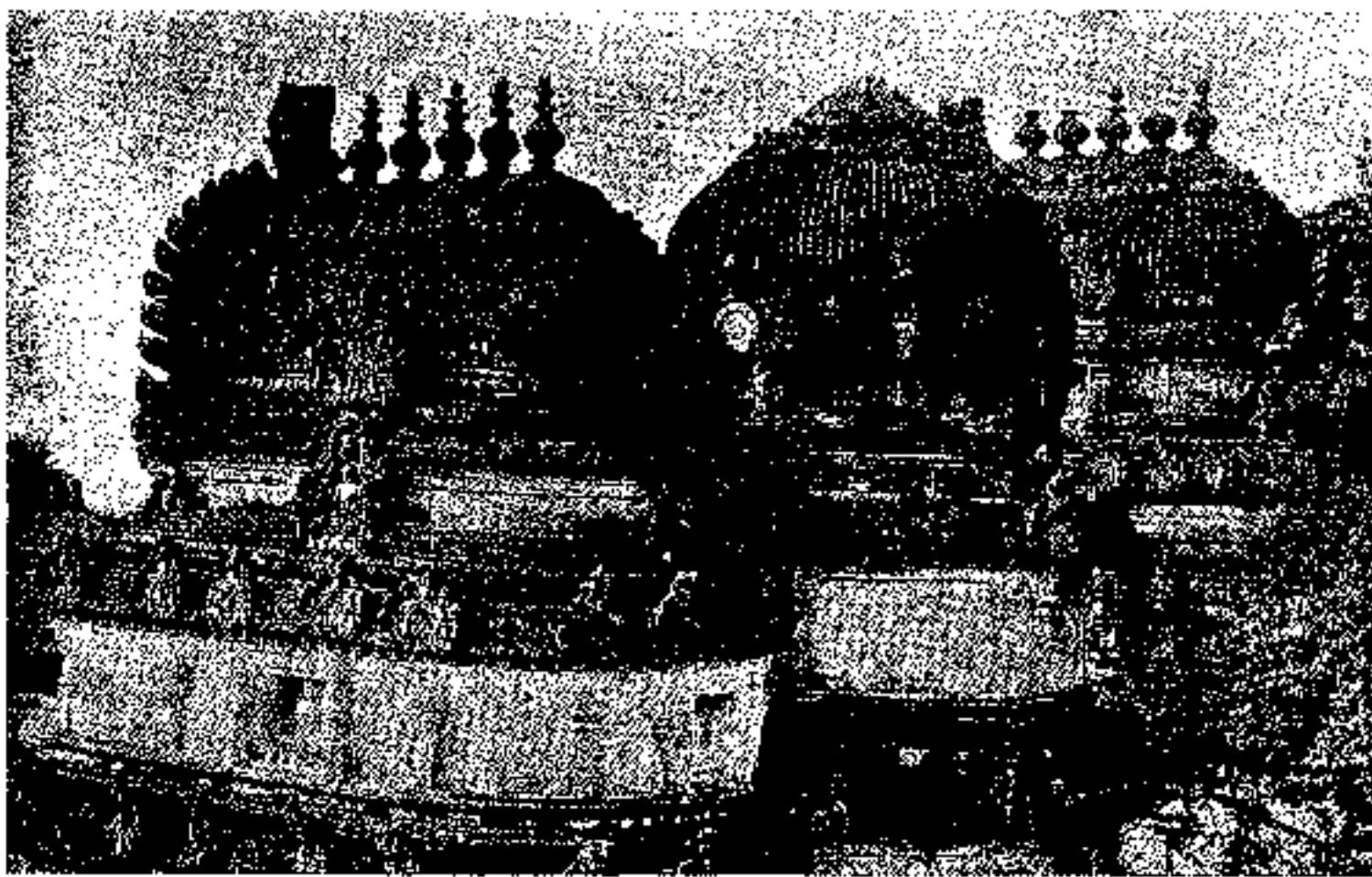
इस पहाड़ी के प्राकार के दक्षिणी प्रवेश-द्वार के भीतर एक उत्तुग स्तंभ आठ हाथियों के आधार के ऊपर बनाया गया है। प्राकार के भीतर कई मंदिर हैं। स्तंभ के शिखर पर ब्रह्मदेव की पूर्वोन्मुख



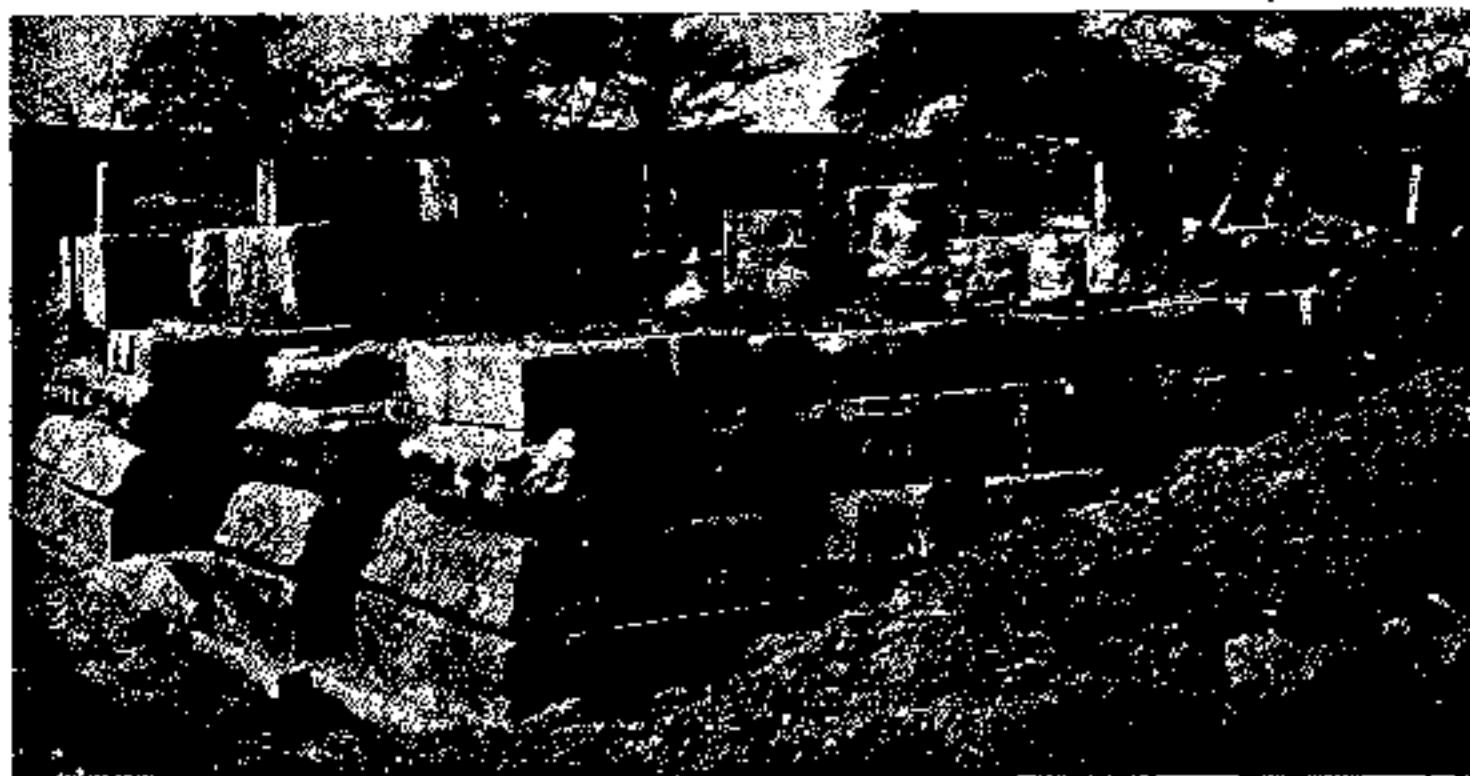
(क) शितलवासस — गुफा-मंदिर



(ख) तिरुप्परत्तिकुण्ठम् — चंद्रप्रभ-मंदिर



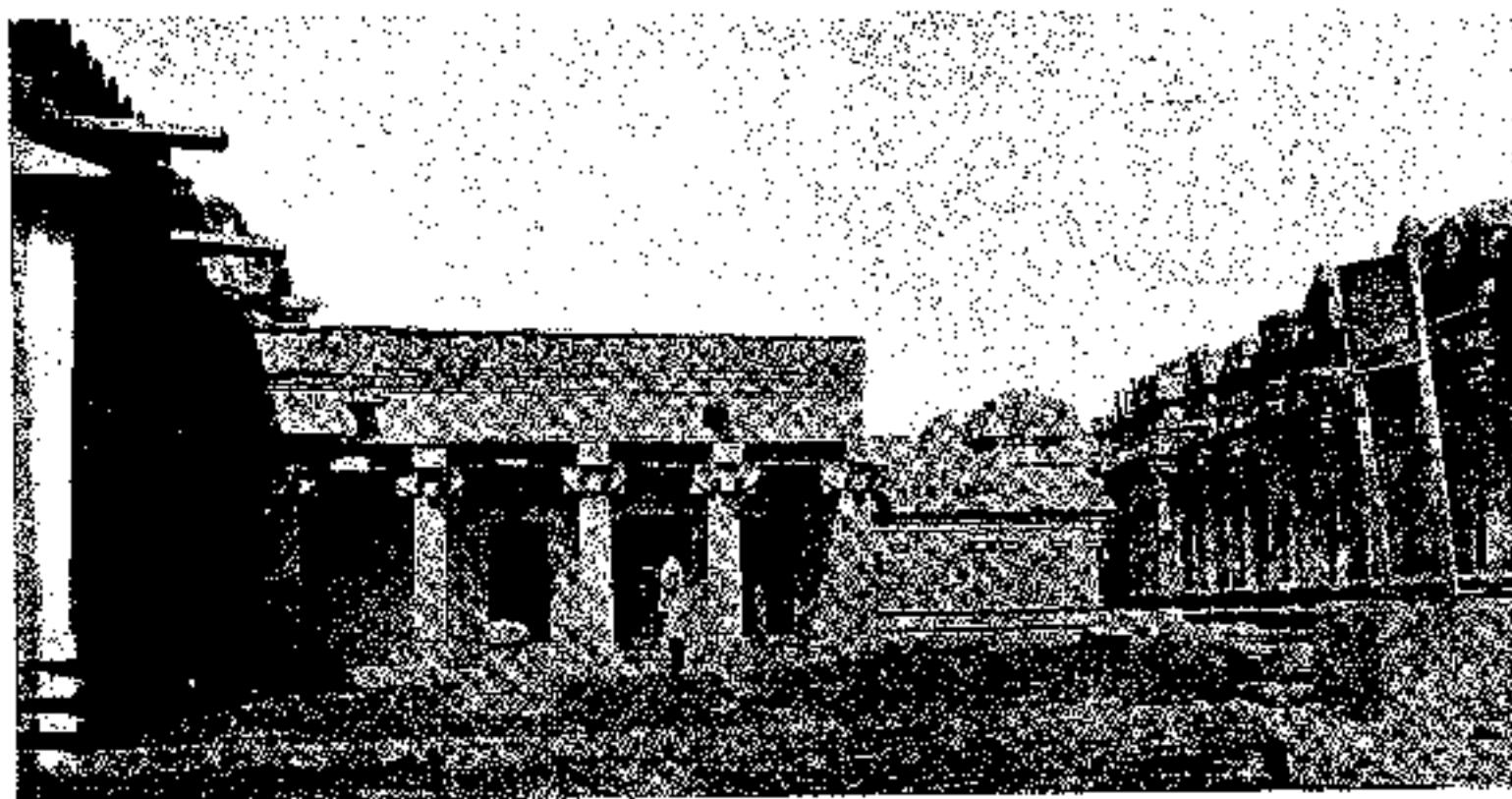
(क) तिरुपतिकुण्डम् — मंदिरों के विमान



(ख) चट्टीपट्टी — मन मंदिर और उसके अधिकार्य पर स्थापित सूतियाँ



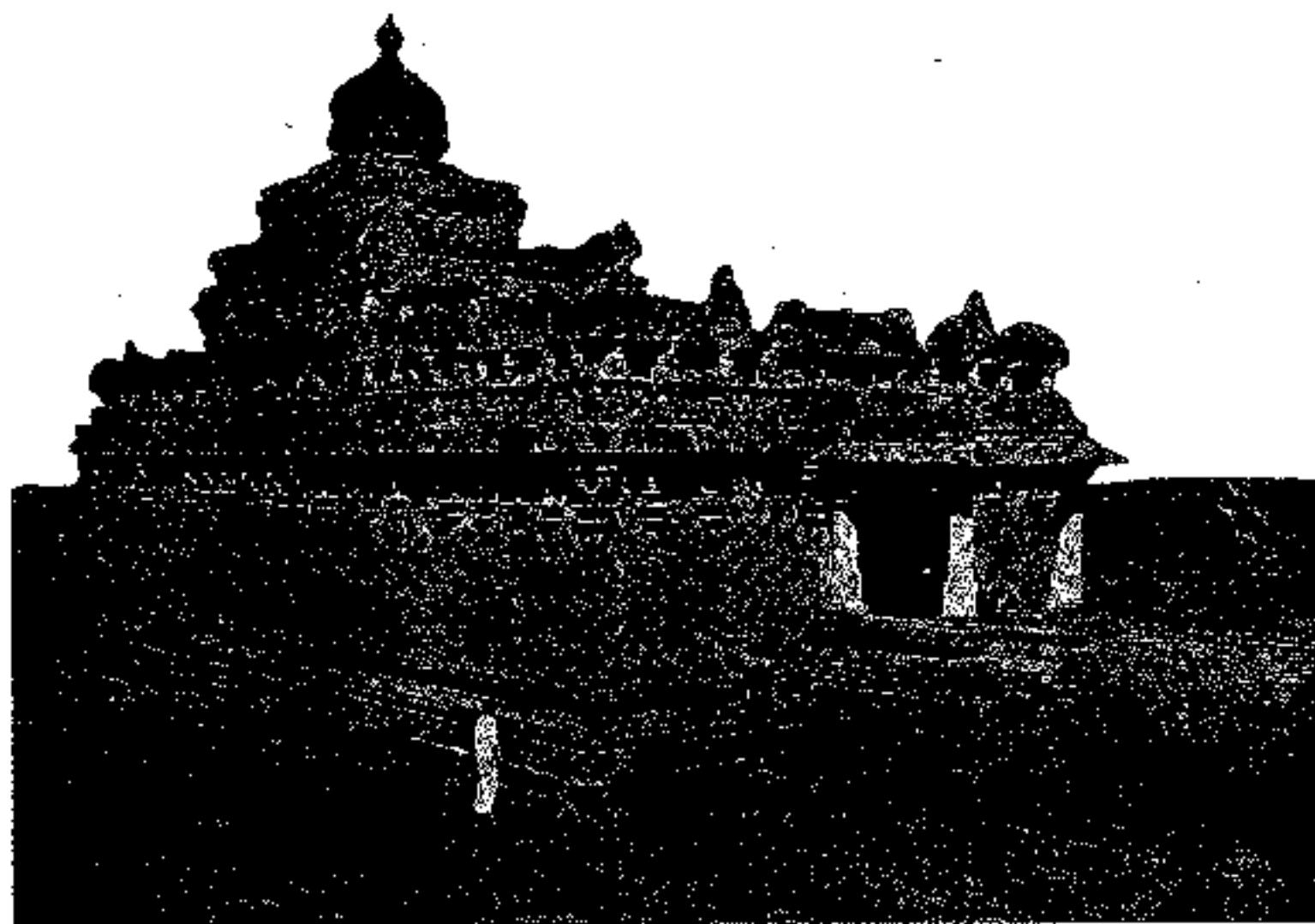
(क) सेंगदूर — गगन मंदिर और उसके अधिकार्य द्वारा स्थापित मूर्तियाँ



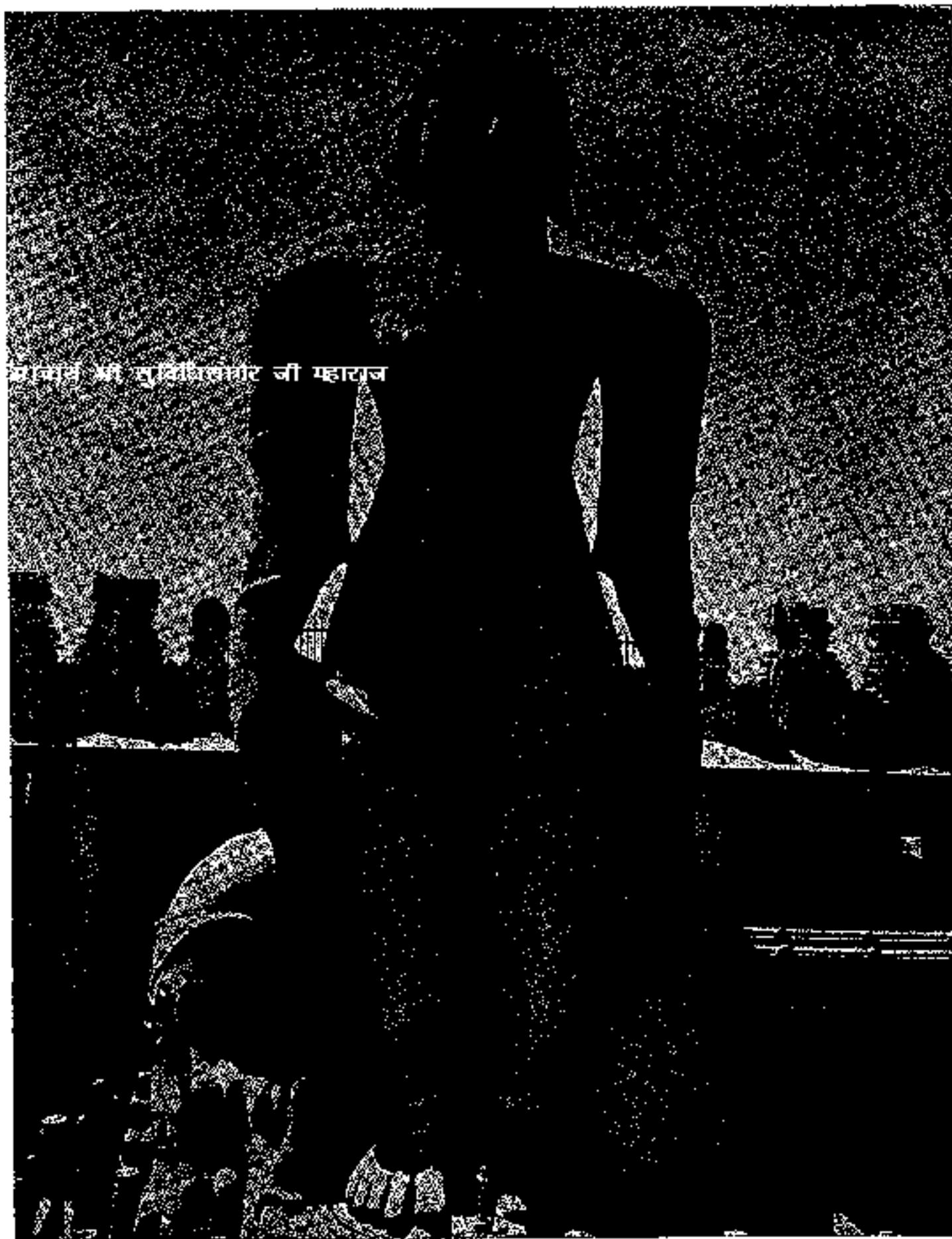
(ख) अबलुबेलयोला — चंद्रगुप्त वस्त्री का मंदिर-समूह



(क) कश्मेवहिनी (थवणवेलगोला) — पंचकूट-वर्ती



(ख) अदरणवेलगोला — बासुष्ठराय-वर्ती



श्रवणबेळगोला — गोमटेश्वर-मूर्ति



अदरावेलगोला ...— नोन्हटेश्वर-मूर्ति का शीर्ण



प्राचार्य श्री सुविद्यासागर जी महाराज

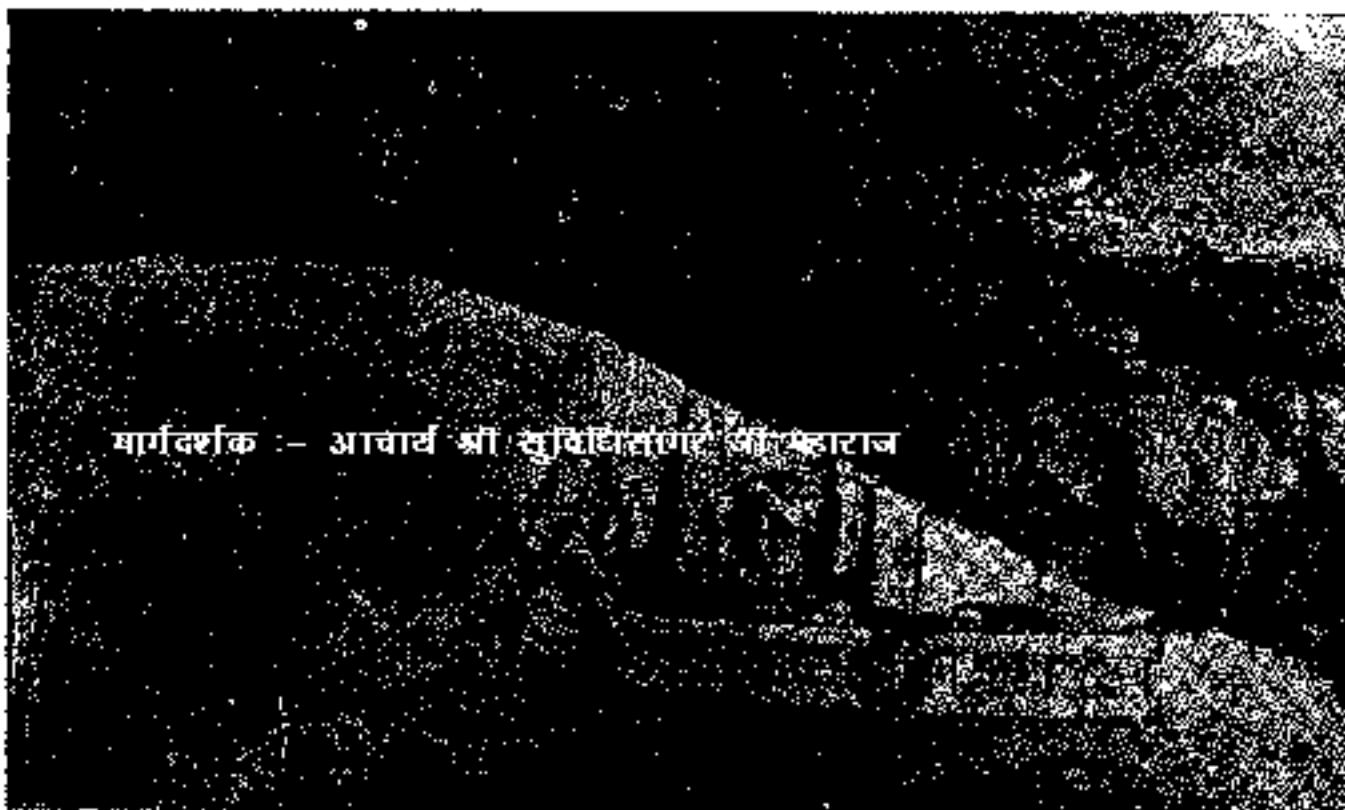
तिरुकोल — रामोस्त्रीयं तीर्थकर-मूर्तियाँ

बास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला 600 से 1000 ई०

[ भाग 4



शिल्पमण्डि — नेमिनाथ-मंदिर



(क) चलिमपल — तीर्थकर्ता और दक्षिणों की शैषोत्कीर्ण मूर्तियाँ

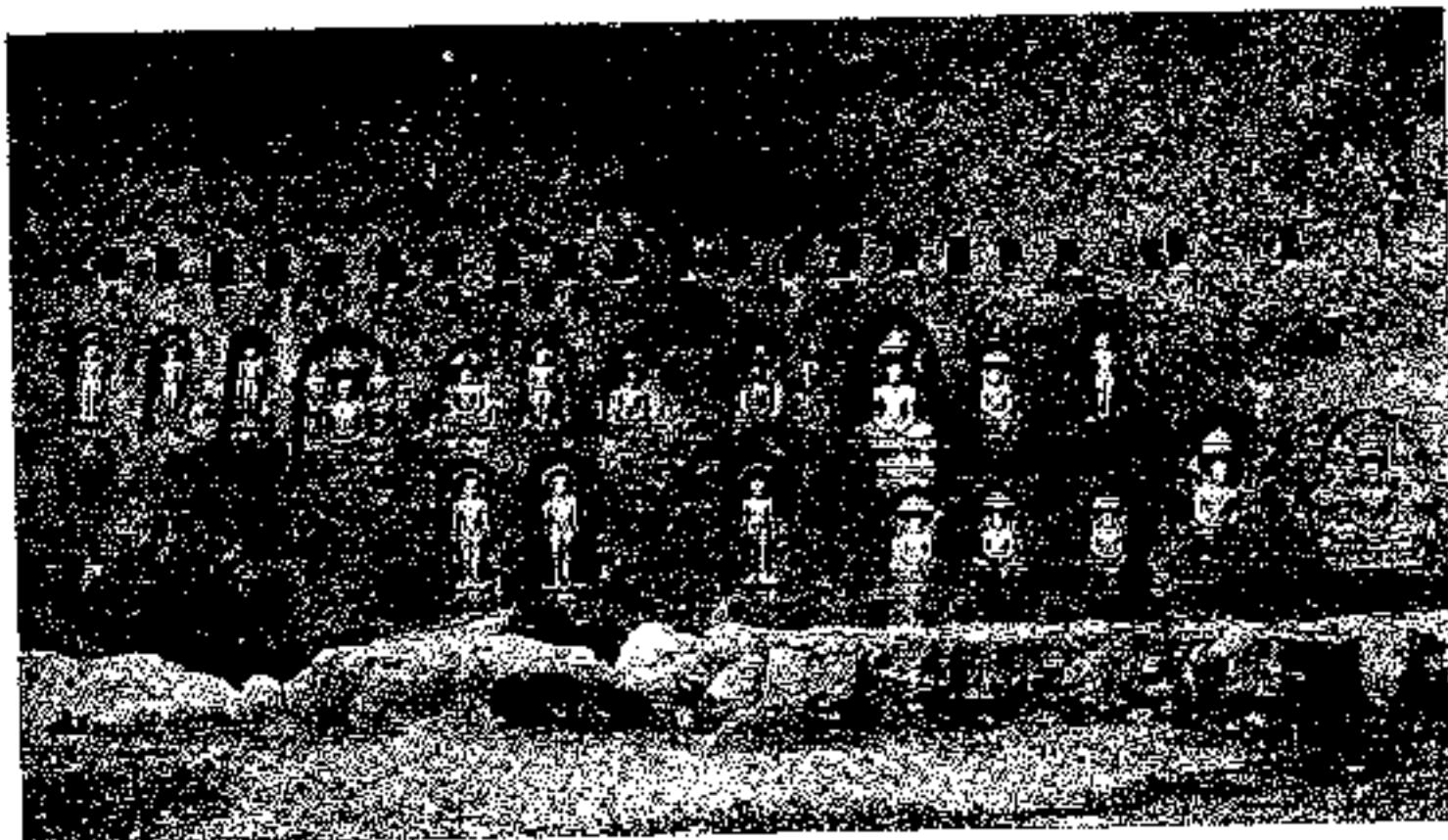


(ख) चिट्ठापुर — परिज्ञातिकार्यों-सहित काहुबली और तीर्थकर पाश्वनाथ की शैषोत्कीर्ण मूर्तियाँ

वास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला 600 से 1000 ई०



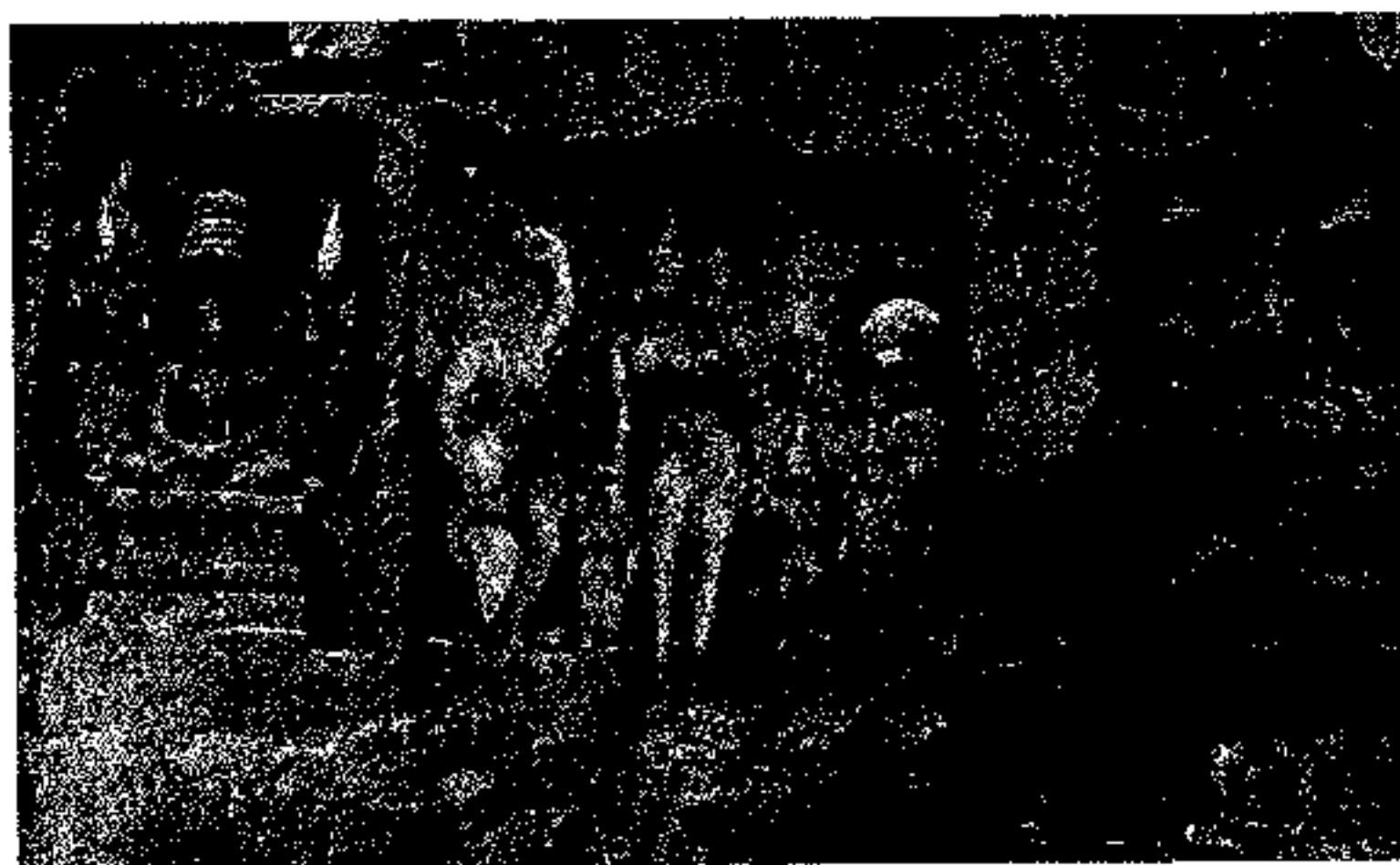
(क) चिट्ठाभूर — पक्षी-सहित भगवान् की बैलोत्कीर्ण मूर्ति



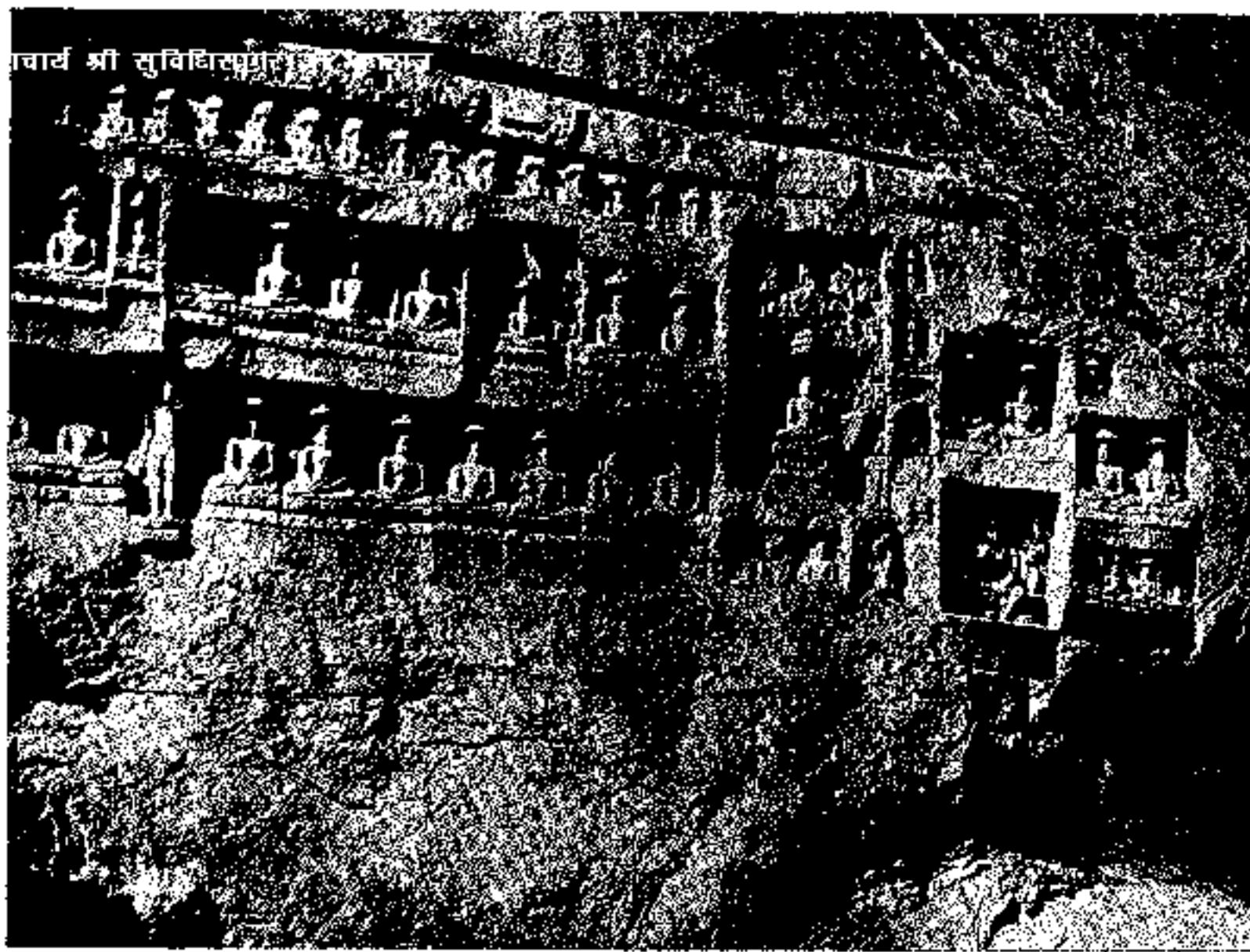
(ख) उत्तमपलेपम् — तीर्थंकरों की दंकितयन्त्र बैलोत्कीर्ण मूर्तियाँ



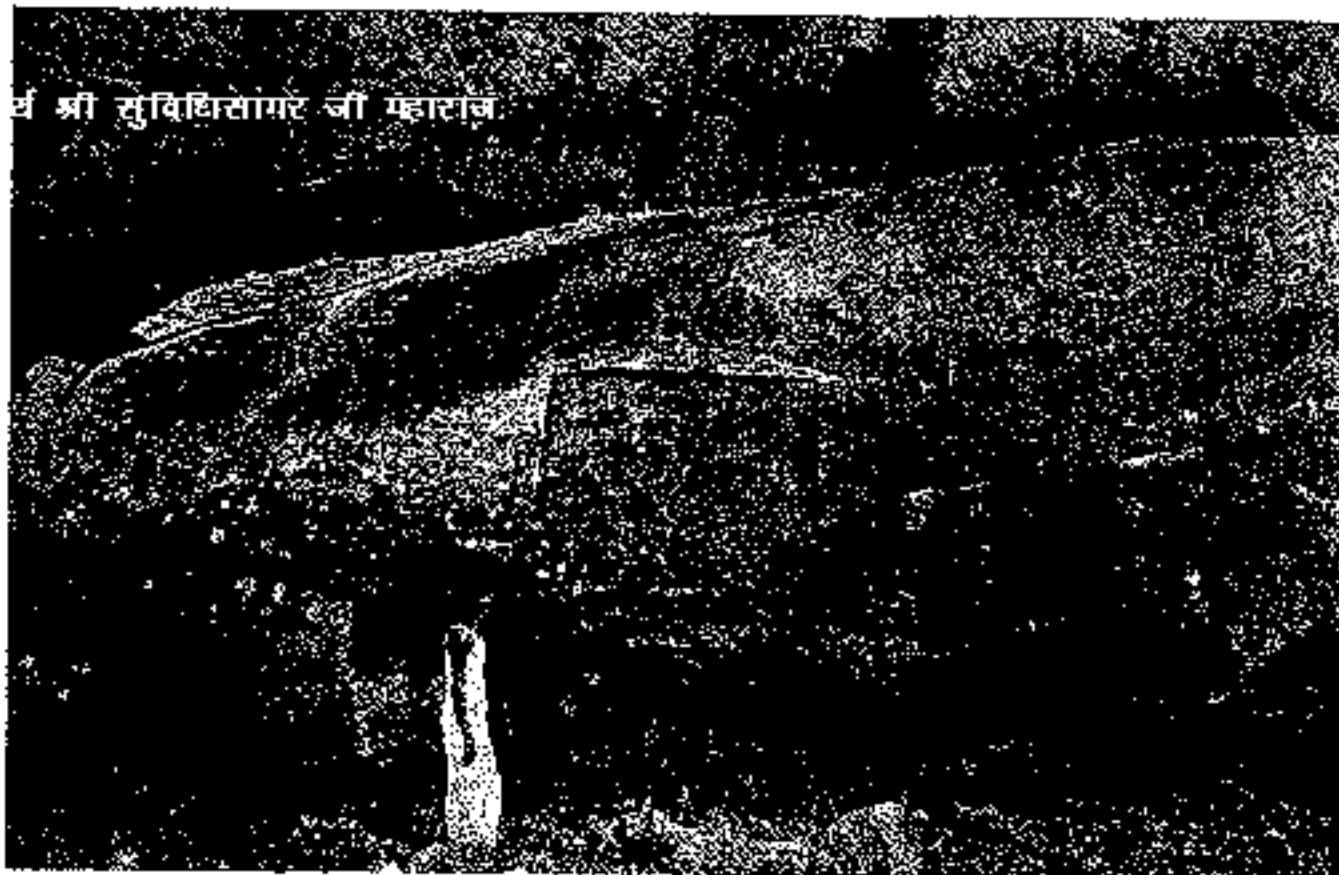
(क) कलुगुमलै — अनुजरो-सहित तीर्थकरों की शैलोत्कीर्ण मूर्तियाँ



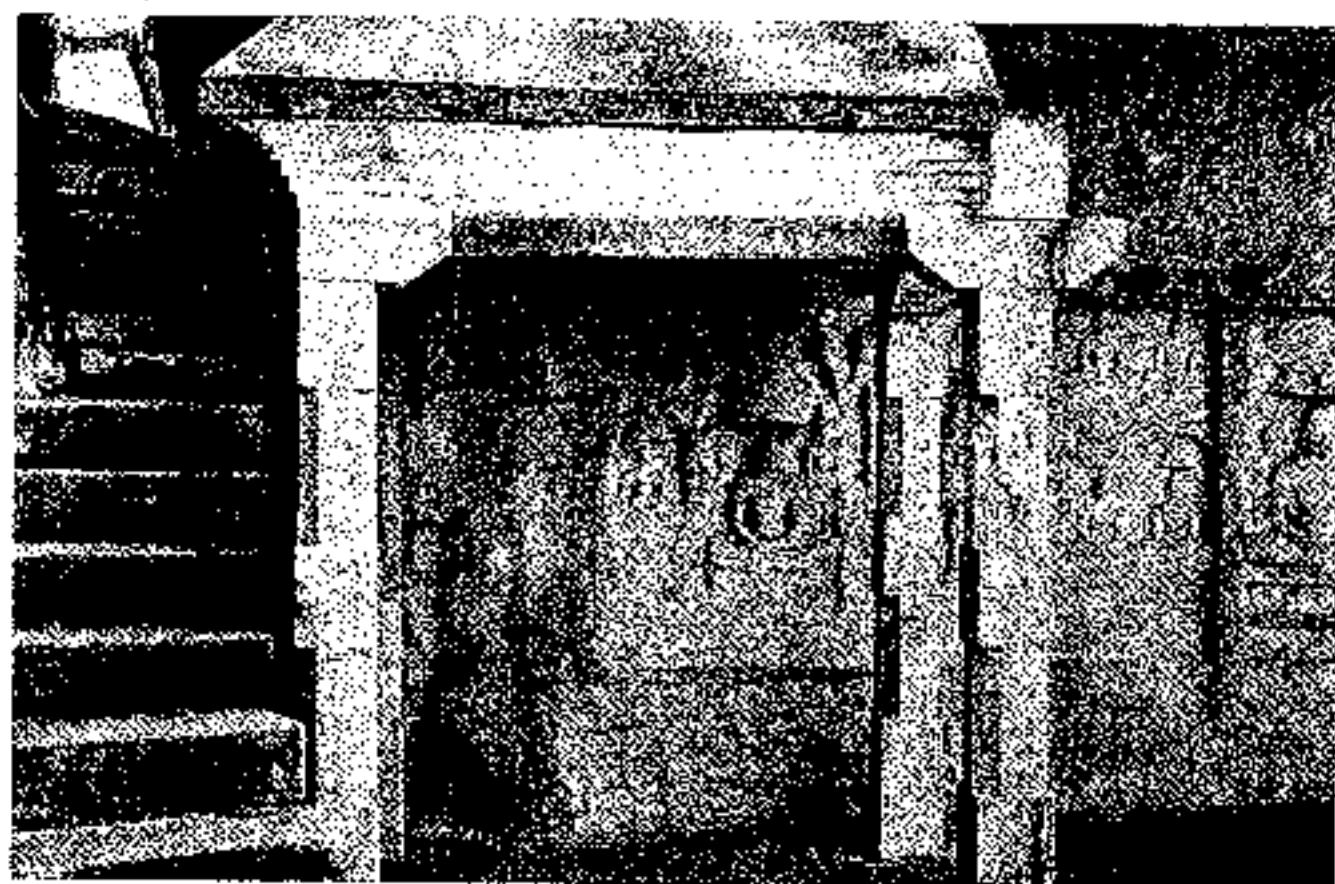
(ख) कलुगुमलै — यक्षी और तीर्थकरों की शैलोत्कीर्ण मूर्तियाँ



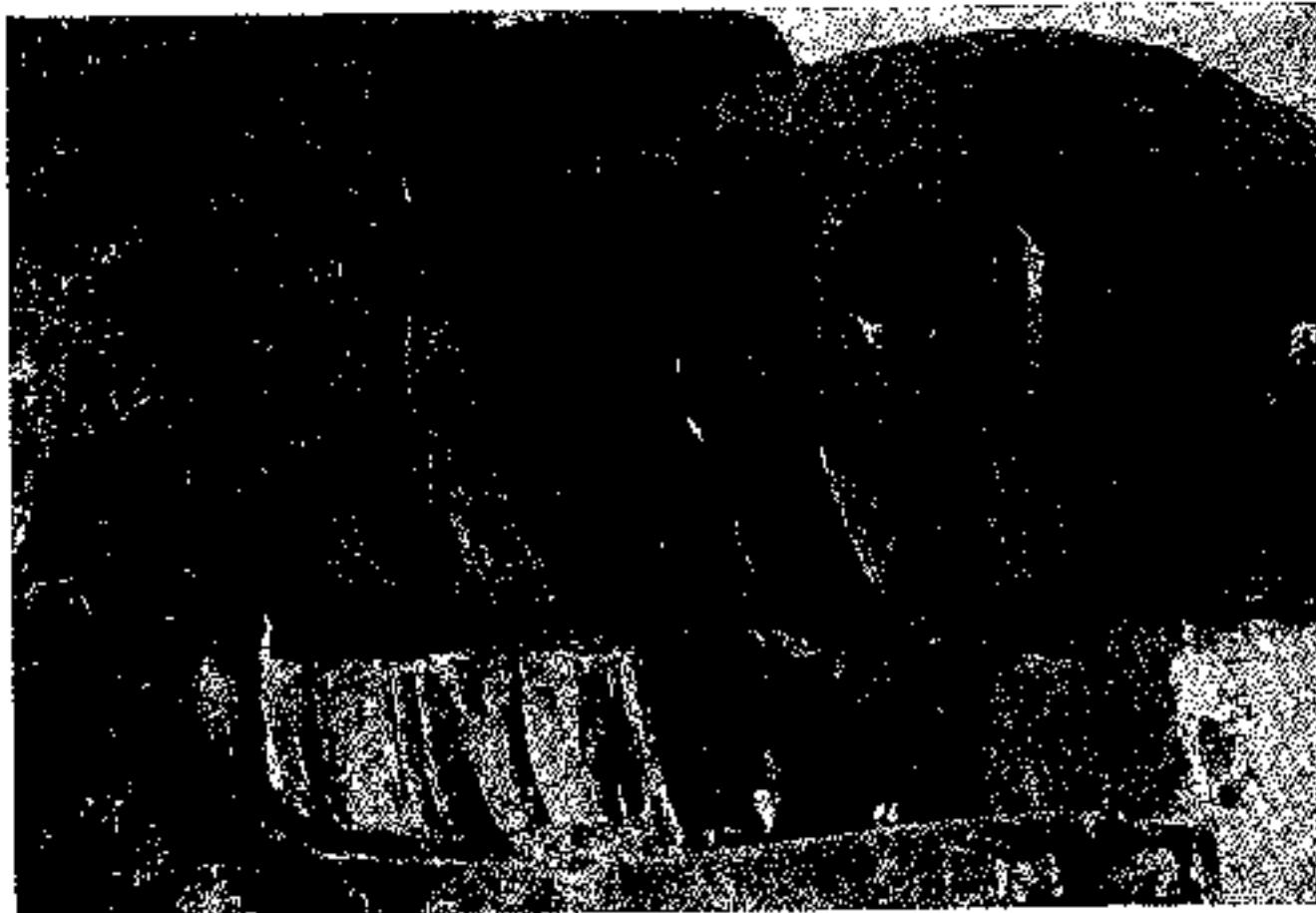
कल्याणमले — तीर्थकरों भी पर्कितवद् शैलोत्कीर्णं मूर्तियाँ



(क) चितराल — शैलाश्रव



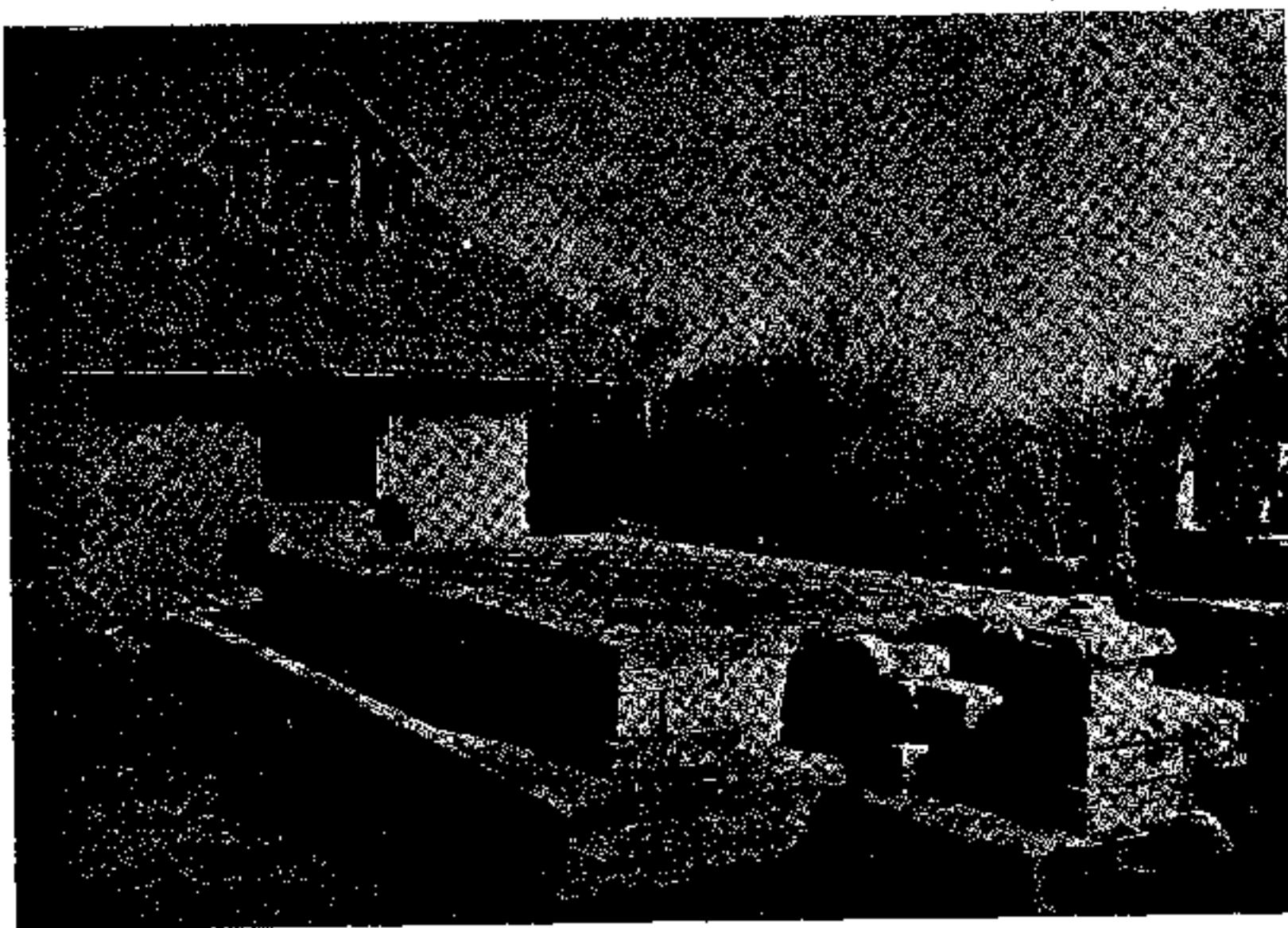
(ख) चितराल — तीर्थकरों की शैलोस्किप मूर्तिधरे



(क) कलिलल — शैलजम्बव



(ख) कलिलल — शैलजम्बव के समने का मंदिर



पालघाट — मंदिर और उसके सामने पूर्ववर्ती मंदिर का अधिष्ठान



पालबाट — तीर्थकर तथा अन्य मुहियो

मूर्ति है। स्तंभ पर उत्कीर्ण अभिलेख के अनुसार इसका निर्माण गंग नरेश भारसिंह की सन् ६७४ में हुई मृत्यु के स्मारक के रूप में किया गया।

### दक्षिण कर्नाटक और तमिलनाडु की मूर्तिकला

अवंणबेलगोला की इंद्रगिरि पहाड़ी पर गोमटेश्वर की विशाल प्रतिमा (चित्र १३१) मूर्तिकला में गंग राजाओं की और, वास्तव में, भारत के अन्य किसी भी राजवंश की महत्तम उपलब्धि है। पहाड़ी की १४० मीटर ऊँची चोटी पर स्थित यह मूर्ति चारों ओर से पर्याप्त दूरी से ही दिखाई देती है। इसे पहाड़ी की चोटी के ऊपर प्रक्षिप्त श्रेत्राइट की चट्टान को काटकर बनाया गया है जिसकी एकरूपता और पत्थर की सुंदर रवेदार उकेरने निश्चय ही मूर्तिकार को व्यापक रूप से संतुष्ट किया होगा। प्रतिमा के सिर से जांघों तक अंग-निर्माण के लिए चट्टान के अवाञ्छित अंशों को आगे, पीछे और पास्त्र से हटाने में कलाकार की प्रतिभा श्रेष्ठता की चरम सीमा पर जा पहुँची है। जांघों से नीचे के भाग, टांगे और पैर, उभार में उत्कीर्ण किये गये हैं, जबकि मूल चट्टान के पृष्ठभाग तथा पास्त्रभाग प्रतिमा को आधार प्रदान करने के लिए सुरक्षित रखे गये हैं। पास्त्र के शिलाखण्डों में चीटियों आदि की बौबियाँ अंकित की गयी हैं और कुच्छक में से कुक्कट-सर्पों अथवा कालपनिक सर्पों को निकलते हुए अंकित किया गया है। इसी प्रकार दोनों ही ओर से निकलती हुई माघवी लता को पाँव और जांघों से लिपटती और कंधों तक चढ़ती हुई अंकित किया गया है, जिनका अंत पुष्पों या वेरियों के गुच्छों के रूप में होता है। गोमट के चरण (प्रत्येक की माप २.७५ मीटर) जिस पादपीठ पर हैं वह पूर्ण विकसित कमल-रूप में है। खड़गासन-मुद्रा में गोमटेश्वर की इस विशाल वक्षयुक्त भव्य प्रतिमा के दोनों हाथ घुटनों तक लटके हुए हैं। दोनों हाथों के शैँगूठे भीतर की ओर मुड़े हुए हैं। सिर की रचना लगभग गोल है और ऊँचाई २.३ मीटर है (चित्र १३२)। वह अंकव किसी भी युग के सर्वोत्तम अंकनों में से एक है। नुकीली और संवेदनशील नाक, अर्धनिमीसित ध्यानमग्न नेत्र, सौम्य स्मित-ओष्ठ, किंचित् बाहर को निकली हुई ठोड़ी, सुपुष्ट गाल, पिण्डयुक्त कान, मस्तक तक छाये हुए चुंघराले केश आदि इन सभी से आकर्षक, वरन् देवास्तमक, मुखमण्डल का निर्माण हुआ है। आठ मीटर ऊँड़े बलिष्ठ कंधे, चक्राव-उतार रहित कुहनी और घुटनों के जोड़, संकीर्ण नितम्ब जिनकी ठोड़ाई सामने से तीन मीटर है और जो बेडौल और अत्यधिक गोल हैं, ऐसे प्रतीत होते हैं मानो मूर्ति को संतुलन प्रदान कर रहे हों, भीतर की ओर उरेखित नालीदार रीढ़, सुदृढ़ और अडिग चरण, सभी उचित अनुपात में, मूर्ति के अप्रतिम सौदर्य और जीवंतता को बढ़ाते हैं, साथ ही वे जैन मूर्तिकला की उन प्रथमित परंपराओं की ओर भी संकेत करते हैं जिनका दैहिक प्रस्तुति से कोई संबंध न था—कदाचित् तीर्थकर या साधु के अलौकिक व्यक्तित्व के कारण, जिनके लिए मात्र भौतिक जगत् का कोई अस्तित्व नहीं। केवली के हारा त्याग की परिपूर्णता-सूचक प्रतिमा की निरावरणता, दृढ़ निश्चयात्मकता एवं आत्मनियंत्रण की परिचायक खड़गासन-मुद्रा और व्यानमग्न होते हुए भी मुखमण्डल पर झलकती स्मिति के अंकन में मूर्तिकार की महत् परिकल्पना और उसके कलान्कोशल के वर्णन होते हैं। सिर और मुखाकृति के अतिरिक्त, हाथों, ऊँगलियों, नखों, पैरों तथा एड़ियों का अंकन इस कठोर दुर्गम चट्टान पर जिस दक्षता के साथ किया गया है, वह आश्चर्य की बस्तु है। संपूर्ण प्रतिमा को वास्तव

में पहाड़ी की ऊँचाई और उसके आकार-प्रकार ने संतुलित किया है तथा परंपरागत मान्यता के अनुसार जिल पहाड़ी चोटी पर बाहुबली ने तपश्चरण किया था वह पीछे की ओर अवस्थित है और आज भी इस विशाल प्रतिमा को पीरों और पाश्वों के निकट आधार प्रदान किये हुए है, अन्यथा यह प्रतिमा और भी ऊँची होती। जैसाकि फर्यूँसन ने कहा है : 'इससे महान् और प्रभावशाली रचना मिश्र से बाहर कहीं भी अस्तित्व में नहीं है और वही भी कोई ज्ञात प्रतिमा इसकी ऊँचाई को पार नहीं कर सकती है।'<sup>1</sup> मिश्र की विशाल प्रतिमाओं में रमजेस की मूर्ति तथा अफगानिस्तान में बामियान पर्वतशृंगों के अग्रभागों पर उत्कीर्ण महान् बुद्ध की प्रतिमाएँ सर्वोत्तम शिल्पांकन हैं जबकि गोमटेश्वर-मूर्ति छुटनों से ऊपर की ऊँचाई में गोलाकार है और उसका पृष्ठभाग अग्रभाग के समान सुरचित है।

इसके अतिरिक्त है समूचे शरीर पर दर्पण की भाँति चमकती पालिश, जिससे भूरे-खेत फ्रेनाइट प्रस्तर के दाने भव्य हो उठे हैं; और भव्य हो उठी है इसमें निहित सहस्र वर्ष से भी अधिक समय से विस्तृत अथवा नष्टप्राय वह कला जिसे सज्जाद् अशोक और उसके प्रणीत दशरथ के शिल्पयों ने उत्तर भारत में यथा के निकट वरावर और नागार्जुनी पहाड़ियों की आजीविक गुफाओं के सुविस्तृत अंतःभागों की पालिश के लिए अपनाया था। ऊंचे पहाड़ी शिखर पर खुले आकाश में स्थित प्रतिमा को धूप, ताप, शीत, वर्षा धर्षणकारी धूल और वर्षा भरी वायु के अपेक्षाओं से बचाने में इस पालिश ने रक्षाकावच का कार्य किया है। यह ऐसा तथ्य है जिसे इस प्रतिमा के निर्माताओं ने भली-भाँति समझ लिया था। एलोरा और अन्य स्थानों की गोमट-प्रतिमाओं से भिन्न, इस मूर्ति की देह के चारों ओर सपिल लताएँ बड़े ही नियंत्रित कौशल के द्वारा अंदर से दूरी हैं और उन्में चलनव एक दूसरे से उचित आनुपातिक दूरी पर इस प्रकार अंकित किये गये हैं कि उनसे प्रतिमा की भव्यता कम न हो।

कन्टटिक प्रदेश के कार्कल (१३४२ ई०), वेणूर (१६०४ ई०) और बगलौर के निकटवर्ती एक स्थान (गोमटगिरि) की तीन परवर्ती गोमट-प्रतिमाओं का इस मूर्ति के शिल्प-सौदर्य या आकार से कोई साम्य नहीं है। शरीर के सत्तमान्य आकार के अनुपात में घुटनों से नीचे टाँगों का उचित माप में अंकन, छूट है जो मूल चट्टान के माप के अनुसार किया यथा प्रतीत होता है, पार्श्ववर्ती शिल्प और उसपर अंकित चीटियों की बांधियों, सपों और लताओं की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट है। मूर्ति के शरीरांगों के अनुपात के ब्यान में मूर्तिकार पहाड़ी-चोटी पर तिरावृत मूर्ति की असाधारण स्थिति से भली-भाँति परिचित था। यह स्थिति उस अण्डाकार पहाड़ी की थी जो मीलों विस्तृत प्राकृतिक दृश्यावली से घिरी थी। मूर्ति वास्तविक अर्थ में दियंबर होनी थी, अर्थात् खुला आकाश ही उसका वितान और दस्ता-भरण होने थे। मूर्तिकार की इस निस्सीम व्योम-वितान के नीचे अवस्थित कलाकृति को स्पष्ट रूप से इस पृष्ठभूमि के अंतर्गत देखना होगा और वह भी दूरवर्ती किसी ऐसे कोण से जहाँ से समग्र आकृति

1. फर्यूँसन (जेम्स). हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एवं इस्लाम इतिहास भारतियेत्तर. 1910. लंदन. प. 72.

दर्शक की दृष्टि-सीमा में समाहित हो सके। ऐसे कोण से देखने पर ही शारीरांगों के उचित अनुपात और कलाकृति की उत्कृष्टता का अनुभव हो सकता है।

आधार के दोनों पाश्व के प्रस्तार-झण्डों पर उत्कीर्ण तमिल-श्रंथ, नागरी (प्राचीन मराठी) और कन्नड़—तीन लिपियों के अभिलेखों और अन्यत्र उपलब्ध अभिलेखों से ज्ञात होता है कि गोम्म-टेश्वर का निमणि गंग नरेश राजमल्ल सत्यवाक्य अथवा राजमल्ल (१७४-१८४ ई०) के मंत्री चामुण्डराय ने सन् १७८ (चामुण्डराय कृत चामुण्डराय-मुराण की रचना-तिथि जिसमें इस महान् उपलब्धि का उल्लेख नहीं है) के उपरांत कभी कराया था। वैसे इस प्रतिमा की निर्माण-तिथि १८३ ई० मल्ली जाती है, यद्यपि अनेक साहित्यिक संदर्भों के आधार पर उसकी पारंपरिक प्रतिष्ठान-तिथि कालचक्रीय विभव वर्ष में चैत्र शुक्ल पंचमी, रविवार, है जो लगभग १०२८ ई० के बराबर होती है। आवार पर उत्कीर्ण एक अभिलेख में भी उल्लेख है कि मूर्ति के चारों ओर छाँबीस तीर्थकरों के मंदिरों के साथ शुक्ल अथवा स्तंभीय चैत्यवास का निमणि होयसल-नरेश विष्णुवर्धन के सेनापति गंगराज ने करवाया था। इस प्रकार, प्रतिमा के पीछे समतल-वितानयुक्त मण्डप के कुछ भाग के निर्माण के लिए, पाश्व आधारीय शिला के एक बड़े भाग के शीर्ष को, जो बहुतल मण्डप के अंतरिम पाश्व के रूप में है, काटना पड़ा। मण्डप अंततः विशाल प्रतिमा का प्रमुख आधार बन गया।

गंग नरेशों की एक अन्य महत्वपूर्ण कृति गोम्मटेश्वर बाहुबली के भाई भरतेश्वर की मूर्ति है जो उनके पूर्वाश्रम की स्थिति की है। यह बृटनों से नीचे टूटी हुई है और लगभग उपेक्षित दशा में लड़ी है। विद्यमान प्रतिमा समर्थन-मुद्रा में लगभग तीन मीटर ऊँची है। ललित समानुपात में, इसे भी चंद्रगिरि पहाड़ी के परिसर के पश्चिमी भाग में एक स्थान पर पड़े हुए विशाल शिलालङ्घ को काटकर बनाया गया है। किन्तु दुर्भाग्य से इसके चारों ओर उन पत्थरों के ढेर लग गये हैं जो दर्शनार्थियों द्वारा प्रत्यावर्तित संगीतात्मक इवनि सुनने के लिए फेंके गये।

अनेक प्राकृतिक गुफाओं या शैलाश्रयों, परनालों, पालिशदार शृण्याओं तथा तमिल-बाह्यी अभिलेखों<sup>1</sup> से युक्त पहाड़ियों के अतिरिक्त यहाँ जैन आवास के द्वितीय या परवर्ती चरण की ओर भी अनेक कृतियाँ हैं जो दक्षिण केरल और तमिलनाडु के जिलों में प्रायः सर्वत्र उपलब्ध हैं। तमिल-बाह्यी अभिलेखों के अभाव में उनमें अधिकांशतः तमिल लिपि और भाषा के अभिलेख अन्य संगतियों के साथ हैं, जिनमें बहुधा जैन प्रतिभाएँ या तो शिलामुखों पर उत्कीर्ण प्रतिमाओं के रूप में हैं या फिर पृथक् उथले उरेखन के रूप में। उनमें से कुछ में आंतरिक परिवर्धन दिखाई पड़ता है, मथा—छत की तोरणाकार रचना और ईट-निर्मितियों के अवशेष। चित्रांकन भी द्रष्टव्य है। इस प्रकार के आवास और पुनः उपयोग के साक्ष्य परवर्ती चरण की पूर्वकालिक गुफाओं और शैलाश्रयों में भी पाये जाते हैं, जो परवर्ती काल तक उनके निरंतर प्रयोग की युग्मि करते हैं।

1. [बाह्यी अभिलेखों और शैलोत्कीर्ण शृण्याओं से युक्त प्रारंभिक प्राकृतिक गुफाओं के लिए इष्टङ्ग । अध्याय 9 —संपादक.]

चिंगलपट जिले के ओरंडकम भाग की पंचपाष्ठवमलै पहाड़ी की शील-शथ्याओं से युक्त प्राकृतिक गुफाओं में हाल ही में इसी प्रकार के जैन अधिष्ठान मिले हैं।<sup>1</sup> उनमें से एक के समीप आदिनाथ की प्रतिमाएँ मिली हैं। आदिनाथ, पार्वनाथ और महावीर के शिल्पांकनों को शिला-मुख पर ही उत्कीर्ण किया गया है जबकि पार्वनाथ की मूर्ति पूर्णकार मंदिर-मुख के भीतर उसी प्रकार अंकित है जैसे महाबलीपुरम<sup>2</sup> में अर्जुन के तपश्चरण के भव्य दृश्य में विष्णु को खड़ी मुद्रा में अंकित किया गया है। इसके पार्व में उत्कीर्ण ग्रन्थ और तमिल के अभिलेखों में उल्लेख है कि तेवारम (भीतर अंकित देवमूर्ति के साथ मंदिर) का निर्माण चतुर्विंशति के निमित्ता जैनाचार्य वसुदेव सिद्धांत-भटार ने करवाया था। पर्याप्त गहरा देवकोष्ठ, वास्तुपरक अभिरचना को भली-भर्ति प्रस्तुत करता है। इसमें पार्वनाथ की एक कायोत्सर्ग-प्रतिमा प्रतिष्ठापित है जिसका शीर्ष पंचफण-तार-छत्र से आच्छादित है। वास्तुपरक रूप-प्रकार, प्रतिमाएँ और संबद्ध अभिलेखों की पुरालिपि के अनुसार अन्य दो प्रतिमाओं की निर्माण-तिथि सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध अथवा आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध निर्माणित की जा सकती है; अर्थात् यह तीनों पल्लव कृतियाँ हैं। आदिनाथ को सभपर्यक (पद्मासन) ध्यान-मुद्रा में अंकित किया गया है। सिर के ऊपर किरण रुदा छोटीं दाढ़ीों में उड़ते हुए विद्याधर तथा चमरधारी अंकित हैं। महावीर की प्रतिमा भी इसी मुद्रा में अंकित की गयी है। प्राकृतिक गुफाओं के निकटवर्ती शिलाखण्डों पर, जो प्रायः सर्वत्र उपलब्ध हैं, इसी प्रकार के उथले उरेखन हैं, किन्तु पार्वनाथ की मूर्ति से सुशोभित मंदिर का शिल्पांकन अद्वितीय है।

उत्तर अकाट जिले के विलप्पकम में पंचपाष्ठवमलै अथवा तिर्ह्यानमलै में जैन संरचनाओं से युक्त एक प्राकृतिक गुफा है। इसमें एक तिर्यक् भित्ति के निर्माण के फलस्वरूप एक ओर गिरिताल बन गया है और दूसरा भाग अब मुस्लिम दरगाह के रूप में है। इनमें सर्वाधिक आकर्षक तो आठवीं से न्याहरवीं शताब्दियों तक की पल्लव-चोल प्रतिमाएँ और अभिलेख हैं। इनमें वक्षी की एक प्रतिमा उल्लेखनीय कलाकृति है। यहाँ एक तीर्थकर-मूर्ति शिल्पांकित है जिसके तीने चोल-राजचिह्न चौता अंकित है। पहाड़ी के निचले पूर्वी भाग पर एक विशाल शैलोत्कर्ण गुफा-मंदिर है। यद्यपि यह अनेक दृष्टियों से अपूर्ण है फिर भी अपने भारी अनगढ़ स्तंभों, पलस्तर की हुई भित्तियों और छतों से युक्त जैन मंदिर के रूप में प्रयुक्त हो रहा है। इसके अग्रभाग में छह स्तंभ और दोनों छोरों पर दो भित्ति-स्तंभ हैं। मण्डप के भीतर इन्हीं के अनुरूप स्तंभ निर्मित हैं जो इसे कमण्डः चौड़े तथा संकीर्ण अंतः एवं बाह्य भागों में विभाजित करते हैं। पृष्ठभित्ति में सात देवकुलिकाएँ हैं जो सभी रिक्त हैं। गुफा-मंदिर के अग्रभाग के परनाले के निकट केंद्र में एक तीर्थकर-मूर्ति सिद्धासन-मुद्रा में अंकित है।<sup>3</sup> यह जैन अजिकाओं का एक विशाल केंद्र था। इन अजिकाओं में तिर्ह्यानमलै के

1 चम्पकलक्ष्मी (आर). एन बनोटिस्ड जैन कैवर्ण निवार मदुरांतकम, जैनल ऑफ द विद्यास यूनिवर्सिटी, 41, 1-2; 1969, पृ 11-13.

2 श्री निवासन (के आर). पल्लव श्राकिटेक्चर ऑफ सार्व इण्डिया, एंडियेण्ट इण्डिया, 14; पृ 129, चित्र 17.

3 श्रीनिवासन (के आर). केल टेम्पल्स ऑफ द पल्लवाज. श्राकिटेक्चरल सर्केश श्राक टेम्पल्स, 1. 1964. आर्क दॉलो-जिकल सर्वे श्राक इण्डिया, नई दिल्ली, पृ 94-98.

अरिष्टनेमि-भट्टार की शिष्या पस्तिनिककुरच्चि को चोल नरेश परांतक-प्रथम के शासनकाल में कुछ सहस्रव ग्राप्त था। ६४५ ई० के एक अभिलेख से इस तथ्य की पुष्टि होती है।

उत्तर अकाट जिले के तिरकोल में एक महत्वपूर्ण शिलाखण्ड है जिसपर जैन मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं (चित्र १३३)। इसी जिले में अमरीमिलै में खण्डित जैन प्रतिमाएँ और गुफा के भीतर की परयली भित्तियों के साथ भिले हैं। विशालाकार अमरीमिलै गुफा को ईटों से त्रिकूट-शैली के तीन गर्भगृहों वाले जैन मंदिर का रूप दिया गया। खण्डित प्रतिमाओं के अवशेषों में शिलापट्टों पर उत्कीर्ण दो द्वारपालों के उथले उरेखन हैं। यह और इनके साथ के दो अन्य शिलापट्ट हैं जिनके एक और कमल-प्रतीकों का अंकन है और कुछ खण्डित भित्ति-स्तंभ हैं। मात्र यही मूर्ति एवं वास्तु-कला के अलंकरण के अवशेष बचे हैं। कमल-प्रतीकांकित शिलापट्ट के केंद्र में एक चूल है जिससे यह संकेत मिलता है कि यह शिलापट्ट काष्ठ के स्तंभाधार के रूप में, संभवतः मान-स्तंभ या ध्वज-स्तंभ के रूप में, प्रयुक्त होता रहा है। दो द्वारपाल कदाचित् चमड़ और मंचण्ड की मूर्तियाँ हैं। द्वारपालों के निम्न-उद्भूतों की रूप-रेखा और शैली, पल्लव की अपेक्षा राष्ट्रकूट-नांग कला की अधिक सजातीय प्रतीत होती है। वस्तुतः त्रिकूट का मध्यवर्ती गर्भगृह पार्श्ववर्ती गर्भगृहों की अपेक्षा अधिक विशाल है। इससे विद्यत होता है कि त्रिकूट मध्यवर्ती गर्भगृह में प्रतिष्ठायित भुख्य प्रतिमा को समर्पित है, जबकि पार्श्ववर्ती गर्भगृहों में संभवतः अन्य तीर्थकरों की मूर्तियाँ या चूने द्वारा निर्मित यक्ष-यक्षी रहे हों। इसकी भित्तियों और पलस्तर की गयी छत पर मनोहारी भित्ति-चित्रों के अवशेष हैं। मंदिर और इसकी प्रतिमाओं एवं भित्ति-चित्रों के निर्माण का समय नींवी शताब्दी का उत्तरार्ध और दसवीं शताब्दी का प्रथमांश संभावित है, जैसाकि इसके चित्रांकनों से प्रतीत होता है, जो एलोरा की राष्ट्रकूट-शैली के अनुरूप हैं। ऐसा ही संकेत चोल-लिपि में लगभग दसवीं शताब्दी के एक लघु अभिलेख से मिलता है।

इसी प्रकार इसी जिले में तिरुमले के प्रव्यात जैन केंद्र में, जिसे शिलालेखों में 'वैकावूर कहा गया है, पहाड़ी पर जैन मंदिर-समूह (चित्र १३४) है जो प्राकृतिक गुफा के भीतर और बाहर निर्मित है तथा भल्लिनाथ और नेमिनाथ को समर्पित है। यहाँ की कूषमाणिङ्गनी और धर्मा देवी-यक्षियाँ तथा पाइवनाथ की सुंदर प्रतिमाएँ तथा यहाँ के चित्रांकन विशेष उल्लेखनीय हैं। शिल्पांकनों की शैली आज चोल-प्रतिमाओं के अनुरूप है, जबकि ग्याहरवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के समकालीन चित्रांकन अत्यधिक परंपरागत हैं<sup>1</sup>, जैसे जैन चित्रांकन प्रायः होते हैं। यहाँ भी राष्ट्रकूट नरेश कुष्ण-तृतीय के राज्यकाल के उन्नीसवें वर्ष (६३७-३८ ई०) और पूर्ववर्ती चोल नरेश परांतक-प्रथम के ६१२-१३ ई० के शिलालेख मिले हैं।

उत्तर अकाट जिले में वल्लमले भी प्राकृतिक गुफाओं और शैलोत्कीर्ण जैन मूर्तियों से समृद्ध है (चित्र १३५ क)। इनमें से एक गुफा वर्तमान सुख्खाण्ड-मंदिर-समूह के गर्भगृह के रूप में है किन्तु आज भी ऊपर लटकी हुई छटान के ललाट पर उत्कीर्ण तीर्थकर-मूर्ति स्पष्ट दिखाई देती है। यहाँ

। [द्रष्टव्य : अध्याय 30—संपादक.]

उत्कीर्ण एक शिलालेख के अनुसार यहाँ के एक मंदिर का शिलान्वास पश्चिमी गंग नरेश राजमल्ल-प्रथम के द्वारा हुआ था। यहाँ की प्रतिमाएँ पल्लवों की अपेक्षा गंग-शैली की अधिक सजातीय हैं। एक शुक्ल में युगल तीर्थकर-प्रतिमा सिहासन पर पद्मासन-मुद्रा में आसीन हैं और ऊपर दो चमरधारियों की लघु आङ्गूष्ठियाँ हैं। तीर्थकर-युगल के पार्वत में सिंह पर आरूढ़ अंबिका और दायें पार्वती में हाथी पर आरूढ़ उद्धारामला को अंकित किया गया है। अन्य शिल्पांकनों में अग्रलिखित सम्मिलित हैं: चौकोर देवकुलिका में उत्कीर्ण वर्धमान प्रतिमा; एक लघु देवकुलिका में कायोत्सर्ग-मुद्रा या प्रसिमा-योग में अंकित गोम्यट की लघु मूर्ति; नागचूड़ के नीचे आसनस्थ पार्श्वनाथ की चार प्रतिमाएँ; दो यक्षियाँ, जिनमें से बृहत्तर मूर्ति पद्मावती की है और एक गजारूढ़ यक्ष; एक पंक्ति में पाँच आसनस्थ तीर्थकर जिनके पादपीठ पर अभिलेख हैं; तीन फलकों में से एक में यक्षी अंबिका, दूसरी में त्रिछन्द के नीचे आसनस्थ वर्धमान जिनके आसन पर दो चमरधारी अनुचर तथा ऊपर उड़ते हुए दो विद्याधर और उनके ऊपर अष्टमंगल द्रव्य हैं तथा तीसरी फलक में त्रिछन्द और नागकण से आच्छादित पार्श्वनाथ की कायोत्सर्ग प्रतिमा; ये सभी मकर-तोरण तिहवाचि के भीतर अंकित हैं। इस शृंखला की सर्वोत्कृष्ट मूर्ति स्थानीय लोगों द्वारा बलिका की मूर्ति बतायी जाती है। यह आकर्षक त्रिभंग-मुद्रा में झुकी हुई नारी की मूर्ति है जो पाँच तक आघरा पहने खड़ी है। कटि में धाघरे के ऊपर मेखला है। गले में गुलूबंद और हार धारण किये हैं जो उसके स्तनों के बीच लटक रहा है। उसकी केश-सज्जा में सिर पर षम्मिल जूँड़ा है। उसका दाहिना हाथ कटक-जैसी मुद्रा में है जबकि बायें हाथ को वह ऐसे उठाये हैं जैसे उसमें प्याले-जैसी कोई वस्तु पकड़े हो।

दक्षिण ब्राक्टि जिले में चित्तामूर स्थान में कुछ महत्वपूर्ण जैन शैलोत्कीर्ण प्रतिमाओं का समूह नौवीं-दसवीं शताब्दियों के लगभग का है, जिसके चारों ओर चौलकालीन मध्य और अंतिम चरण के निमित्त मंदिर हैं। इन प्रतिमाओं में बाहुबली, अनुचरों सहित पार्श्वनाथ (चित्र १३५ ल) और यक्षी सिद्धायिका सहित भहावीर (चित्र १३६ क) की प्रतिमाएँ उल्लेखनीय हैं। चित्तामूर तमिल जैनों के एक मठ का प्रमुख केंद्र है।

पहाड़ियों से रहित तंजावुर जिला ऐसे स्मारकों से बंचित है किन्तु इस काल के विशिष्ट जैन पुरावशेष चेन्टलै, जाननादपुरम, कुहूर, भरत्तुवकुड़ि, देवकुड़ि और फलैयरै में द्रष्टव्य हैं। मदुरै के निकट शमनरमले में ६०० से १००० ई० की समयावधि की जैन प्रतिमाएँ हैं जिनकी यणना सर्वोत्कृष्ट और सर्वाधिक मनोहारी प्रतिमाओं में की जाती है। इस पहाड़ी पर गुफा के भीतर, पादपीठ पर अवस्थित एक तीर्थकर-प्रतिमा है जबकि ऊपर लटकी हुई शिला के ललाट पर देवकोष्ठों में दसवीं शताब्दी के बट्टेजुत्तु अभिलेख सहित दो अन्य तीर्थकरों के उथले उरेखन हैं। इसी पहाड़ी के दक्षिण-पश्चिमी ढलान पर स्थित शेट्टीपोडवु नामक प्राकृतिक गुफा (पोडवु अथवा पुड़ै अर्थात् गुफा) है। उसके प्रवेश-द्वार के समीप ही पहाड़ी पर उत्कीर्ण आसनस्थ विशाल तीर्थकर-प्रतिमा है जिसके नीचे बहुजुत्तु अभिलेख है। गुफा के भीतर तोरणाकार छत पर प्रतिमाओं के पाँच समूह अंकित हैं। इनमें केंद्रीय समूह के नीचे बट्टेजुत्तु अभिलेख है। पहले समूह में सिंहारूढ़ यक्षी अंबिका प्रत्यंचा सींचे

हुए, धनुष को दायें हाथ से और बाण को बायें हाथ से संधान की स्थिति में पकड़े हुए, प्रस्तुत की गयी है। सिहवाहन के समक्ष अपने हाथों में ढाल-कृपाण लिये गजारूढ़ पुरुष है। यह संयोजन पूर्वोक्त मलैयडिक्कुरुचि के शैलालीकीर्ण गुफा-मंदिर की विकृत-मुखी प्रतिमायुक्त फलकों की स्मृति दिलाता है (पृ २१२)। इसके पश्चात त्रित्रों के नीचे पादपीठ पर आसनस्थ तीर्थकरों की तीन फलकें हैं। पांचवीं और अंतिम फलक पर बायें पैर को बोढ़कर तथा दायें को नीचे लटकाकर बैठी हुई यक्षी अंकित है। वह दायें हाथ में कमलकली लिये हुए है जबकि बायाँ हाथ उसकी गोद में रखा है। स्पष्टतः वह पद्मावती है। पहाड़ी की पूर्वी ढाल के ठीक दक्षिणी ओर पर पेचिचपलम नामक स्थान है जहाँ ऊपरी चट्टान के सामने एक समतल-सा घरातल है। यहाँ जैन प्रतिमाओं की एक पंक्ति है जिनमें मुपाश्वर्नाथ की पांच कायोत्सर्ग-प्रतिमाएँ हैं। यहाँ पर इन प्रतिमाओं से संबद्ध छह बट्टेजुत्तु अभिलेख हैं। अन्य दो मूर्तियाँ आसनस्थ तीर्थकरों की हैं। जैसाकि शिलालेखों से ज्ञात होता है ये मूर्तियाँ समर्पण के लिए हैं। इसी प्रकार वह दुर्लिमित प्रतिमाएँ मदुरै के निकट नागमलै पहाड़ी पर मिली हैं। किलेयूर-कीलवलवु की पंचपाण्डवमलै भी हस अवधि की विशाल शिलाखण्डों पर उत्कीर्ण जैन प्रतिमाओं के लिए उल्लेखनीय स्थान है। इनमें तीर्थकर और यक्षी-जैसी देवियों की मूर्तियाँ हैं। इस स्थान को पल्लिकुडम कहते हैं। इसी प्रकार कुप्पलनाथम की पोशगेमलै और उत्तमपलैयम की कुप्पन्नसामि चट्टान पर (चित्र १३६ ख) जैन प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। उनमें अधिकांशतः आदिनाथ, नेमिनाथ और अन्य तीर्थकरों की प्रतिमाएँ हैं। उनसे संबद्ध अभिलेखों से इनकी पूजनीय स्थिति और निर्माण-काल का संकेत मिलता है। ऐवरमलै नामक प्राकृतिक गुफा में भी जैन तीर्थकरों और यक्षियों की अनेक मूर्तियाँ बट्टेजुत्तु लिपि में समर्पण-अभिलेखों के साथ हैं। उनमें से ६७० ई० की एक प्रतिमा पाण्ड्य नरेश वर्गुण वर्मन के राज्यकाल की है जिसमें इस स्थान पर प्रतिष्ठापित पाश्वनाथ की प्रतिमा के हेतु प्रदत्त दान का उल्लेख है।

तिरुनेलवेली जिले के इरुवडि नामक स्थान की इरट्टीपोट्टे चट्टान पर एक प्राकृतिक गुफा है। इस गुफा के पर लटकते हुए शिलाखण्ड के पर निम्न-उद्भूत शैली की जैन मूर्तियों की एक श्रृंखला बट्टेजुत्तु लिपि में समर्पण-अभिलेखों के साथ अंकित है। उत्तमपलैयम और अध्यमपलैयम (ऐवरमलै) के समान जैनाचार्य अज्जणंदि का उल्लेख यहाँ के अभिलेखों में भी है जो उनके समसामयिक होने का संकेत करता है। सिगीकुलम की पहाड़ी पर स्थित भगवती-मंदिर पहले एक यक्षी का जैन मंदिर था। साक्षी के रूप में इसके गर्भगृह में विद्यमान तीर्थकर की एक प्रतिमा है जिसे आबौद्धतम ऋषि कहा जाता है। सर्वाधिक उल्लेखनीय आठवीं-नौवीं शताब्दियों को जैन प्रतिमाओं (चित्र १३७ क, १३७ ख, और १३८) की एक श्रृंखला बट्टेजुत्तु अभिलेखों के साथ कल्युगमलै में मिली है। इन शिल्पांकनों में धरणेंद्र और पद्मावती के साथ पाश्वनाथ, अंबिका और अन्य तीर्थकरों की मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार देखा जा सकता है कि ग्रामीन शब्दाओं से युक्त और बाह्य अभिलेखांकित प्राकृतिक गुफाएँ ६०० से १००० ई० की अवधि में विकास के दूसरे चरण तक आवास के हेतु प्रयोग में

लायी जाती रहीं; जैसाकि इस काल में प्रतिभाओं की अभिवृद्धि, इटों द्वारा भवन-निर्माण और बहुजुल्त तथा तमिल लिपियों के शिलालेखों से प्रभाणित होता है। इसके अतिरिक्त अन्य गुफाएँ और शैलाश्रय जैनाचार्यों और साधुओं के द्वारा आवासित पल्ली के रूप में उपयोग में आते रहे; जिसकी साक्षी हैं शिलामुखों पर उत्कीर्ण और अन्य स्वतंत्र-उद्भूत प्रतिमाएँ। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं किन्तु यहाँ केवल अति-विशिष्ट और प्रख्यात कृतियों का ही उल्लेख किया गया है। तथापि, यह कहना पड़ेगा कि डिंजर जैन शास्त्री के शब्दों भण्डार दा शश्यन और कमबद्ध प्रतिमा-वैज्ञानिक सर्वेक्षण तमिलनाडु में होना अभी थेष है।

कन्याकुमारी जिले में चितराल के सभीप तिरुच्चारणतुमले से प्राप्त प्रतिभाओं का वर्णन इसी अध्याय में आगे किया गया है।

शैलोत्कीर्ण और स्वतंत्र दोनों ही प्रकार के निम्न-उद्भूतों के अतिरिक्त कुछ विशेष मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। आंध्रप्रदेश में कुड्डपह जिले के दानबलपड़ु के भग्न मंदिर से कुछ प्रतिभाएँ भद्रास राज्य के संग्रहालय में लायी गयी थीं, वे काले प्रस्तर पर राष्ट्रकूट-कला के सुंदर उदाहरण हैं। तिरुनेलवेलि जिले के तूतीकोरिन की महावीर स्वामी की प्रतिमा ग्रेनाइट पर पाण्ड्य-कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। एक मीटर से अधिक ऊँचाई की आसनस्थ तीर्थकर की प्रतिमा पुडुम्बूर (पुडुक्कोट्टू-तिरुच्चिरापल्ली जिला) के एक टीले पर इटों के मंदिर के भग्नावशेष से उपलब्ध हुई है जो उचित समानुपात का उल्लेखनीय चौल उदाहरण है। पुडुक्कोट्टै संग्रहालय में भोसकुड़ि से प्राप्त आसनस्थ तीर्थकर की प्रतिमा ग्रेनाइट से निर्मित एक अति-सामान्य प्रस्तुति है जबकि ग्रेनाइट की ही मंगटैवनपट्टी से प्राप्त इसी संग्रहालय की पाश्वनाथ की कायोत्सर्ग-प्रतिमा का शिल्पांकन कुछ अधिक कलात्मक है।

के० आर० श्रीमिशासन

### केरल के पुरावशेष

केरल में ऐसे वास्तु-स्मारक कम ही हैं जिनका निर्माण नौवी से घ्यारहवीं शताब्दियों के मध्य हुआ। इस अवधि में आय शासकों ने दक्षिण में, और चेर शासकों ने मध्य केरल में इस धर्म को संरक्षण प्रदान किया। प्राचीन चेर देश में जैन धर्म का प्रचलन और भी पहले से था क्योंकि इस वंश के कुछ शासकों ने तमिल-संगम-युग में इस धर्म के लिए कार्य किया था। उदाहरण के लिए, तिरुच्चिरापल्ली जिले में करुर के निकटवर्ती पुगलूर में एक शैलाश्रय के ऊपरी भाग पर परनाले के ठीक नीचे लगभग दूसरी शती ईसवी के दो चेर अभिलेख हैं। इन अभिलेखों के अनुसार यह शिला (कल)चेण्कायपन् नामक एक जैन मुनि के हेतु को-प्रातन चेरल इरम्पोरे के प्रपौत्र द्वारा उत्खनित (अरुपित) करायी गयी थी।<sup>1</sup> शश्याओं और सिरहानों के पास उत्कीर्ण अभिलेखों में से कुछ में उनके उपयोग-करारियों के

1. एनुप्रस रिपोर्ट ऑन सार्व इण्डियन एपिग्राफी, 1927-28, 1929. मद्रासः क्रमांक 341-49, पृ 50./ एनुप्रस रिपोर्ट ऑन इण्डियन एपिग्राफी, 1963-64, 1967. दिल्ली/महादेवन (आइ). कॉर्पस ऑफ द तमिल-

नाम उल्लिखित हैं और ऐसी एक शब्द्या (अदिवाणम्) स्वयं चेपकायपन् के लिए थी। पुगलूर एक बहुत ही महत्वपूर्ण जैन केंद्र था, यह तथ्य वहाँ के एक विशाल प्रतिष्ठान से प्रमाणित होता है। इसमें उसी पर्वत पर चार शैलाश्रय हैं जिनमें लगभग तीस सूनियों के आवास की व्यवस्था है। जैसाकि अभिलेखों से ज्ञात होता है, ये मुनि अधिकतर समीपवर्ती ग्रामों के निवासी थे। यह बात ध्यान देने योग्य है कि दक्षिण भारत में जैन धर्म के आरंभिक काल का प्रतिनिधित्व पूर्वी तट पर यत्नतत्र विद्यमान वे शैलाश्रय करते हैं, किन्तु पश्चिमी तट पर, विशेष रूप से केरल की वर्तमान राजनीतिक सीमाओं के अंतर्गत, इस युग के निर्माण-कार्य ने कोई प्रगति नहीं की।

केरल में जैन धर्म का उदय कदाचित् उस समय हुआ जब नौवीं शताब्दी में चेर वंश अपनी तसी शाही नाड़ी तिरुवनंतपुरम् (आशुमिन्न तिरुचन्निकुलम्, जिला त्रिचूर) में पुनरुज्जीवित हुआ। अभिलेखीय और साहित्यिक लघ्यों के अनुसार इस काल में, चेर राजधानी के समीप कहीं स्थित तिरुक्कुणवाय मंदिर एक विशाल जैन केंद्र था। कन्तानोर जिले में तलकक्कुवु की जैन बस्ती में उपलब्ध एक अभिलेख में आठवीं शती के आरंभ में तिरुक्कुणवाय-मंदिर की स्थापना का उल्लेख है।<sup>1</sup> निससदैह, ये निर्मित-शैली के मंदिर थे, किन्तु जैन आवासों के रूप में शैलाश्रयों के उपयोग की परंपरा नौवीं शताब्दी में केरल में भी थी। इस काल में निर्मित केरल के सभी वास्तु-स्मारक दो वर्गों में रखे जा सकते हैं—शैलाश्रय और निर्मित-मंदिर। प्रथम वर्ग के मंदिर अभी तक सुरक्षित हैं, भले ही वे भगवती-मंदिर के रूप में परिवर्तित कर लिये गये हों, किन्तु निर्मित-मंदिरों के मूलस्वरूप को सोज पाना कठिन है।

प्राचीन आम राज्य का सर्वीधिक प्रभावशाली शैलाश्रय (चित्र १३६ क) कन्याकुमारी जिले में चितराल के निकट तिरुच्चरणत्तुमलै नामक पहाड़ी पर स्थित है। प्राकृतिक गुफा के पाश्वे में ऊपर लटकती हुई शिला से बने शैलाश्रय में बहुत-सी तीर्थंकर-मूर्तियाँ (चित्र १३६ ख) और दूरदूर से आये दर्शनार्थियों द्वारा अभिलेख सहित उल्कीण करायी गयी पूजार्थ मूर्तियाँ हैं।<sup>2</sup> इन शिल्पाकलों में

नाहीं इस्क्यारेस, सेमिनार ऑन इस्क्यारेस, 1966, 1968, भद्रास, पृ 65-67./कृष्णन (के जी), चेर किंड ऑफ द पुगलूर इस्क्यारेस, जनरल ऑफ एंडवेंट इस्क्यार हिस्ट्री, 4; 1970-71; पृ 137-43. / [पृ 104 भी द्रष्टव्य-संसारक]।

1. नारायणन (एम जी एस). न्यू लाइट ऑन कुण्वायिकोट्टुम् एण्ड द डेट ऑफ शिल्पदिकारम्. जनरल ऑफ इस्क्यार हिस्ट्री, 48; 1970; 691-703. / नौवीं से खारहवीं शताब्दियों में अनेक मंदिर इस मंदिर के प्रादर्श पर बने और जैसी कि अनुश्रुति है, शिल्पदिकारम के लेखक इलंगो अदिगल ने यहाँ संन्यास के अनंतर आश्रय लिया था। यह उल्लेखनीय है कि खारहवीं शताब्दी के दो मंदिरों—कोजीकोड जिले के किनलूर स्थित शिंव मंदिर और कोजी-कोड स्थित अवैवृताकार आयोजना का तिरुवन्नुर मंदिर—के अभिलेखों में परोक्ष उल्लेख है कि तिरुक्कुणवाय में एक जैन मंदिर था।
2. राव (टी ए गोपीनाथ). जैन एण्ड बोद्ध वेस्टजेझ इन आवनकोर आवनकोर आवियांलॉनिक्स सीरीज़, 2, भाग 2; 1919. चित्रेन्द्रम्, पृ 125-27.

पाश्वनाथ, महावीर और पद्मावती की मूर्तियाँ सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। पद्मावती देवी अपने बाह्य सिंह के ऊपर पद्मासन पीठ पर आसीन हैं। कुछ अनुचर भी पद्मावती के दोनों ओर अंकित हैं। बास्तव में, यहाँ की सभी प्रमुख मूर्तियों पर भक्त या उड़ते हुए विद्यावर अंकित हैं। अधिकांश तीर्थकर-मूर्तियों के मस्तक पर छत्रशय हैं और वे सत्वपर्यंक-मुद्रा में आसीन हैं, किन्तु पाश्वनाथ की मूर्ति नाग की त्रिफणावली के नीचे सौम्य लक्ष्मासन-मुद्रा में अंकित की गयी है।

आय-नरेश विक्रमादित्य वरगुण (लगभग दद४-६२५ ई०) का एक अभिलेख यहाँ का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अभिलेख है जिसमें तिरुच्चारणतुमलै के भटारियार<sup>1</sup> को दिये गये कुछ स्वर्ण आभूषणों के उपहार का उल्लेख है। सभी प्रजार्थ मूर्तियों के आसन के नीचे बहुजुत्तु लिपि में संक्षिप्त अभिलेख हैं जिनमें दाता के नाम और स्थान का उल्लेख है। इन आभूषणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह जैन प्रतिष्ठान कम-से-कम तेरहवीं शताब्दी के मध्य तक सुक्रिय रहा, जिसके पश्चात् इसे भगवती-मंदिर में परिवर्तित कर दिया गया।

एण्कुलम जिले में वेंडवुर के निकट कल्लिल में एक और जैन शैलाश्रय है (चित्र १४० क); इसे भी परवर्ती काल में भगवती-मंदिर के रूप में परिवर्तित कर दिया गया (चित्र १४० ख)। इस शैलाश्रय के मुख्यभाग पर महावीर की एक अपूर्ण पद्मासनस्थ मूर्ति उत्कीर्ण है। इसके अलिरिकत, भगवती-मंदिर की पृष्ठ-भित्ति पर सिहासन पर आसीन महावीर की मूर्ति सत्वपर्यंक-मुद्रा में उत्कीर्ण है। इस मूर्ति में भी महावीर के मस्तक पर छत्रशय का अंकन है। उनके पीछे दो अनुचर दिखाये गये हैं जिनमें से एक चमर धारण किये हुए हैं। धातु-पत्र से मढ़ी हुई पद्मावती की पाषाण-मूर्ति उक्त महावीर-मूर्ति के पास स्थापित है और उसे अब भगवती के रूप में पूजा जाता है<sup>2</sup>।

केरल में शैलाश्रयों के प्रायः सभकालीन कुछ निर्मित-मंदिरों के खण्डहर मिलते हैं, जिनमें से एक अत्यंत महत्वपूर्ण मंदिर पालघाट जिले में अलथूर के निकट गोदापुरम में है। शाक्कयार भगवती-मंदिर के स्थानीय नाम से प्रसिद्ध इस स्थान से दो जैन मूर्तियाँ भिली थीं जो अब श्रिचूर संग्रहालय में हैं। महावीर की मूर्ति सत्वपर्यंक-मुद्रा में सिहासन पर आसीन है और उसके मस्तक पर छत्रशय का अंकन है। पादपीठ पर चार अर्ध-स्तंभों के मध्य सामने मुख किये तीन सिंह लांछन के रूप में उत्कीर्ण हैं। दोनों ओर दहाड़ते हुए सिंहों के ऊपर एक-एक अनुचर दायें हाथ में चमर लिये हुए अंकित किया गया है। बायाँ हाथ कटि पर है। पाश्वनाथ की मूर्ति युगल-पत्रोंवाले पद्मपुष्पों से निर्मित पीठ पर कायोत्सर्ग-मुद्रा में अंकित है और उसके मस्तक पर नाग की त्रिफणावली है। नाग की पूँछ पादपीठ और जंबाशों को लपेटती हुई पीछे की ओर जाती है। महत्वपूर्ण बात यह है कि कल्लिल और चित-

1 राव (टी ए गोपीनाथ), चितराल इन्स्क्रिप्शन ऑफ विक्रमादित्य वरगुण, शासनकोर लाइब्रॉरी-कल्लिल सीरीज़, 1, भाग 12, 1912, पृ 193-94.

2 राव, पूर्वोक्त, 1919, पृ 130.

राल की भाँति यह स्थान भी भगवती-मंदिर के नाम से प्रसिद्ध था। इस परंपरा से यह संकेत मिलता है कि इस मंदिर-समूह में पहले पद्मावती की मूर्ति भी स्थापित थी।

गोदापुरम स्थान पर वर्तमान में निर्मितियों के कुछ स्थानहर और यत्र-तत्र विखरे हुए वास्तु-स्थण्ड ही विद्यमान हैं। यह क्षेत्र एक छोटे टीले के समान दिखाई देता है। उत्खनन से इसमें निर्मिति के मिलने की पूरी-पूरी संभावना है। इसके एक खुले हुए भाग से ग्रेनाइट पाषाण से निर्मित किसी मंदिर का अंश और उसका मंचक-शैली का अधिष्ठान स्पष्ट दिखाई पड़ता है। साथ ही, विखरे पड़े वास्तु-खण्डों में अधिष्ठान के अंकषय, वथा—उपान, जगती, त्रिपट्ट-कुमुद, कम्पों सहित कण्ठ-पट्टिका आदि तथा वृत्त-कुमुद के कुछ खण्ड भी, जो निश्चित रूप से किसी और मंदिर के हैं, देखे जा सकते हैं। इस जैन अधिष्ठान के सभी मंदिरों की रूप-रेखा, जैसाकि इनकी शोटों से प्रतीत होता है, मूलतः बग्न-कार या आयताकार थी और उनमें पद्मासन या खण्डगासन तीर्थकर-मूर्तियाँ स्थापित थी।<sup>1</sup> शैली के आधार पर ये मूर्तियाँ तीर्थों-दसवीं शताब्दी की मानी जा सकती हैं। इस तिथि की पुष्टि दसवीं शताब्दी की वट्टेजुत्तु लिपि में उत्कीर्ण एक तमिल अभिलेख की खोज से भी हो चुकी है।<sup>2</sup> इस तिथि-रहित अभिलेख में उक्त मूर्ति का उल्लेख तिरुक्कुणवायत्तेवर के नाम से हुआ है जिससे कुण्वायिकोट्टुम का स्मरण हो आता है जहाँ शिल्पदिकारम के लेखक ने अपने चेर राज्याधिकार को छोड़कर आश्रय लिया था। इस जैन अभिलेख के समय और प्राप्ति-स्थान से यह निष्कर्ष निकलता है कि द्वितीय चेर राजवंश के उदय के समय जैन धर्म अपने उत्कर्ष काल में था।

पालवाट नगर में भी आठवें तीर्थकर चंद्रप्रभ को समर्पित एक जैन मंदिर है पर उसके निर्माणकाल का अनुमान नहीं लगाया जा सकता क्योंकि वर्तमान काल में किये गये जीर्णोद्धार-कार्यों ने उसको सर्वथा नया रूप दे दिया है। वर्तमान मंदिर के सामने एक प्राचीन मंदिर का अधिष्ठान है (चित्र १४१) और दक्षिण के किसी भी ब्राह्मण मंदिर की भाँति इसके सामने भी एक अधंपीठ है। इस ध्वस्त मंदिर का ग्रेनाइट पाषाण से निर्मित अधिष्ठान मंचक-शैली का है। इस स्थान से वज्रपयंक-मुद्रा में आसीन शीर्षविहीन जैन मूर्ति (चित्र १४२) मिली थी। इसका शिल्पांकन दक्षिण भारत में साधारणतः मिलनेवाले शिल्पांकनों की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है। इसके उन्नत एवं पुष्ट कंधे और इकहरी देहयष्टि उत्तर-भारतीय शैली का स्मरण दिलाते हैं।

यह सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है कि ब्राह्मण धर्म के पुनर्जगिरण के साथ बहुत से जैन मंदिर ब्राह्मण मंदिरों के रूप में परिवर्तित कर दिये गये। उदाहरण के लिए, त्रिचूर जिले के इरिंगलकुड़ का कुडलमणिकम-मंदिर, जो अब राम के भ्राता भरत के लिए समर्पित है, प्रचलित

1 इण्डियन आर्किवॉलाजी, 1968-69, ए रिप्पू, 1971, नई दिल्ली, पृ 86.

2 एनुआन रिपोर्ट बांग इण्डियन एवियाफो, 1959-60, नंबर 438, / जनसंख्या आंक इण्डियन हिस्ट्री, 44, 1966, पृ 537 तथा सं 48, 1970, पृ 692.

परंपरा के अनुसार मूलतः भरतेश्वर-मूर्ति के लिए बनवाया गया था।<sup>1</sup> यद्यपि इस तथ्य का निश्चय कर पाना कठिन है, किन्तु जैन मंदिरों के ब्राह्मण्य मंदिरों के रूप में क्यशः परिवर्तन की प्रक्रिया चितराल और कलिल के उदाहरणों से भली-भाँति प्रमाणित होती है। इस प्रक्रिया की पुनरावृत्ति कन्याकुमारी जिले में नागर कोइल के नागराज-मंदिर में भी दृष्टिगत होती है जिसमें स्तंभों और भित्तियों पर उत्कीर्ण ब्राह्मण्य मूर्तियों के आसपास जैन शिल्पांकन अब भी बन रहे हैं। यह मंदिर कम से कम कोल्लम ६६७ (१५२२ ई०) तक जैन रहा, जब इसे वावणकोर के राजा भूतलधीर उदय मार्त्तण्डबहून से दान प्राप्त हुआ।<sup>2</sup> इस मंदिर में उत्कीर्ण महावीर, पार्वतीनाथ और उनकी शासनदेवी पद्मावती की मूर्तियाँ शैली के आधार पर सोलहवीं शताब्दी की मानी जा सकती हैं। तथापि, एक-एक आसीन मूर्ति से लिपटे हुए पंचकण नामों की दो विशाल मूर्तियाँ दसवीं शताब्दी की मानी जानी चाहिए—जबकि आय राज्य में जैन धर्म अपने उत्कर्ष काल में था। कोल्लम ७६४ (१५८६ ई०) में निर्मित अनंत-मंदिर के संदर्भ में गोपीनाथ राव ने लिखा है कि पार्वतीनाथ की मूर्ति कदाचित् परवर्ती काल में विष्णु के बादिशेष श्रथीत् नागर तिरुवनन्ताल्वान के रूप में परिवर्तित हो गयी थी।<sup>3</sup>

शैलाश्रयों और कुछ निर्मित-मंदिरों के रूप में जैन धर्म ने केरल में पड़ोस के पाण्ड्य देश से प्रेरणा प्राप्त की होगी। तिरुनेल्वेलि जिले के कलुगुमलै की एक विशाल चट्ठान पर अभिलेखों सहित उत्कीर्ण अगणित निम्न-उद्भूतों की चितराल के शिल्पांकनों से प्रत्येक पूर्विक गुरुमा की अवधारणा दर्शकता है। किन्तु केरल में, विशेषतः उत्तर केरल में, इस धर्म के उत्कर्ष को मैसूर ध्वेत्र से भी किसी सीमा तक प्रेरणा मिली होगी। कुछ जैन प्रतिष्ठान आज भी कोजीकोड जिले के वाइनाड ध्वेत्र के कलपेट्टा, मानष्टोडी तथा अन्य स्थानों में विद्यमान हैं। इसी जिले में सुलतान की बैटरी के सभीप एडब्ल्यू पहाड़ी के पश्चिमी ढलान पर जो शैलाश्रय है उसे कुछ अधिकारी विद्वान् जैन परंपरा का मानते हैं।<sup>4</sup> यद्यपि, इस शैलाश्रय में अभिलेख हैं जिनमें से एक छठवीं शताब्दी का है, और शिल्पांकन भी हैं, तथापि इसमें ऐसा कोई चिह्न नहीं जिससे उसे जैन कहा जा सके।<sup>5</sup> किन्तु, गणपति-पट्टम के नाम से भी प्रसिद्ध और एडब्ल्यू शैलाश्रय के निकट स्थित सुलतान की बैटरी में एक बड़ी जैन बस्ती के खण्डहर हैं जिनकी तिथि यदि और पहले की न भी हो तथापि तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी की तो होनी ही चाहिए। पूर्ण-रूप से ग्रेनाइट पाषाण द्वारा निर्मित यह मंदिर चैत्यवास का एक उदाहरण है। इसकी अक्षवल् रूप-रेखा में एक वर्गाकार गर्भगृह, अर्ध-मण्डप और महा-मण्डप हैं जिन्हें बाद में एक आवृत भवन का रूप देकर दो खण्डों में विभक्त कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त एक मुख-मण्डप भी है जो केरलीय

1 मेनन (ए श्रीधर), ए सबे ऑफ कैल हिस्ट्री, 1967, कोहायम, पृ 88-89.

2 राव, पूर्वोक्त, 1919, पृ 127-28.

3 वही, पृ 129, पादटिप्पणी, 2.

4 मेनन, पूर्वोक्त, पृ 89. / पिल्ली (एसमकुलम पी एन कुंजन), स्टडीज इन केरल हिस्ट्री, 1970, कोहायम, पृ 261.

5 फसिट (एफ), नोट्स अॅन द रॉक काविन्स इन दि एडब्ल्यू केव, वाइनाड, इण्डियन एण्टिक्वरी, 30; 1901; पृ 409-21.

परंपरा के नमस्कार-मण्डप से मिलता-जुलता है। किन्तु केरल की मंदिर-शैली के विपरीत इस मंदिर की पाषाण-निर्मित छत किंचित् ढलुवाँ है जिसपर दो अस्पष्ट स्तूपिकाएँ निर्मित हैं—एक गर्भगृह पर और दूसरी महा-मण्डप पर। कदाचित् इस मंदिर की मूल अधिरथना पूर्ण रूप से नष्ट हो गयी है। अपने मूल रूप में यह मंदिर एक स्तंभावलि से जुड़ा रहा होगा जिसके अधिकतर स्तंभों के कट्टु अष्टकोण और शदुरम चतुष्कोण हैं। महा-मण्डप के स्तंभ अपेक्षाकृत अधिक विकसित हैं और उनके चुष्टाकार दण्ड और अलंकरण विजयनगर-परंपरा का स्मरण दिलाते हैं। यद्यपि गर्भगृह में अब कोई मूर्ति नहीं है, किन्तु उसके प्रवेश-द्वार के ललाट-विम्ब पर एक पद्मासन तीर्थंकर-मूर्ति है। अर्ध-मण्डप के सरदल पर भी एक ऐसी ही मूर्ति उत्कीर्ण है।

उत्तराञ्चली मूर्ति सुलतान की बैठरी के निकट अनेक खण्डित जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं, किन्तु यह कह पाना कठिन है कि वे सब उपर्युक्त मंदिर की ही मूर्तियाँ थीं। कदाचित् ग्यारहवीं-वारहवीं शताब्दी की एक कायोत्सर्ग-तीर्थंकर-मूर्ति इनमें से एक है। इसके मस्तक पर छत्रनय है और केश धूंध-राले हैं। यह निस्संदेह तोरण पर उत्कीर्ण मूर्ति है क्योंकि इसके चारों ओर प्रवेश-द्वार के तोरण की आकृति है। उपलब्ध सामग्री में एक पट्टिका के भी बहुत से खण्ड हैं जिनपर पंक्तियों में लघु तीर्थंकर-मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इसमें संदेह नहीं कि ये खण्ड किसी चतुर्विंशतिपट्ट के हैं। आसीन मूर्तियों में अधिकांस वज्रपर्यंक-मुद्रा में हैं और उनमें से एक के पादपीठ के मध्य में सिंह अंकित है।

हरिविष्णु सरकार



भाग 5

वास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला  
1000 से 1300 ई०

## अध्याय 20

### उत्तर भारत

#### ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

स्थारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में भारत के उत्तरी भाग के अधिकांश क्षेत्र पर जिन दो प्रमुख राजनीतिक शक्तियों ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया वे थीं चाहमान और गाहड़बाल शक्तियाँ। इस कालावधि के कलात्मक, साहित्यिक और धार्मिक क्रिया-कलाप न केवल विकास के उच्च स्तर की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं अपितु इस दृष्टि से भी कि वे हमारे युगीन सांस्कृतिक विकास की सतत श्रृंखला के अंतिम चरण के प्रतीक हैं। मध्ययुग में, भारत के उत्तरी भाग में, एक और जहाँ कला और साहित्य ने पारंपरिक विकास का मार्ग अपनाया, वहीं धार्मिक विकास ने, परस्परविरोधी दार्शनिक विचार-धाराओं के होते हुए भी, देश, जाति और कुलधर्म की सीमा के भीतर रहते हुए, अनुकूलनीयता एवं सहिष्णुता का परिचय दिया। जैन, ब्राह्मण और अन्य मत साधनाथ फले-फूले और राजकुलों ने विलक्षण उदार दृष्टिकोण बनाये रखा तथा धार्मिक संस्कारों एवं विश्वासों के विषय में अपने प्रजाजनों के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया।

शाकभरी के चाहमान, जिन्होंने दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्थान प्राप्त की, कला और साहित्य के आश्रयदाता थे। यद्यपि वे ब्राह्मण मतावलंबी थे, तदपि उन्होंने पर्याप्त सीमा तक जैन धर्म को प्रोत्साहित किया। चंद्रसूरि के मुनिसुब्रत-चरित<sup>1</sup> (विक्रम संवत् ११६३ = ११३६-३७ ईसवी) के अनुसार पृथ्वीराज-प्रथम ने रणथम्भौर के जैन मंदिर पर स्वर्णकलश चढ़ाकर जैन धर्म के प्रति अपना आदर व्यक्त किया था। उसके पुत्र अजयराज ने त केवल अपनी नवी राजधानी अजयमेह (अजमेर) को जैन मंदिरों से सुशोभित होने का अवसर दिया अपितु वहाँ स्थित पारस्वनाथ-मंदिर को स्वर्णकलश भी समर्पण किया। इसी प्रकार यह कहा जाता है कि अर्णोराज ने जैन आचार्य जिनदत्त-सूरि के अनुयायियों को एक मंदिर के निर्माण के लिए भूमि प्रदान की थी तथा यह भी कहा जाता है कि वे श्वेतांबर आचार्य धर्मषोषन-सूरि और दिगंबर पण्डित गुणचंद्र के बीच शास्त्रार्थ में निरायिक भी बने थे।

1. बुहरायेण सथंभरी-नरिन्देण जस्ता-लेहेण रणथम्भौर जिणहरे चडविया कलय-कलशा—जर्मी (दशरथ). अली चौहान डायमेस्टीज, 1959, दिल्ली, पृ. 38.

विश्वहराज-चतुर्थे ने न केवल अपनी राजधानी में एक जैन मठ का निर्माण कराया औरितु अपने विशाल राज्य में सास के कुछ विशेष दिनों में पशुओं के बब का भी निषेद्ध कर दिया था । रविप्रभ रचित धर्मघोष-सूरि-स्तुति के अनुसार अरिसिहा (शम्भा<sup>1</sup>) के सुखाव के अनुसार मेवाड़ का संभवतः अरिसिह (तथा मालवा के एक शासक ने अजमेर के एक जैन मंदिर राज-विहार पर पताका फहराने में उसकी सहायता की थी । बिजोलिया<sup>2</sup> स्थित पार्श्वनाथ-मंदिर को पृथ्वीराज-द्वितीय ने एक गाँव दान में दिया था । अर्णोराज के पुत्र सोमेश्वर ने भी बिजोलिया स्थित जैन मंदिर को एक ग्राम दान किया था । पृथ्वीराज-तृतीय ने विक्रम संवत् १२३६ (११८२ ईस्वी) में जिनपति-सूरि को एक जयपत्र प्रदान किया था तथा जैन धर्मविलंबियों को अनेक उत्तरदायी पदों पर नियुक्त भी किया था ।

नादोल के चाहमान, जो गुजरात के चौलुक्यों (सोलंकियों) के अधिक निकट थे, जैन धर्म के प्रति अधिक अनुरक्त थे । चाहमानों की नादोल शाखा के अश्वराज ने, जो स्वयं जैन था, कुछ निर्दिष्ट दिनों में पूर्णरूपेण अहिंसा के पालन के लिए आदेश जारी किये थे । अश्वराज के समय के सेवड़ी के १११० ई० के एक शिलालेख में यह उल्लेख है कि महासहनीय उप्पलकं ने धर्मनाथदेव के दैनिक पूजन के लिए चार ग्रामों में अवस्थित अरहटवाले प्रत्येक कुएँ से एक हारक के बराबर दान किया था । इसी स्थान के १११५ ई० के एक अन्य शिलालेख में यह उल्लेख है कि राजा कटुकराज ने शिवरात्रि के अवसर पर यशोदेव के खत्तक में शत्रिनाथ के पूजन के लिए दान दिया था । सन् ११३२ में राजा रायपाल के पुत्रों तथा रानी ने राजपरिवार के अपने भाग में से प्रत्येक कोल्हू से तेल की एक निश्चित मात्रा दान की थी । नादलोई के सन् ११३८ के एक शिलालेख में भी यह वर्णित है कि इस शहर में आने और बाहर जानेवाले व्यापारिक माल पर लगाये कर का बीसवाँ भाग नेमिनाथ के पूजन के लिए दान-स्वरूप दिया जाता था । सन् ११५२ के शिवरात्रि-दिवस पर अल्हणदेव ने अमारी-धोषणा (पशुओं का बब नहीं करने की धोषणा) की थी तथा ब्राह्मणों, पुरोहितों एवं मंत्रियों को भी इस राजादेश का सम्मान करने की आज्ञा दी गयी थी । इस वंश के शासक ब्राह्मण धर्म के देवताओं, यथा सूर्य, ईशान आदि की पूजा करते थे किन्तु ब्राह्मणों के साथ ही साथ जैन मंदिरों एवं आचार्यों का भी सम्मान करते थे । सहिष्णुता की यह भावना इस युग में सामान्यतः साधारण जनों ने भी अपनायी थी, यद्यपि कभी-कभी विभिन्न धर्मों के आचार्यों में शास्त्रार्थ तथा संघर्ष हो जाया करते थे ।

कल्नीज तथा वाराणसी के गाहड़वाल शासकों के संबंध में भी यही बात चरितार्थ होती है । यद्यपि जैन समाज और धर्म के प्रति उनके दृष्टिकोण के बारे में हमारे पास कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं

1 वही, पृ 62.

2 तज्ज्येष्ठ आत्पुत्रोऽभूत् पृथ्वीराजः पृथूपमः ।  
उत्पादज्जितहेमाङ्गो हेमपर्वतदानतः ॥  
अतिष्ठन्मरतेनापि पार्श्वनाथ-स्वयंभूते ।  
दत्तं सोराज्ञीग्रामं भुक्तिमुक्तेश्च हेतुना ॥

एवियाफिया इण्डिका. 26; 1952; 105.

है, फिर भी एक ही उदाहरण यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि उनके धार्मिक विचार उदार और सहिष्णु थे। अपने पूबवर्ती राजाओं की भाँति गाहड़वाल शासक गोविंदचंद्र कट्टर ब्राह्मण-मतावलंबी या किन्तु उसकी रानी कुमारदेवी बौद्ध थी। उसके पति ने उसे सारताथ में बौद्ध धर्म-चक्र-जिन-विहार का जीर्णोद्धार कराने की अनुमति दी थी। गोविंदचंद्र ने श्रावस्ती के बौद्ध संघ को एक गाँव का दान भी किया था।

कौशाम्बी, मथुरा, श्रावस्ती और अन्य स्थानों से प्राप्त जैन प्रतिमाओं से यह संकेत मिलता है कि गाहड़वालों के शासन-काल में जैन धर्म भी भली-भाँति फला-फूला। ऐसा प्रतीत होता है कि इस वंश के कुछ शासकों का गुजरात के चौलुक्यों से राजन्यिक संबंध था। कुमारपालचरित में यह उल्लेख है कि चौलुक्य कुमारपाल ने पशुओं का बध रोकने के लिए अपने मंत्रियों को काशी भेजा था।<sup>1</sup> काशी का विश्वेश्वर नामक कवि, जो प्रबंधन्तिमणि के अनुसार, कुमारपाल के शासनकाल में पाटन में महान् जैनालार्य हेमचंद्र द्वारा प्रायोजित एक साहित्य-पोष्ठी में रहिमाजित हुआ था, संभवतः गाहड़वाल शासक द्वारा मनोनीत राज-प्रतिनिधि था। काशी का अधिपति, जिसने प्रसिद्ध जैन कवि अभयदेव को वादिसिंह की उपाधि दी थी, संभवतः परवर्ती गाहड़वाल शासक था। जीनपुर की लाल-दरवाजा-मस्जिद के एक स्तंभ-शीर्ष पर उत्कीर्ण अभिलेख (विक्रम संवत् १२०७ = ११५१ई०) में किसी भट्टारक भाविभूषण<sup>2</sup> का उल्लेख किया गया है जिसे उसकी उपाधि को देखते हुए एक महत्वपूर्ण जैन साकृ माना जा सकता है। वह संभवतः जीनपुर क्षेत्र के किसी जैन धार्मिक संस्थान से संबद्ध था।

उत्तर में शिवालिक से दक्षिण में चित्तूर तक और राजस्थान के विशाल मरुस्थल के पूर्वी छोर से बाराणसी तक या उससे भी कुछ आगे तक का विशाल भू-भाग चाहमान और गाहड़वाल साम्राज्यों के राज्यों में सम्मिलित था। साहित्यिक और पुरातात्त्विक उल्लेख तथा भौतिक अवशेष इसके घोतक हैं कि ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में भारत के इस हृदय-प्रदेश में जनता, राजाओं तथा सामंतों ने अनेक जैन मंदिरों का निर्माण कराया था। संभवतः ये भवन जैन कला और स्थापत्य के महत्वपूर्ण पक्षों का प्रतिनिधित्व करते थे, किन्तु इस समय हमें जो साक्ष्य उपलब्ध है, वह दुर्भाग्य से देश और काल की दृष्टि से सीमित है। राजस्थान में शाकंभरी, अजयमेर, आमेर, नागौर, पल्लू, सांगानेर और रणथम्भोर तथा दिल्लिका (दिल्ली-मेहरौली क्षेत्र) और हरियाणा के आसिका (हांसी), पिजौर तथा कुछ अन्य स्थानों के भव्य चाहमानकालीन मंदिरों का या तो कुछ पता नहीं है या उनके अवशेष इतने खण्डित अवस्था में हैं कि उनसे मंदिर के ठीक-ठीक रूप का वर्णन और उनकी स्थापत्य-विशेषताओं का विश्लेषण किया जाना असंभव है। हाँ, चौलुक्यों के सामंत नादोल के चाहमानों के शासन-काल में निर्मित कुछ महत्वपूर्ण मंदिर अब भी अपने मूल रूप में सुरक्षित बचे हैं।

1 नियोगी (रोमा), हिस्ट्री ऑफ द गाहड़वाल डायनेस्टी, 1959, कलकत्ता, पृ 82.

2 कनिष्ठम् (ए) आकृयान्त्रोजिकल सर्वे आँक इच्छिया, रिपोर्ट, 1871, 11; (पुनर्मुद्रित) बाराणसी, 1966-पृ 126।

गाहड़वाल शासन-काल में निर्मित स्मारकों की स्थिति इससे भी अधिक गयी-बीती है। गाहड़वालों के संपूर्ण राज्य (उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बिहार के कुछ भाग) में एक भी ऐसा जैन मंदिर या जाह्याण्य मंदिर अपने सही रूप में नहीं बन सका है कि जिससे उक्त राजवंश के शासन-काल में देश के उस भाग में मंदिर-निर्माण का सामान्य परिवर्त्य भी प्राप्त हो सके। जैन-भट्टानुसार, संपूर्ण भारत में भृघ देश (हरियाणा और उत्तर प्रदेश) इतनी पवित्रतम् भूमि है कि उसपर अद्धारह तीर्थकरों ने जन्म लिया था और तीर्थकर-काल बिताया था। प्राचीन काल में यह भूमि जैन संस्कृति की स्रोत-भूमि भी थी। गाहड़वालों के उत्कर्ष-काल में यही, विशेषकर हस्तिनापुर, अहिन्चन्द्र, मथुरा, कान्यकुब्ज, कौशाम्बी, वाराणसी, अयोध्या, आवस्ती आदि स्थानों तथा अन्य अनेक स्थलों पर असंख्य मंदिरों एवं अन्य पवित्र भवनों का निर्माण किया गया होगा; किन्तु आज कुछ प्रतिमाओं, खण्डित स्तंभों, अष्टं-स्तंभों या भवनों के अन्य अंगों को छोड़कर कुछ भी उपलब्ध नहीं है। इस कारण उक्त प्रदेश के मध्यकालीन जैन कला-इतिहास को ठीक-ठीक समझ पाना अत्यंत कठिन है।

### स्थापत्य

इस युग में निर्मित जैन धार्मिक भवन कई प्रकार के रहे होंगे, जैसे—मंदिर (प्रासाद), देवकुलि-काण्ड, सहस्रकूट (सामान्यतः पिरामिड के आकार की ठोस संरचना जिसपर सहस्राधिक तीर्थकर-मूर्तियाँ निर्मित होती हैं), मान-स्तंभ, निषिविकाण्ड (स्मारक-स्तंभ), मठ आदि, जिनके संबंध में हमें विभिन्न स्रोतों से जानकारी प्राप्त होती है। चाहमान राज्य संभवतः प्रभावोत्पादक चतुर्शालाओं से युक्त सुस्पष्ट लक्षणों वाले जैन भवनों से परिपूर्ण था। ये भवन उन छोटे-छोटे मंदिरों या यत्र-लत्र बनी देवकुलिकाशों के अतिरिक्त रहे होंगे जिनके सामने प्रवेश-मण्डप होते थे और वे प्राकार सहित, या बिना प्राकार के होते थे, क्योंकि इन मंदिरों का निर्माण निर्माता की क्षमता, दृच्छा और आवश्यकता के अनुसार किया जाता था।

जैन मंदिरों का सामान्य रूप जाह्याण्य मंदिरों से अधिक भिन्न नहीं होता था। ही, मूर्तियाँ अवश्य भिन्न होती थीं क्योंकि उनका निर्माण जैन धर्म के पौराणिक आत्मानों, दार्शनिक सिद्धांतों तथा संस्कार संबंधी संकल्पनाओं के अनुसार किया जाता था। वास्तुकार, राज और शिल्पी उसी वर्ग के होते थे जो विभिन्न प्रदेशों में जाह्याण्य या अन्य भवनों के निर्माण का कार्य करते थे।

इस युग के जैन मंदिर, जाह्याण्य भवनों के ही समान, क्षेत्रीय विभिन्नताओं तथा शैलीगत विशेषताओं को प्रदर्शित करते हैं। चाहमान-काल में जिन मुख्य भवन-निर्माण-शैलियों ने मंदिर-निर्माण-गति-विधि को रूप देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी वे राजस्थान की उस मूल भवन-निर्माण-परंपरा से जुड़ी थीं जिनका सीधा संबंध एक और प्रतीहार वास्तु-स्मारकों से था और दूसरी ओर गुजरे देवकोठों की शैली से। पूर्वी भागों की सादगीपूर्ण स्थानीय शैली का अनुकरण भी अतिरिक्त रूप से होता

1 ढाकी (एम ए). महरवीर जैन विज्ञान शोलेन जुबसी वॉस्ट्रॉम. 1968. बन्दर्दि. पृ 306 तथा परदर्ती।

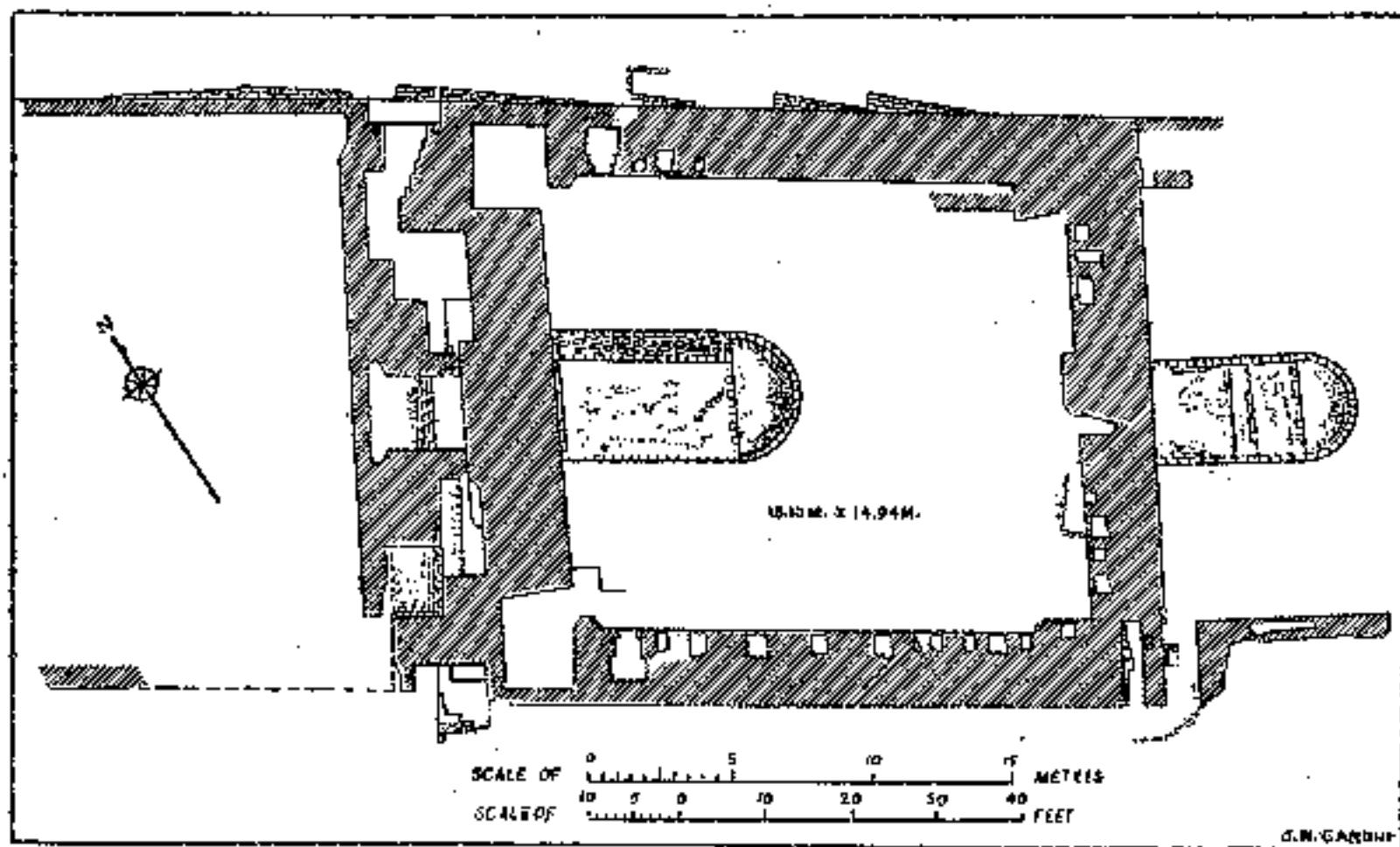
था। यह भी संभव है कि मालवा-दक्षिण के स्थापत्य की परंपरा से संबंधित कुछ मंदिरों का प्रभाव किसी सीमा तक राजस्थान पर भी पड़ा हो। मूल राजस्थानी शैली भव्य, कल्याणकारी किन्तु संयत अलंकरण से युक्त तथा श्रेष्ठ कला-कौशल-संपन्न है। अनेक स्थलों पर तो मध्यकालीन मंदिरों में, विशेषकर उन मंदिरों में जिनका निर्माण प्रौढ़ चाहमान-काल में हुआ, इन निर्माण-शैलियों का मोहक सम्मिलन देखा जा सकता है। इन शैलियों में, सर्वाधिक प्रभावशाली शैली गुजरात देश की भव्य अलंकरण-शैली सिद्ध हुई जो अपनी उद्यगम-भूमि से बहुत दूर मध्य देश तक पहुँच गयी, यद्यपि उसमें कुछ परिवर्तन भी हुआ। छाकी<sup>1</sup> ने यह ठीक ही कहा है कि : “दोनों ही शैलियाँ, महागुजरात और महामारु, अधिक समय तक पृथक् और एक दूसरे से अप्रभावित नहीं रह सकीं। एक-दम तो नहीं, किन्तु रसाकर्षण की वीमी पर निश्चित रूप से उन्नतिशील प्रक्रिया के परिणाम-स्वरूप, दोनों शैलियों ने पहले तो विचारों का आदान-प्रदान किया और बाद में वे ‘गहन परिणय-शैलिगन’ में बद्ध हो गयीं, जिसके फलस्वरूप वे एक दूसरे में समाहित होती गयीं तथा ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में एक पूर्णसः सम्मिलित, प्रभावशाली, अत्यधिक अलंकृत, संकर किन्तु असाधारण रूप से मानकीकृत शैली—मारु-गुजर—का प्रादुर्भाव हुआ। विशिष्ट रूप से इस नयी शैली में यत्रन्तत्र स्थानीय स्वरूप भी भलकरता था जिसमें कहीं तो महा-मारु और कहीं महा-गुजर शैली की विशेषताएँ अधिक उभरती थीं। यह शैली पश्चिम भारत के अधिकांश भाग में समान रूप से फैलती गयी।”

चाहमान-मंदिरों की सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं: पंचरथ शिखर-युक्त गर्भगृह (मूल प्रायाद), द्वार-मण्डप, प्राकार-युक्त संलग्न मण्डप (सामान्यतः बंद), स्तंभों से युक्त अंतःभाग जिसकी छतें (विसान) अलंकृत होती थीं, तथा प्रवेश-मण्डप। कहीं-कहीं मंदिरों में तोरण या अलंकृत चौखटें भी हुआ करती थीं। चाहमान-युग के जैन तोरण का एक उत्कृष्ट उदाहरण चौदहवें अध्याय में वर्णित श्रोसिया स्थित प्रसिद्ध महावीर-मंदिर में देखा जा सकता है, जहाँ शिखरों की सज्जा छोटे-छोटे शृंगों के समूह से की गयी है जो कर्ण, भद्र (केंद्रीय) तथा भवन के अन्य स्तरों से ऊपर उठे हुए हैं। जो भी हो, गर्भगृह के ऊपर अंग-शिखरों से रहित एकाकी शिखरों के उदाहरण भी मिलते हैं। विभिन्न कटावदार स्थलों (जिनमें प्रक्षिप्त त्रिकोण-शीर्ष भी सम्मिलित हैं) से निर्मित शिखरों का अलंकरण अधिकांशतः भूमि-विभाजनों तथा अंतर्ग्रंथित अंकनों द्वारा किया गया है; विशेषकर उन शिखरों का जिनपर गुजर-निर्माण-कला की छाप है या ठीक-ठीक कहा जाये तो, जैसा कि छाकी ने सुझाया है, उन शिखरों का जो कि मारु-गुजर शैली में बनाये गये हैं। किन्तु इस युग में विशुद्ध राजस्थानी शैली के नमूने अपनी संयत मूर्ति-सज्जा के साथ कदाचित् अधिक प्रभाव-शाली बने रहे। इनमें जंघा के ऊपर आवार-धारी हाथी, मानवमूर्ति-पट्ट तथा दण्डछाया नहीं होते थे। भवनों तथा मण्डपों की छतों पर सुंदर संकेतित स्तरोंवाला उरेखन-युक्त आकर्षक विन्यास होता था। इन बगों के मंदिरों के स्तंभों को दो समूहों में बाँटा जा सकता है:

1 वही, पृ. 311.

एक तो वे जिनमें अलंकृत तथा सघन मूर्त्येकन हैं; और दूसरे वे, जिनका रूप पारंपरिक है और जिनमें स्तंभावली पर तथा उससे ऊपर शुंखलायुक्त घण्टिका, चतुर्भुजी टिकिया आदि लोकप्रिय कला-प्रतीकों का निर्भकि किन्तु सीमित अलंकरण है। कुछ स्तंभ तो सपाट भुजाओं वाले एवं सादे हैं। राजस्थान और दिल्ली (कुतुब क्षेत्र में) के जैन मंदिरों के कुछ अवशेषों में परवर्ती शैली के उदाहरण देखे जा सकते हैं।

गाहड़वाल-युग की जैन स्थापत्य-कला का अध्ययन कठिन है क्योंकि इसके लिए हमारे पास श्रावस्ती स्थित शोभनाथ (संभवनाथ) मंदिर-स्थल (रेखाचित्र १२) से प्राप्त अत्यंत अतिश्वस्त, इंट निर्मित भवन के अतिरिक्त और कोई सामग्री वास्तव में है ही नहीं। बटेश्वर (जिला आगरा) तथा पारसनाथ (बिजनौर) से प्राप्त जैन मंदिर के पुरावशेषों से हमें उक्त युग की मंदिर-निर्माण-



रेखाचित्र १२. श्रावस्ती : शोभनाथ-मंदिर की रूपरेखा (बोगेज के अनुसार)

कला की समझने में सहायता नहीं मिलती। बटेश्वर के एक ऊचे टीले के बारे में कालाइल<sup>1</sup> ने एक महत्वपूर्ण विचार प्रकट किया है : “मैं तुरंत यह जान गया कि अनेक खाइयों के अवशेषों तथा उसपर और उसके आसपास भिस्तियों की नींव के अवशेषों से युक्त यह टीला अत्यंत प्राचीन

1. बोगलर (जे डी) तथा कालाइल (ए सी). आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, रिपोर्ट, 1871-72, खण्ड 4. (पुनर्मुद्रित वाराणसी), 1966. पृ 266.

मंदिरों (संभवतः प्राकारयुक्त मंदिरों) का स्थल रहा होगा।” इस टीके से एक जैन चौमुख, बालक को लिये हुए महिला (अंबिका?) की मूर्ति, तीर्थकर मूर्तियों के शीर्ष तथा छवि भी उपलब्ध हुए थे। क्या इससे यह आभास नहीं मिलता कि प्राकार-युक्त यह ऊँचा टीला मध्ययुगीन जैन मंदिर रहा होगा? मध्ययुग में उत्तर-भारत के ब्राह्मण या ब्रौद्ध मंदिरों के बारे और ऊँचे प्राकार नहीं हुआ करते थे।

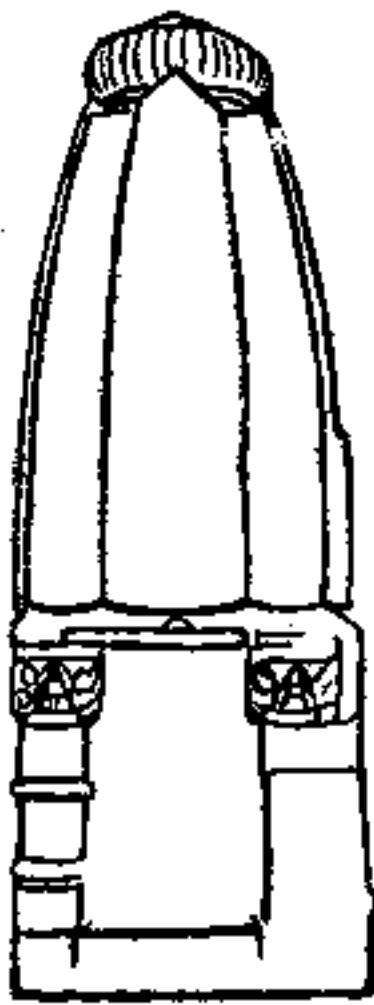
इंट सदा ही गंगा-यमुना घाटी की मुख्य निर्माण-सामग्री रही है, क्योंकि उसे बनाना सरल है। पत्थर केवल उसके निकटवर्ती क्षेत्रों, यथा, हिमालय की पहाड़ियों, दिल्ली और मथुरा के निकट अरावली पर्वत के विस्तार, दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व में वाराणसी तक विध्य पर्वत-श्रेणियों में ही पाया जाता था। गाहड़बाल-युग के अधिकांश मंदिर, चाहे वे ब्राह्मणों के हों, अथवा जैनों के, इंटों से ही बनाये गये होंगे और इस प्रकार के मंदिरों का विकास-क्रम पत्थरों से निर्मित मंदिरों की संरचना से भिन्न रहा होगा। उनके कुछ प्रकारों, जिनकी रचना कोणीय (चतुष्कोणीय, अष्टकोणीय, दशकोणीय तथा षोडशकोणीय) या वर्तुलाकार हुआ करती थी, का ज्ञान सारनाथ स्थित धर्मचक्र-जिन-बिहार के अतिरिक्त, इस युग से पूर्व फतेहपुर, कानपुर और सुलतानपुर जिलों में। निर्मित इंटों के मंदिरों से प्राप्त किया जा सकता है। नये मंदिरों के निर्माण में पूर्व-निर्मित इवस्त भवनों की सामग्री का उपयोग युक्त रूप से किया जाता था। इस तथ्य की पुष्टि श्रावस्ती-स्थित शोभनाथ-मंदिर के अष्टशेषों से भी होती है। भवन के अलंकरण के लिए ढली हुई तथा उत्कीर्ण इंटों का प्रयोग सामान्य रूप से किया जाता था।

पाषाण-निर्मित मंदिरों के स्वरूप की कुछ जानकारी इलाहाबाद संग्रहालय (रेखाचित्र १३) में संगृहीत पाषाण-निर्मित एक लघु देवकुलिका से प्राप्त की जा सकती है। उसकी तिथि ग्यारहवीं शताब्दी मानी गयी है<sup>१</sup>। देवकुलिका की रूपरेखा से ज्ञात होता है कि जहाँ तक शिखर का संबंध है उसके शैली-परिवार का संबंध खजुराहो के आदिनाथ और वामन-मंदिरों से है।

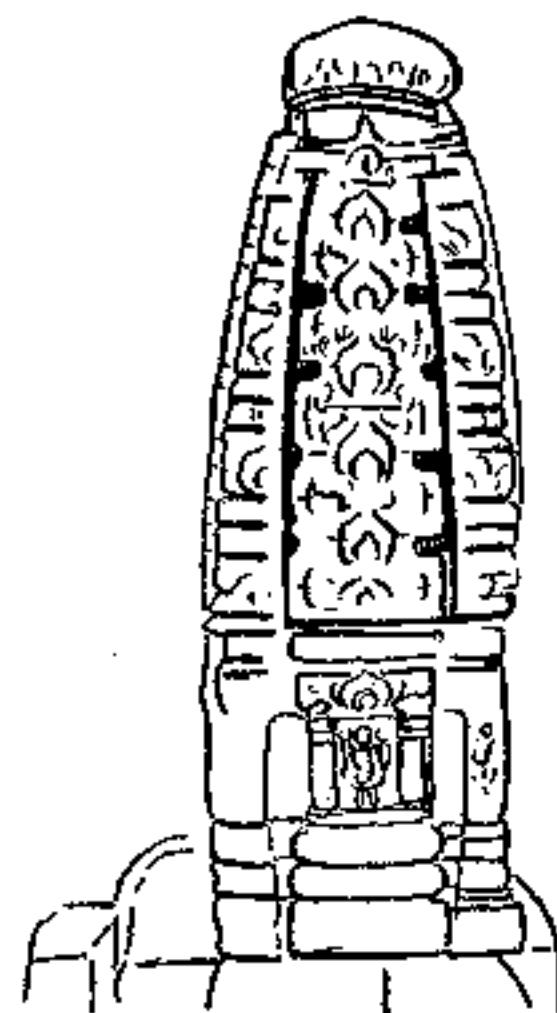
इलाहाबाद संग्रहालय में एक और देवकुलिका की अलंकृत प्रतिकृति है (रेखाचित्र १४), जिसकी तिथि दसवीं शताब्दी मानी गयी है। एक और तो यह प्रतिकृति प्रतीहार-शैली के मूल-प्रासाद से निकट रूप से संबंधित जान पड़ती है, वहीं दूसरी और वह आगामी युग के शिखर-युक्त गर्भगृह के लिए एक भावी आदर्श रहा है। इसका प्रमाण हमें अल्मोड़ा जिले के द्वारहाट नामक स्थान के मण्डि-मंदिर-समूह में लगभग चौदहवीं शती की जैन देवकुलिकाओं के रूप में मिलता है। गाहड़बालों की मंदिर-निर्माण-शैली पर संभवतः, अल्प सीमा तक ही सही, राजस्थान, मध्यभारत और यहाँ तक कि बिहार की कला-परंपराओं का प्रभाव पड़ा था। किन्तु मूल-प्रासाद के संबंध में ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतीहार-शैली कुछ परिवर्तनों के साथ जारी रही; परन्तु उसमें कुछ ऐसी बोझिलता आ गयी कि अंत

1. जोशी (एम सी). भारती, ब्रूनेटिन आफ द कॉलेज आफ इंडोलांडी, बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी, ८, १; पृ. ६६ तथा परवर्ती।

2. प्रमोदचंद्र. स्टोन स्कल्पर इन दि इलाहाबाद न्यूज़ियम्. १९७१ (?). पृष्ठा. चित्र १७४.



रेखाचित्र 13. इलाहाबाद संग्रहालय :  
देवकुलिका (प्रमोदचंद्र के अनुसार)



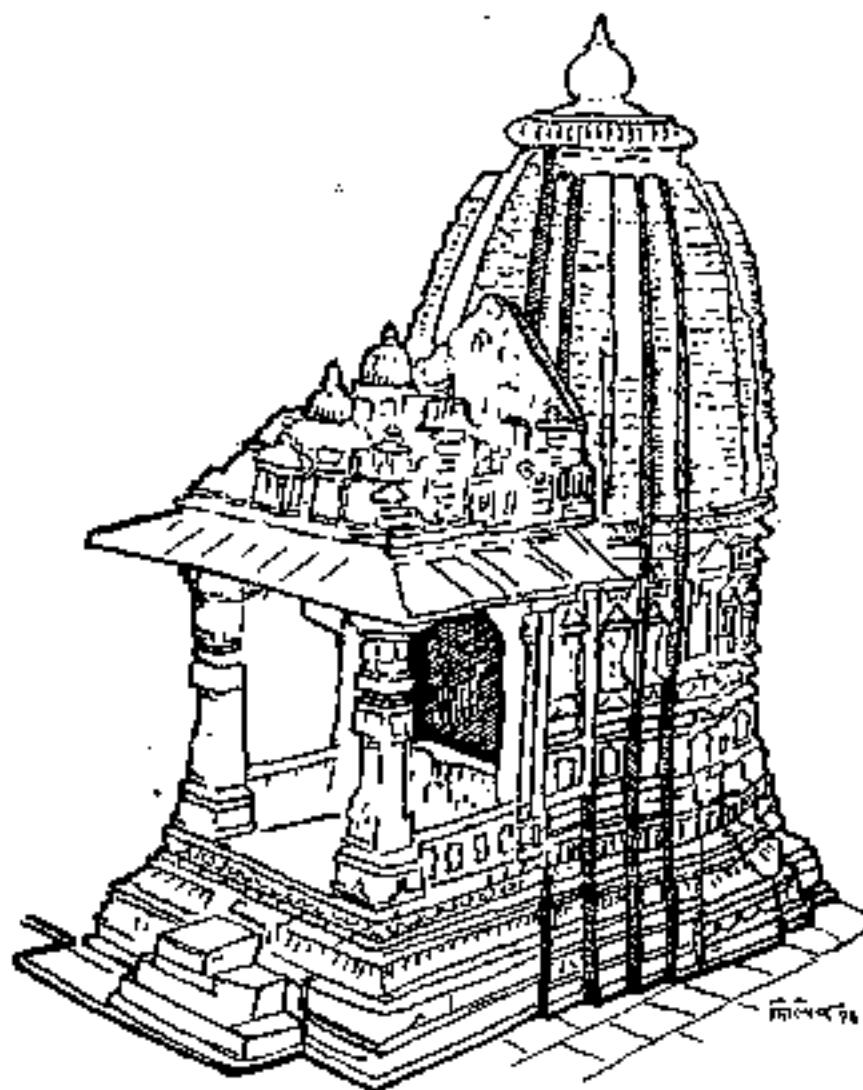
रेखाचित्र 14. इलाहाबाद संग्रहालय : मंदिर  
(प्रमोदचंद्र के अनुसार)

में वह विसी-पिटी शैली ही रह गयी। इन मंदिरों में कदाचित् मण्डप और स्तोभ-युक्त कक्ष हुआ करते थे, किन्तु उनके आकार और निर्माण-विवरणों के बारे में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

### मंदिर

चाहमान साम्राज्य के अंतर्गत अनेक जैन मंदिरों का निर्माण किया गया था। जैन साहित्य और समसामयिक शिलालेखों में इस प्रकार के भवनों के अनेक उल्लेख मिलते हैं। मंदिरों के अवशिष्ट भागों एवं अवशिष्ट मूर्तियों से भी यह संकेत मिलता है कि इस अवधि में अनेक जैन मंदिर विद्यमान थे। दुभिष्यवश, अधिकांश चाहमान मंदिर और अन्य भवन परखर्ती काल में नष्ट कर दिये गये और जो बचे रहे वे भी जीर्णोद्धार या नवीनीकरण की प्रक्रिया में इतने परिवर्तित हो गये कि उन्हें पहचानना कठिन है। इस अवधि की जैन निर्माण-कला का कदाचित् एक मात्र अच्छा उदाहरण ओसिया (प्राचीन उपकेश) स्थित प्रसिद्ध महाबीर-मंदिर-समूह (रेखाचित्र १५) में देखा जा सकता है। इस स्थान का उल्लेख सिद्धसेन-सूरि के सकल-तीर्थ-स्तोत्र में एक जैन तीर्थ-स्थान के रूप में किया गया है। यह मंदिर अपने मूलरूप में प्रतीहार शासक वत्सराज (७८३-७६२ ई०) के शासनकाल में बना था। इसमें

प्रदक्षिणा-पथ सहित गर्भगृह, द्वार-मण्डप, गूढ़-मण्डप, मुख-मण्डप और एक मुख-चतुष्कोणी थे। किन्तु सन् १५६ में उसका प्राचीन रूप से जीर्णोद्धार किया गया। मुख्य मंदिर के आसपास की देवकुलिकाएँ, मुख्य शिखर और एक तटेरण घ्यारहवीं शताब्दी में जोड़े गये। मूल गर्भगृह केवल कपोत-स्तर तक ही सुरक्षित रह सका है, जबकि कंगूरों की तीन पंक्तियों के समूह से युक्त शिखर का 'आगे चलकर राजस्थान की विकसित मध्यकालीन शैली में पुनरुद्धार किया गया है।<sup>1</sup>



रेखाचित्र 15. ओसिया : महावीर-मंदिर-समूह की एक देवकुलिका

इन अतिरिक्त निर्मितियों के होते हुए भी, मंदिर में एक प्रकार की रचनात्मक संगति रह सकी है। निकटवर्ती देवकुलिकाओं के अंग-विन्यास में सामान्यतः प्रवणित पीठ, जैन देवताओं की मूर्तियों से अलंकृत जंधा, छज्जों से युक्त मुख-चतुष्कोणी, अलंकृत छतें तथा अंतःभाग रहे हैं। फिर भी जैसा कि ढाकी<sup>2</sup> का विचार है, इनके सूक्ष्म निर्माणात्मक परीक्षण से यह ज्ञात होता है कि ये घ्यारहवीं शताब्दी के विभिन्न चरणों में निर्मित किये गये थे। अलंकरण पक्षों के अतिरिक्त, उक्त मूर्तियाँ अपने युग की जैन मूर्तिकला के वैविध्य का सुंदर उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

1 कृष्णदेव, टेक्स्प्रेस ऑफ नार्टन इण्डिया, 1969, नई दिल्ली, पृ 31.

2 ढाकी, पूर्वोक्त, पृ 319 तथा परवर्ती।

इन मूर्तियों में तीर्थकर, विद्यादेविर्या, अप्सराएँ, दिव्याल आदि सम्मिलित हैं। स्थापत्य की दृष्टि से इन देवकुलिकाओं पर पर्याप्त गुर्जर प्रभाव है। इनसे भी प्राचीन मूर्तियों में अब भी प्राचीन राजस्थानी (मारु) शैली की विशेषताएँ पायी जाती हैं (चित्र १४३)।

सन् १०१५ में निमित अलंकृत तोरण में प्रचुर संख्या में मूर्तियों से युक्त दो स्तंभ हैं, जो एक महापीठ पर बनाये गये हैं। इनपर पश्चिम भारतीय प्रकार की विशेष गोटे हैं, जिनमें गज-स्तर और तर-स्तर सम्मिलित हैं और वे सरदल को आधार प्रदान करते हैं (चित्र १४४)। सरदल पर बेलबूटे तथा अन्य अलंकरण-प्रतीक उत्कीर्ण हैं। उसपर धारीदार चंदोबा है और उसके तबसे ऊपर केंद्र में एक त्रिकोण तिलक है जिसमें तीर्थकर की प्रतिमा और उसके दोनों ओर एक अलंकृत चौखटे के भीतर मोर उत्कीर्ण हैं। इस चौखटे के पास्त्रे में प्रत्येक और एक-एक गीण तिलक भी उत्कीर्ण है। स्तंभ-दण्डों पर सीधी अलंकृत धारियाँ उत्कीर्ण हैं जिनमें तीर्थकरों एवं विद्याधरों की मूर्तियाँ शक्ति हैं। इस युग में तोरणों को मुख्य भवन का महत्व बढ़ानेवाले साधन के रूप में माना जाता था। सन् ११६६ के एक राजस्थानी शिलालेख में मंदिर को उत्तुग-तोरण-प्रासाद कहा गया है।

इस प्रकार उबत महाबीर-मंदिर प्रतीहार से बाहमान-युग तक की जैन मंदिर-निर्माण-शैली के विकास-क्रम का उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस संबंध में छाकी<sup>1</sup> का मत सर्वाधिक महत्वपूर्ण है: “इस ओसिया-मंदिर-समूह का योगदान जैन कला और स्थापत्य के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह उसका प्रारंभिक सीमा-चिह्न होने के साथ ही हमें कला-कौशल की महत्वपूर्ण जानकारी देता है। मुख्य मंदिर जो महाबाहु स्थापत्य का मुद्रण नमूना है, जैन शैली के त्रिक-मण्डप या मुख्य-मण्डप का प्राचीनतम उदाहरण प्रस्तुत करता है। मंदिर-अलंकरण-शैली के परिप्रेक्ष्य में जैन मूर्ति संबंधी उसकी अतिशय समृद्धि अबतक ज्ञात मंदिरों में सब से प्राचीन है। स्वयं देवकुलिकाएँ ही स्थापत्य की सर्वोत्कृष्ट लघु मूर्तियाँ हैं और वे विकासाधीन पश्चिमी शैली के और अधिक विकास की जानकारी देती हैं। इसके साथ ही वे जैन मूर्तिकला में हुई उन्नति का भी उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। इस तथ्य से कि वे आठवीं शताब्दी में नहीं बनायी जाती थीं और वे संख्या में कम हैं तथा प्रत्यक्ष ही निमित हैं, सम्मिलित रूप में नहीं, यह आभास हो सकता है कि मंदिर-विन्ध्यास की जैन शैली आठवीं शताब्दी में अज्ञात थी और यारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में भी उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था क्योंकि वह मूल विन्ध्यास से बेमेल है। जैन मंदिरों की गौरव-कृति, रंग-मण्डप (नृत्य-भवन) का भी अभी प्रादुर्भाव नहीं हुआ था।”

**संभवतः** बारहवीं शताब्दी के लगभग मुख्य मंदिर के आसपास देवकुलिकाओं का निर्माण कर उत्तरके सौंदर्य एवं महत्ता को बढ़ाने की पद्धति राजस्थान के जैनों में बहुत सोकप्रिय हो गयी थी, जैसा कि बिजोलिया (प्राचीन विध्यावली) के एक शिलालेख से ज्ञात होता है। इस पुरालेख में यह उल्लिखित

1 बही, पृ 326-27.

है कि लोलिंग या लोल्लक ने, जो पोरबाड़ महाजन था, पाश्वनाथ का एक मंदिर तथा उसके साथ सात छोटे मंदिर बनवाये थे। यह संभव है कि इन सात देवकुलिकाओं में से चार मंदिर-प्रांगण के चारों कोनों में बनवायी गयी हों तथा वे उसकी तीन भुजाओं में से प्रत्येक के केंद्र में निर्मित की गयी हों। संभवतः मुख्य मंदिर के सामने एक द्वार रहा होगा। यह बात व्यान देने योग्य है कि बिजोलिया में पंचायतन प्रकार का एक पाश्वनाथ-मंदिर है, जिसपर किसी तीर्थयात्री ने विक्रम संवत् १२२६ (११६६ ई०) का यात्रा-वृत्तांत उल्कीर्ण कर दिया है। किन्तु उसका शिल्प-कौशल उच्च कोटि का न होने के कारण विद्वान् उसे लोल्लक या लोलिंग द्वारा निर्मित नहीं मानते। पुरालेख में यह भी कहा गया है कि लोल्लक के पूर्वजों ने टोडाराधसिंह, भगेरा, नरेना, नरवर और अजमेर में जैन मंदिरों का निर्माण कराया था। उपर्युक्त मंदिरों में से कोई भी मंदिर इस समय विद्यमान नहीं है किन्तु इन स्थानों में से अधिकांश स्थलों पर पायी जानेवाली मध्यकालीन जैन प्रतिमाएँ तथा अन्य अवशेष यह सूचित करते हैं कि इनका महत्व जैन तीर्थों के रूप में था।

चाहमान-युग के एक जैन मंदिर के अवशेष मारबाड़ के जैन तीर्थ फलोधी, (प्राचीन फल-वधिका) में भी पाये गये हैं। यहाँ लगभग ११४७ में पाश्वनाथ का एक मंदिर बनाया गया था, उसकी प्रतिष्ठापना बादिदेव-सूरि ने करायी थी। शीघ्र ही मुस्लिम आकाशकों ने इसे नष्ट कर दिया किन्तु बाद में संभवतः इसका जीर्णोद्धार किया गया है। यह विचार व्यक्त किया गया कि जीर्णोद्धार-उत्तर जिनपाल-सूरि<sup>1</sup> ने संपन्न कराया था। मंदिर में पढ़े हुए एक संगमरमर-स्तंष्ठ पर उत्कीर्ण अभिलेख (विक्रम संवत् १२२१) में यह उल्लेख है कि फलवधिका स्थित पाश्वनाथ-मंदिर की चण्डक ने, तथा पोरबाड़ रोपिमुति और घण्डारी दसाड़ ने श्री-चित्रकूटीय-शिलाफट का दान किया था। एक अन्य पुरालेख में सेठ मुनिचंद्र द्वारा उत्तान्न-पट्ट के निर्माण का उल्लेख किया गया है। इसमें संदेह नहीं कि फलोधी स्थित मंदिर में परवर्ती जीर्णोद्धार और पुनःप्रतिष्ठा (चित्र १४५) के निल्ह विद्यमान हैं, तथापि उसमें अपनी अनेक संरचनात्मक विशेषताएँ सुरक्षित रह सकी हैं, यथा मूल-प्रासाद, द्वार-मण्डप और गूढ़-मण्डप। यह बारहवीं शताब्दी के विकसित मंदिरों के दर्ग में आता है और उसके पश्चिम-भारतीय तत्त्व सुस्पष्ट हैं। मण्डप अपेक्षाकृत सादगीपूर्ण है किन्तु मूल-प्रासाद की संरचनात्मक विशेषताएँ आकर्षक हैं।

कुछ विद्वानों का यह मत है कि अजमेर स्थित मस्जिद, अहाई-दिन-का-भोपड़ा, मूल रूप से एक जैन मंदिर था। अपने मत के समर्थन में वे यह विचार प्रकट करते हैं कि इस मस्जिद के पास और उसके भीतर जैन मूर्तियाँ पायी गयी थीं। कुछ लोग उसकी पहचान उस जैन मठ से करते हैं जो राज-विहार के नाम से विख्यात था तथा जिसपर विग्रहराज ने झण्डा फहराया था। कजिन्स ने इस मठ का यद्यपि दृढ़ता से खण्डन किया है, तथापि यह स्वीकार किया जा सकता है कि मस्जिद के परिवर्तित रूप में भी उसकी संरचना चतुष्कोण जैन मंदिरों तथा उनकी अंलकृत छतों (चित्र १४६) से मिलती-जुलती है। स्तंभों का रूपांकन सबल है और उसमें सुस्पष्ट अलंकरण-योजना है (चित्र १४७)।

1 (जैन) कैलाशचंद्र, एंगियेट लिटोज एंड टाइपस एंड राजस्थान, 1970, दिल्ली, पृ 426.

आमेर में भण्डारकर<sup>1</sup> को तीन ऐसे जैन मंदिरों का पता चला जो मूल रूप से जैन मंदिर थे, किन्तु बाद में उन्हें शिव मंदिरों का रूप दे दिया गया। इनमें से सबसे प्राचीन लालशाह-कान्मंदिर जान पड़ता है। इसमें गूढ़-मण्डप सहित तीन मंदिर एक दूसरे के निकट स्थित हैं। मंदिर तथा मण्डप के सरदलों और चौखटों पर तीर्थंकरों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं।

यहाँ सांगानेर स्थित सिधीजी के मंदिर का भी उल्लेख करना आवश्यक है। इस भवन के महत्वपूर्ण अंग सुरक्षित रह पाये हैं। इस मंदिर की महत्वपूर्ण विशेषताओं में हैं—दो बड़े कक्ष, शिखर-युक्त गर्भगृह, सुसज्जित द्वार और मूर्त्यकन-युक्त अंतःभाग, जिसमें देवताओं की आकृतियाँ तथा अलंकरण-प्रतीक अंकित हैं। इसमें चाहमान-युग की पाषाण-प्रतिमाएँ तथा शिलालेख हैं। इससे पश्चिमी राजस्थान एवं गुजरात के चौलुक्य-मंदिरों का समरण हो आता है। जो भी हो, भण्डारकर ने उसे परवर्ती काल का माना है। अलवर जिले के नीलकण्ठ नामक स्थान में, जिसका उल्लेख पूर्ववर्ती काल के मंदिर-अवशेषों तथा मूर्तियों के संदर्भ में लिपि किया जा चुका है (अध्याय १४), इस काल के मूर्ति-युक्त वास्तु-वर्ण भी विद्यमान हैं (चित्र १४८ क), जिनपर पश्चिमी भारत का कुछ ग्राफ़ ग्राफ़ है।

दिल्ली या ढिल्लिका चाहमान-काल में एक महत्वपूर्ण राजनीतिक और धार्मिक केंद्र था। यहाँ अनेक जैन मंदिर थे, जिनमें पार्श्वनाथ का एक विशाल मंदिर भी था। कुब्बतुल-इस्लाम-मस्जिद के अवशेषों के दक्षिण-पूर्वी कोने में एक जैन मंदिर के स्पष्ट अवशेष हैं, जिसमें सादे स्तंभ तथा अधं-स्तंभ पंक्तिवड निर्मित किये गये हैं और जिनमें से कुछ पर तीर्थंकरों की मूर्तियाँ बनी हुई हैं। इसके ऊपरी तल पर तीर्थंकरों, सेवकों तथा पशुओं की चित्र-बल्लरी से युक्त अलंकृत छतें अब भी सुरक्षित हैं। जो भी हो, वास्तु-अवशेषों तथा मूर्तियों से यह संकेत मिलता है कि दिल्ली में और भी सुंदर जैन मंदिर थे। हांसी (आसिका) में भी जैनों के धार्मिक प्रतिष्ठान बनाये गये थे, ऐसा प्रतीत होता है। चाहमान-युग के अंत में इनमें जो एक और वृद्धि हुई, वह थी पार्श्वनाथ-जिनालय की। जिनपति-मूरि ने उसकी प्रतिष्ठा की थी। पिंजोर (पंचपुर) में, जो चाहमान-राज्य में सम्मिलित था, बीकानेर-क्षेत्र की मूर्तियों के सदृश जैन अवशेष तथा अन्य खण्डित वस्तुएँ पायी गयी हैं, जिनसे यह आभास मिलता है कि भृथकाल में वहाँ जैन मंदिर थे। कांयड़ा के किले में भी अनेक जैन प्रतिमाएँ पायी गयी हैं, जिनसे यह धारणा बनती है कि पश्चिमी हिमालय की पहाड़ियों के अंतःवर्ती क्षेत्र में भी जैन मंदिर विद्यमान थे।

अनेक जिनालयों के सामने संभवतः मान-स्तंभ हुआ करते थे और सर्वतोभद्र जैन प्रतिमाएँ इन मान-स्तंभों के शीर्ष का काम देती होंगी।

1 आकृथांकिकल सर्वे आँक इण्डिया, (वेस्टर्न सर्किल), प्रोफेसर रिषोर्ट, 1909-10, पृ. 47.

शाह<sup>1</sup> के बिजार से आठ तलोंवाला चितौड़गढ़ स्थित कीर्तिस्तंभ, जिसकी ऊँचाई लगभग २४.३८ मीटर है, अपने मूल रूप में सन् ११०० के लगभग बनाया गया था और सन् १४६० के लगभग उसकी भरम्मत की गयी थी। यह स्तंभ दिगंबर जैनों से संबंधित है। उसमें सब से ऊपर के मष्डप में चौमुखी प्रतिमा थी।

राजस्थान में किशनगढ़ के पास रूपनगर नामक स्थान में ढी० आर० भण्डारकर को तीन स्मारक-स्तंभ या निषिधिकाएँ प्राप्त हुई<sup>2</sup>। इनमें से एक पर विक्रम संवत् १०१८ (सन् ६६१) उत्कीर्ण है और उसके ऊपर एक तीर्थकर-प्रतिमा है। उसपर जो पुरालेख है, उसमें यह उल्लेख है कि यह मध्यसेनाचार्य को निषिधिका है। इससे मेरी मध्यसेनाचार्य का उल्लेख है। तीसरी में पद्मसेनाचार्य का नाम उल्लिखित है और उनकी मृत्यु की तिथि १०१६ दी गयी है।

जैसाकि पहले बताया जा चुका है (पृ २४४) गाहड़वालों के शासन-काल के मंदिर-स्थापत्य के संबंध में हमें बहुत कम जानकारी प्राप्त है। मथुरा, हरद्वार<sup>3</sup>, पारसनाथ (जिला विजनौर), हस्तिनापुर, बटेश्वर, चंद्रवार, कौशाम्बी, श्रावस्ती आदि स्थानों से बर्तमान में जो मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, उनसे यही संकेत मिलता है कि ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में बहुत बड़े स्तर पर गंगा-यमुना घाटी में जैन मंदिरों का निर्माण कराया गया था। किन्तु उनकी रूपरेखा और उठान के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

श्रावस्ती स्थित शोभनाथ-मंदिर भी उत्खनक को विभिन्न युगों के ईंट निर्मित भवन के ढेर-रूप में मिला था<sup>4</sup>। उक्त मंदिर के पूर्वी भाग में एक आयताकार प्रांगण (१८.१०×१४.६४ मी०) था और वह भग्न-ईंटों की एक भोटी भित्ति (२.३६×२.७४ मीटर) से वेष्टित था। ईंट-संरचना में बहुत-सी शिल्पांकित ईंटों का प्रयोग बिना किसी योजना के किया गया था। प्रांगण के चारों ओर की भित्तियों के भीतरी भाग में कदाचित् मूर्तियाँ रखने के लिए आले (देवकोष्ठ) बने हुए थे। सामने की ओर सीढ़ियों के तथा पीछे की ओर गर्भगृह की निर्मितियों के चिह्न थे (रेखाचित्र १२)। मंदिर के गर्भगृहों में से एक में गोमेघ तथा श्रंबिका के अतिरिक्त आदिनाथ तथा अन्य तीर्थकरों की मूर्तियाँ मिली थीं। इसकी निर्माण-तिथि बारहवीं शताब्दी का उत्तराधीन हो सकती है।

1 शाह (यू. पी.), स्टडीज इन जैन आर्ट, 1955, वाराणसी, पृ 23. / प्रध्याय 25 भी द्रष्टव्य।

2 श्राव्यांलंगिकल सर्वे भाँक इष्टिया (वेस्टने सर्किल) श्रोत्रेस रिपोर्ट, 1910-11; पृ 43.

3 कनिष्ठ (ए) श्राव्यांलंगिकल सर्वे भाँक इष्टिया, रिपोर्ट, 1863-65; 1972. (पुनर्दृष्टि) वाराणसी, पृ 234.

4 बोगेल, (ज. क.) श्राव्यांलंगिकल सर्वे भाँक इष्टिया, एम्प्रेस रिपोर्ट, 1907-08; 1911. कलकत्ता, पृ 113.

एक मध्यकालीन (मुस्लिम-पूर्व) जैन मंदिर के अवशेष अतरंजीखेड़ा<sup>1</sup> या जैन मंथों के अतरंजीय नामक नगर में किये गये उत्खनन में पाये गये थे। उसमें एक गर्भगृह और पाश्ववर्ती खण्ड थे, तथा वह संभवतः सुपाश्वनाथ का मंदिर था, जैसा कि उत्खनन के समय वहाँ प्राप्त प्रतिमा से ज्ञात होता है। हस्तिनापुर में कुछ दशाब्दियों पूर्व प्राप्त शांतिनाथ की एक विशाल प्रतिमा पर ११७६ ई० का एक शिलालेख है, जिसमें यह उल्लेख है कि यह प्रतिमा अजमेर के देवपाल सोनी ने दान में दी थी। कायोत्तर्ग-मुद्रावाली यह प्रतिमा हस्तिनापुर में किसी नवनिर्मित या जीर्णोद्धार किये गये मंदिर में प्रतिष्ठित की थी थी। हरदार में तीर्थकरों तथा यक्षियों की जो जैन मूर्तियाँ मिली हैं, उनसे यह संकेत मिलता है कि मध्यकाल में इस ब्राह्मण्य तीर्थ में भी जैन मंदिर थे। आगरा के निकट चंदवार से प्राप्त बारहवीं और बारहवीं शताब्दियों की दस-बारह से अधिक मूर्तियाँ निस्संदेह यह प्रमाणित करती हैं कि गाहड़वाल-युग में इस स्थान पर कभी से कैम एक विशाल जिनालय का निर्माण हुआ होगा। जैसाकि पहले कहा जा चुका है (पृ० २५३), बटेश्वर में भी इस युग के कुछ ईट-निर्मित भवनों तथा जैन मूर्तियों के अवशेष पाये गये हैं। कंकाली-टीले की अभिलेखांकित एवं अनभिलेखांकित जैन मूर्तियों से भी इस युग में मथुरा में जैन संस्थानों की विद्यमानता का पता चलता है। इस नगर में श्वेताबर और दिगंबर दोनों ही के मंदिर थे।

### मूर्तिकला और कला

इस युग में जैन कला अपने विकास के सर्वाधिक जटिल और रूपात्मक चरण से होती हुई निकली। कलात्मक और मूर्ति निर्माणात्मक विकास में शिल्पियों एवं उनके संरक्षकों के अतिरिक्त भ्रमणशील जैन मुनियों तथा व्यापारियों ने महत्वपूर्ण योगदान किया। ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक पथों और उप-पथों ने भी कला के लिए अनुकूल कारण प्रदान किये। तंत्र और तांत्रिक प्रतीकवाद ने भी, जिनका जैन धर्म में पहले ही प्रवेश हो चुका था, मूर्ति-निर्माण संबंधी संकल्पनाओं की वृद्धि में और अधिक सहायता की। कभी-कभी जैनों ने भी ब्राह्मण्य देवताओं को अपने अनुकूल बना लिया और उनकी उपासना की।<sup>2</sup> बारहवीं शताब्दी के अंत तक, एक ब्राह्मण्य देवता को भी—जिसके संबंध में यह विश्वास किया जाता है कि उसने दिल्ली में प्रसिद्ध जैन मुनि जिनचंद्र-सूरि की प्रेरणा से मौस को अपनी अचैता में न लेने का क्रत ले लिया था—अतिबल के नाम से उक्त स्थानीय पाश्वनाथ-मंदिर के एक स्तंभ पर स्थान दे दिया गया।<sup>3</sup> वास्तव में, मुनि ने स्वयं ही अपने अनुयायियों को इस स्तंभ पर उक्त देवता की आकृति

1 इण्डियन आर्क्योलॉजी, 1967-68 : ए रिप्पू. नई दिल्ली, पृ 46.

2 वह महत्वपूर्ण बात य्यान देने योग्य है कि एक पूर्ववर्ती जैन विद्वान् जिनसेनाचार्य ने अपने जिन-सहस्रनाम-स्तोत्र में तीर्थकर की समता क्षित्र के अंवकातक, अर्धनारीश्वर, सद्योजात, वासदेव, अष्वोर तथा ईशान रूपों, विष्णु के लक्ष्मी-भत्तृ, श्री-पति, सहस्रकीर्ति तथा पुराण-पुरुष रूपों, ग्रन्था के महाकृत्य, हिरण्यगंभीर पितामह जैन समान-रूपी नामों, गणाविष, विश्वकर्मा तथा दात्यस्पति या दृहस्पति से की है। परमानंद जिनवारणे संप्रह, 1961, दिल्ली, पृ 287। इसी प्रकार के विचार मानतुंग के प्रसिद्ध भक्तामर-स्तोत्र में भी पाये जाते हैं।

3 (द्वितीय) हरिहरनिवास, दिल्ली के तोमर, 1973, वालियर, पृ 87.

उत्कीर्ण करने के लिए कहा था। एक जैन ग्रंथ के अनुसार, अमनेरी के एक व्यापारी ने ओसिया के मंहावीर तथा सचिचकामाता के मंदिर में पूजा की थी<sup>1</sup>।

सभी आकारों में पद्मासन तथा कायोत्सर्ग-भुद्राश्रों में, सादे तथा अलंकृत परिकरों से युक्त अनेक तीर्थकर-प्रतिमाओं का निर्माण किया गया। उन्हीं के साथ इतर देवों, पशुओं एवं कभी-कभी तीर्थकरों की अपेक्षाकृत छोटी आकृतियाँ भी बनायी गयी। पद्मानस्थ तीर्थकरों को साधारणतया सिंहासन पर प्रकिल किया गया है तथा उनके साथ अलंकृत पीठोपधान बनाये गये हैं जिनमें अलंकृत समचतुर्भुजी कला-प्रतीक तथा कपड़े की झालरें हैं (चित्र १४८ ख से १५०)। सर्वतोभद्र प्रतिमाओं के अतिरिक्त चौबीसों तीर्थकरों की मूर्तियों से युक्त शिलापट्ट (चित्र १५०) भी जैन समाज में लोकप्रिय थे। मंदिरों में तीर्थकरों के कल्याणकों (जीवन के दृश्यों) का भी चित्रण किया गया। इस युग की बाहुबली की भी कुछ प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। देवियों में अंबिका, सरस्वती या वाङ्देवी, चक्रेश्वरी और पद्मावती की पूजा सर्वप्रचलित थी। ओसिया की देवकुलिकाओं में नरदत्ता, मौरी, रोहिणी, महामानसी, वज्राकुशी, वज्रशृंखला, गाधारी, अप्रतिचक्षा, मानवी, काली, वैरोट्या आदि अनेक विद्यादेवियों की आकृतियाँ हैं। जैन मंदिरों में अप्सराओं, दिम्पालों, नवयज्ञों, गंधर्वों तथा विद्याधरों को भी स्थान मिला। भक्तों, जिनमें जैन आचार्य भी सम्मिलित हैं, के अतिरिक्त, यक्ष और अन्य परिवार-देवता भी सामान्यतया आवरण-प्रतिमाओं में सम्मिलित किये गये। ओसिया की एक देवकुलिका में हेरम्ब का भी चित्रण है जो संभवतः ब्राह्मण मत से अपतत्त्व गया है। रोहतक में हस्ति-शीर्षयुक्त यक्ष पार्श्व की एक मूर्ति पायी गयी है<sup>2</sup> जो जैन मत में गणेश का निकटतम समानांतर उदाहरण है। अंबिका का पूजन शायद संतति और बच्चों के कल्याण के लिए किया जाता था। जैन देव-दंपति, जिन्हें भट्टाचार्य ने गोमेष और अंबिका के रूप में पहचाना है, ग्यारहवीं शताब्दी तक पर्याप्त लोकप्रिय हो गये, ऐसा प्रतीत होता है। शेषपाल (मंदिर, नगर या ग्राम का रक्षक), जिसकी चर्चा भी पद्मा, अंबिका, ज्वालिनी और नागधरण के साथ ही साथ बिजोलिया के शिलालेल (विक्रम संवत् १२२६)<sup>3</sup> में की गयी है, को जैन देवकुल में महत्वपूर्ण ढंग से जोड़ लिया गया। जिन शिलापट्टों पर नंदीश्वर-द्वीप आदि यंत्र (आरेख) उत्कीर्ण किये जाते थे, वे भी उपास्थ वस्तु बन गये।

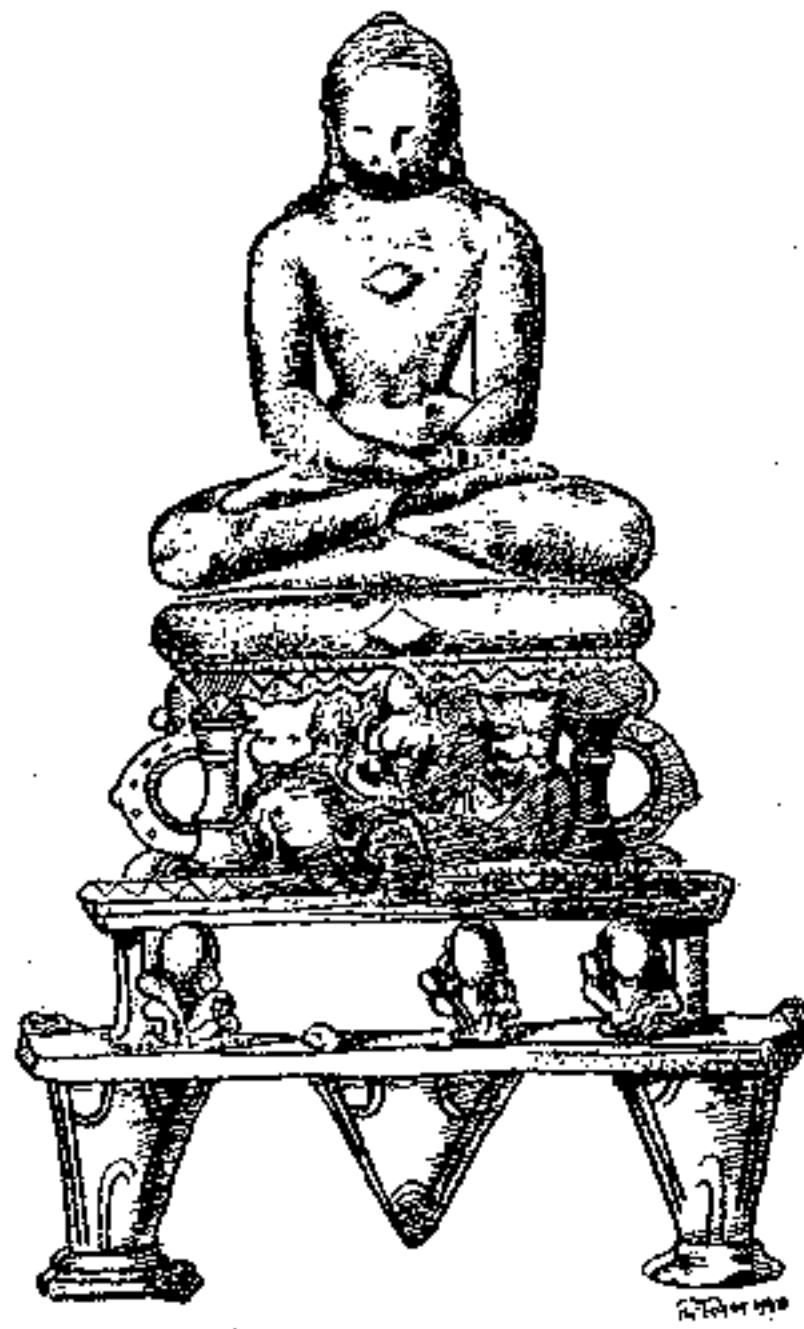
विस्तृत क्षेत्र में विकीर्ण होते हुए भी, चाहमान और गाहड़वाल-युग की जैन भूतिकला पर अनेक कला-प्रवाहों तथा परंपराओं का प्रभाव पड़ा था किन्तु उनमें कम से कम सामान्य संकल्पना के संबंध में धार्मिक सिद्धांतों ने पर्याप्त सीमा तक एकता स्थापित की थी। मंदिर-स्थापत्य के अपेक्षाकृत अधिक विकास के कारण सौंदर्यात्मक आदर्शों को शास्त्रीय मानदण्डों के विपरीत, स्वीकार किया।

1. पूर्वोक्त, पृ. 277.

2. भट्टाचार्य (बी. सी.) जैन प्राइकलोग्राफी, 1939, लाहौर, पृ. 82.

3. एपिग्राफिक इण्डिया, पूर्वोक्त, पृ. 110.

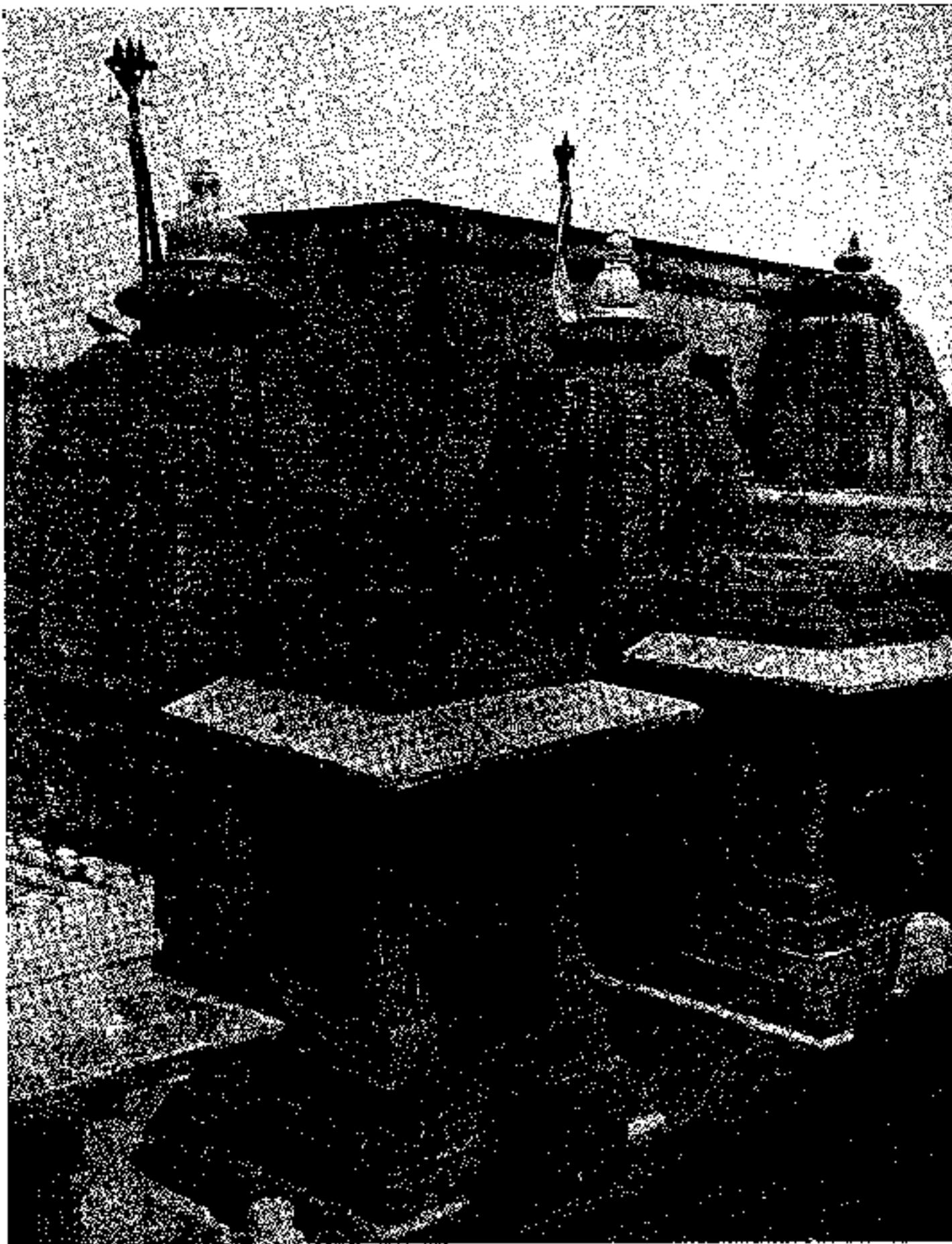
यथा, किन्तु रुद्र कला-परंपराओं का प्रभाव फिर भी अत्यधिक बना रहा। घेत्स ने मध्यकालीन मूलिकता के बारे में ठीक ही कहा है कि “दसवीं शताब्दी के अंत में उसने ललित एवं मौलिक सौंदर्य की प्राप्ति की; ख्यारहवीं शताब्दी में उसमें शास्त्रीय प्रौढ़ता आयी और बारहवीं शताब्दी में ललित शैली का उसने विकास किया। बारहवीं शताब्दी के उत्तराधि में वह कला धीरे-धीरे रुद्धिग्रस्त, अत्यलंकृत



रेखाचित्र 16. केमला (बलारिया) : काल्य तीर्थकर-मूर्ति (राजग्राद मूर्जियम्) (श्रेष्ठजीव के अनुसार)

तथा अस्ति-विस्तारपूर्ण हो गयी। उसके पदचात् उसके विकास में उत्तरी भारत के विभिन्न राज्यों में विभिन्न रूपांतरण हुए, यद्यपि वह सर्वत्र मूलरूप से एक-सी ही रही। उसमें भलक थी समृद्धि और निर्धनता की, शांति और युद्ध संबंधी उन कारणों की जिनके फलस्वरूप सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में गति आती है या अवरोध आता है।<sup>1</sup>

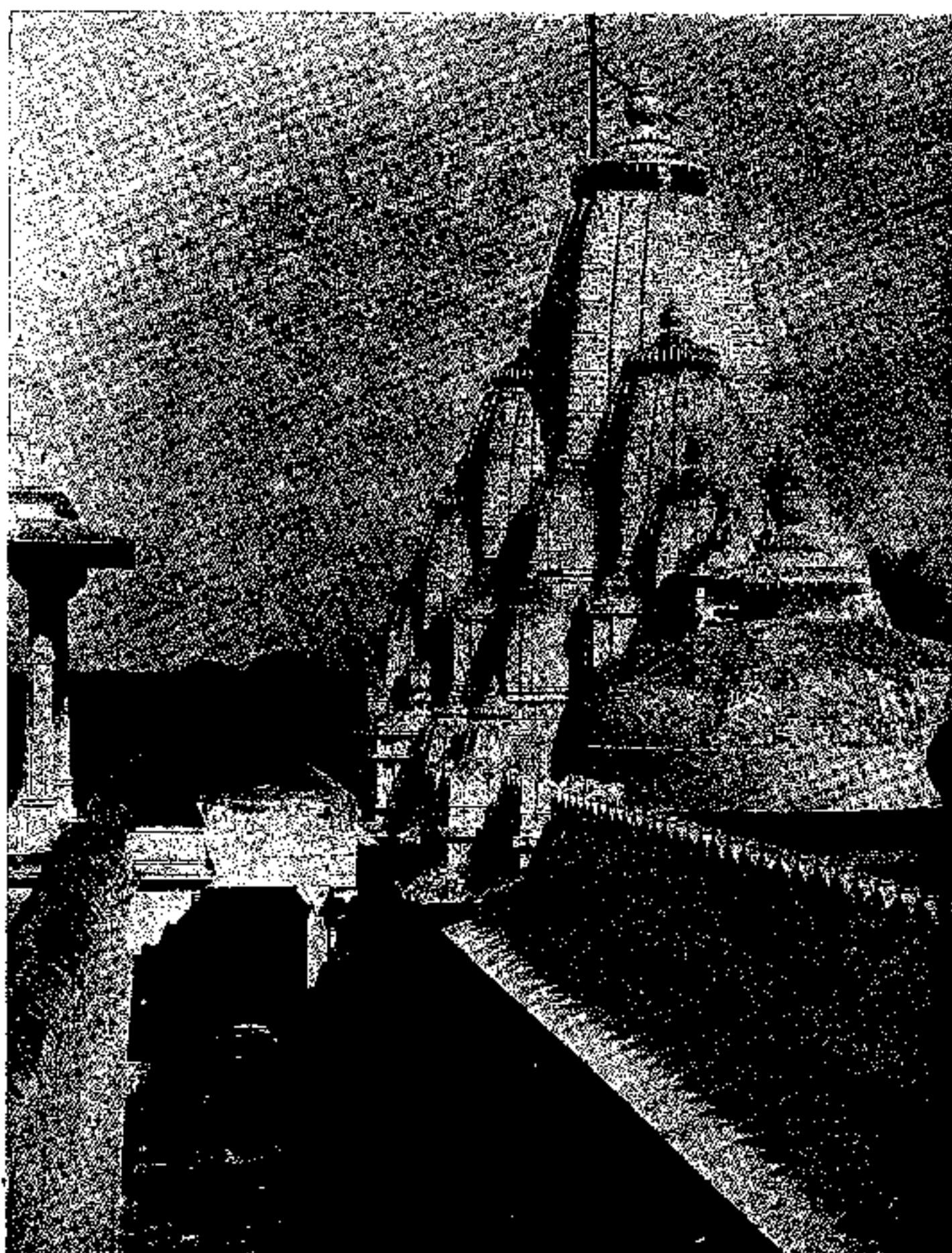
<sup>1</sup> घेत्स (हरमन). शार्ट एण्ड आर्किटेक्चर बॉक बोकार्मेर स्टेट. 1950. आँकड़ों. पृ. 85.



श्रीसिंह — महावीरमंदिर, देवकुलिकाएँ



ओसिथा — महाबीर-मंदिर, तोरण

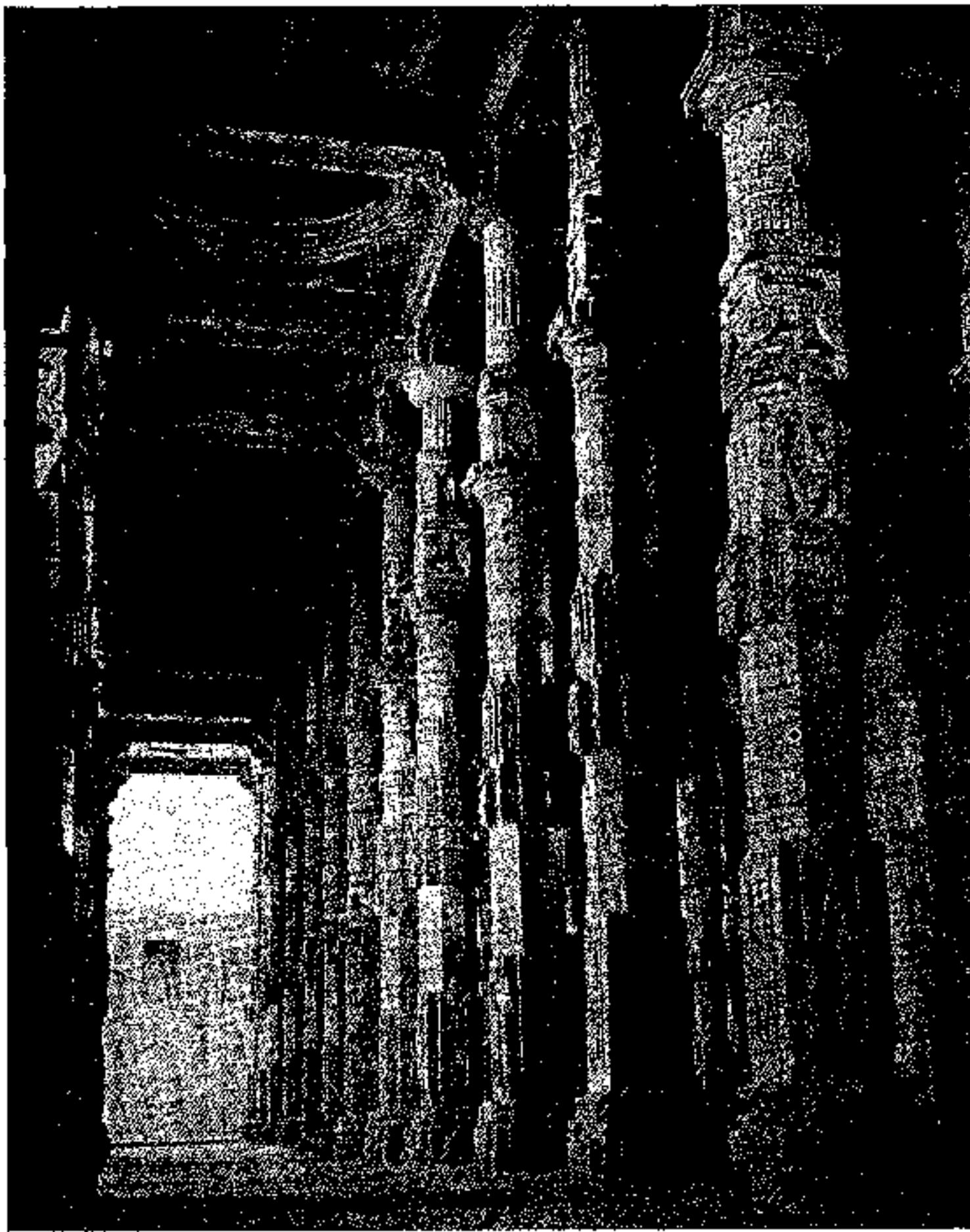


कालोदी ~ पाष्वर्णाथन्दिर

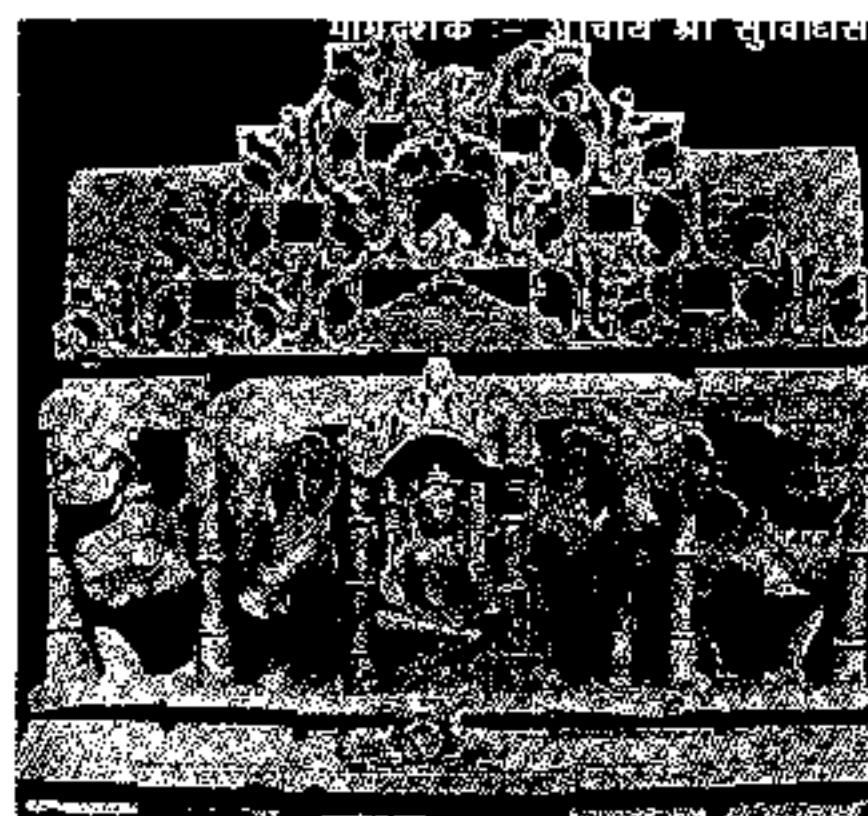
वास्तु-स्मारक एवं सूलिकला 1000 से 1300 ई०



पजमेर — अशोक-दिन-का-भौपड़ा, छत्तीसगढ़



यजमेन — अङ्गाई-दिन-का-सोपहा, प्रतिभाव

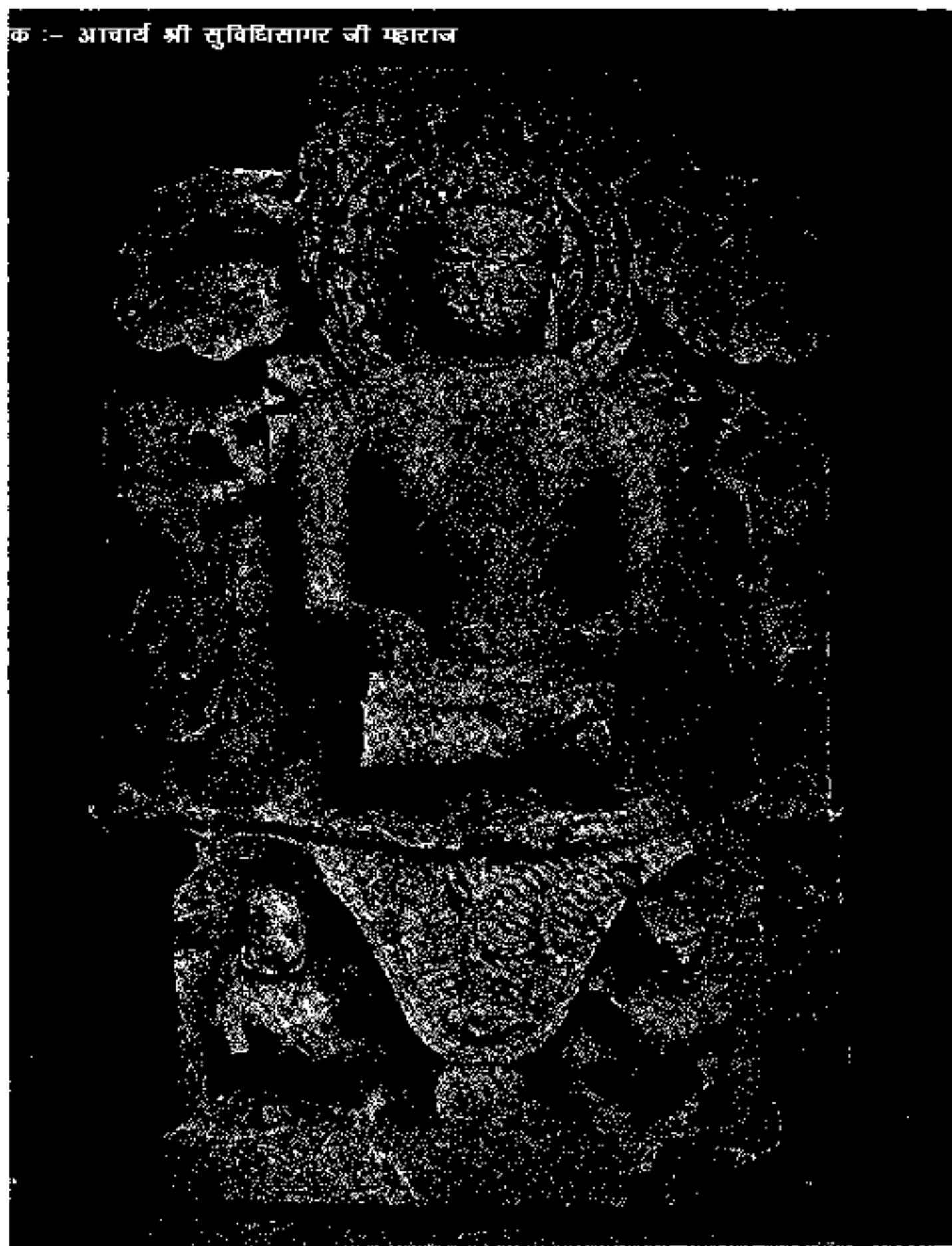


(क) नीलकण्ठ — चास्तु-लण्ड



(ख) श्रवस्ती — तीर्थकर पार्श्वनाथ

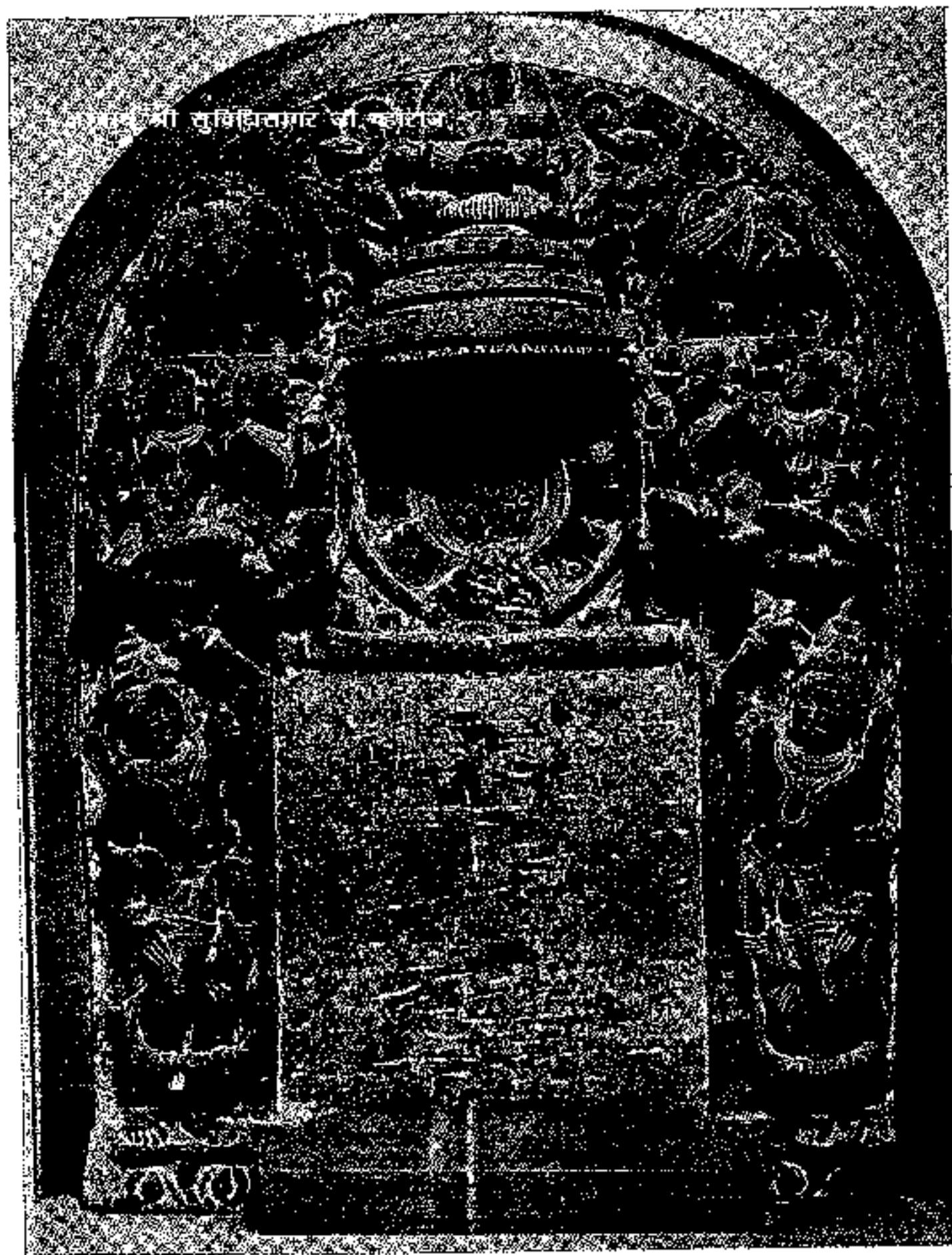
क :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज



कटरा — तीर्थकर नेमिनाथ



अजमेश — तीर्थकर-मूर्ति (राजसूयामा संग्रहालय)



बीकानेर संग्रहालय — एक मूर्ति का परिकर

पास्तु-स्मारक एवं शृणिकला 1000 से 1300 ई०

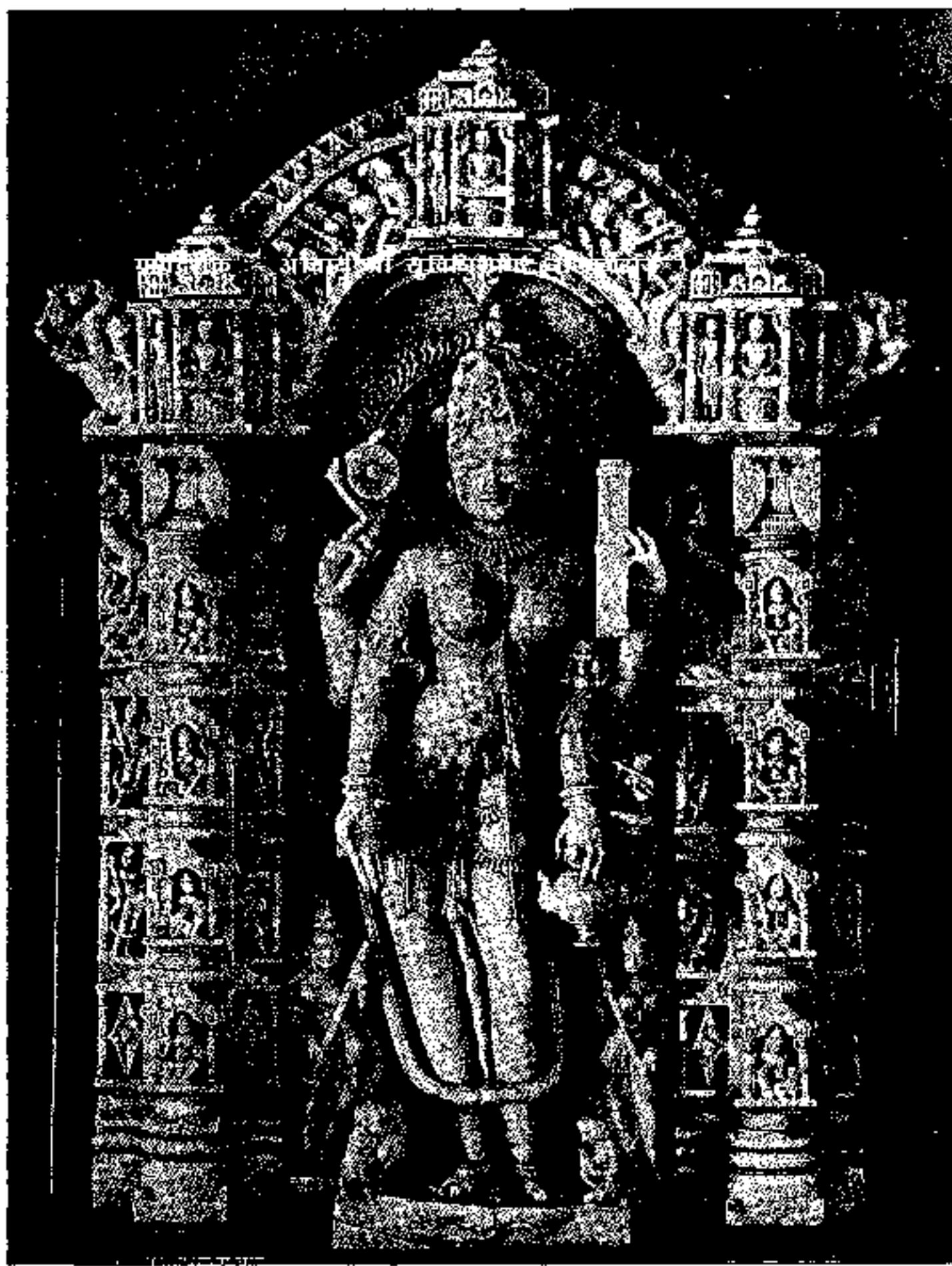
भग्न ५



जग्युर संदहालय — तीर्थकर मुनिसुन्नत



मरापुर संरहलय — तीर्थकर पाईवनाथ



पल्लू — वारदेवी (वीकानीर संग्रहालय)

मूर्ति-निर्माण के लिए बलुए पत्थर का सबसे अधिक प्रयोग किया गया है किन्तु अनेक स्थलों पर काले तथा श्वेत पाषाण को भी उपयोग में लाया गया। धातु की प्रतिमाएँ भी, विशेषकर कांस्य की, बनायी गयी थीं किन्तु वे अवेक्षाकृत छोटे या मध्यम आकार की थीं। लगभग चारहीं शताब्दी की एक जैन कांस्य प्रतिमा (रेखाचित्र १६) १६२८ ई० में उत्तर-पूर्व बलगारिया के केमला नामक स्थान पर पायी गयी थीं।<sup>१</sup> यह प्रतिमा इस समय वहाँ के राजग्राद संग्रहालय में है। इस प्रतिमा में स्तरन्युक्त पीठ पर अवस्थित एक सिंहासन पर तीर्थकर को पद्मासन-मुद्रा में अंकित किया गया है। निस्सदेह यह उत्तर भारतीय मूल की है जिसे संभवतः अपनी दैनिक उपासना के लिए कोई जैन व्यापारी मध्यकाल में किसी मध्य-एशियाई या पश्चिम-एशियाई देश में ले गया होता। शैली की दृष्टि से यह चाहमान-कला-परंपरा से संबद्ध प्रतीत होती है। हाल ही में तीर्थकरों की कुछ सुंदर कांस्य-प्रतिमाएँ राजस्थान के अलवर जिले में सनोली से भी उपलब्ध हुई थीं<sup>२</sup>। इस बुग की कुछ महत्वपूर्ण जैन कांस्य प्रतिमाएँ राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली के संग्रह में भी हैं। इनमें सम्मिलित हैं: गरुड पर आसीन चक्रवर्ती की मूर्ति, एक जिन-बिब के सुंदर परिकर का ऊपरी भाग जिसके साथ सुनिभित इतर देव, पक्षुओं और वैद्यों का अंकन किया गया है; तथा पार्वतीनाथ की एक तिथि-युक्त (१०६६ ई०) प्रतिमा, जिसमें तीर्थकर पर सर्प के सात फणों का आच्छादन है। उनके द्वारा और खड़गासन-मुद्रा में दो तीर्थकर तथा यक्ष और यक्षी सहित अनुचरों की आकृतियाँ हैं। पार्वतीनाथ का उपथानयुक्त आसन परंपरागत कमलपुष्प पर बना है। पादपीठ के ऊपरी सिरे पर वनी नी छोटी आकृतियों को नवग्रहों के रूप में पहचाना गया है।<sup>३</sup> तीर्थकर के वक्षस्थल तथा आसन पर श्रीबत्स (चिह्न) अंकित है। इस प्रतिमा के परिकर का ऊपरी भाग त्रिकोण है। इन कांस्य प्रतिमाओं का प्राप्ति-स्थान ज्ञात नहीं है किन्तु शैली की दृष्टि से राजस्थान की लगती है। बतंमान संदर्भ में, एक छोटे आकार की कांस्य-प्रतिमा, जो मूलरूप से जैसलमेर की है का भी यहाँ उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है। शैली की दृष्टि से पूर्वचित राजग्राद संग्रहालय स्थित जिन-बिब की पूर्वगामी लगनेवाली यह कांस्य प्रतिमा भी चल-पूजा-विश्रह लगती है। इसके पृष्ठभाग में उत्कीर्ण लेख (११२६-२८ ई०) में श्री-सिद्धसेन-दिवाकरचार्य-गच्छ के श्री-नगेन्द्र-कुल की प्रस्ता और अच्छुप्ता नामक दो महिलाओं का उल्लेख है। उसमें अंकन इस प्रकार किया गया है—बीच में आसीन-मुद्रा में तीर्थकर और उनके उल्लेख है। उसमें अंकन इस प्रकार किया गया है—बीच में आसीन-मुद्रा में तीर्थकर और उनके साथ चमरधारी, देवतामण, यक्ष और यक्षी तथा उपरी भाग में एक त्रिकोणाकार चौखटे में एक तीर्थकर-प्रतिमा जो पाद-युक्त आसन पर आधारित है तथा जिसपर नी शीर्ष बने हैं जो संभवतः नवग्रहों के प्रतीक हैं। अनुचरों में यक्ष मातंग और यक्षी सिद्धायिका हो सकते हैं क्योंकि वे क्रमशः हाथी और सिंह पर आरूढ़ हैं। शाह का विचार है<sup>४</sup> कि ऊपरी भाग में तीर्थकर की

१ ईस्ट एण्ड वेस्ट, 21, 3-4; 1971; 215-16.

२ इण्डियन आर्क्योलॉजी, 1969-70 : ए एंड बी, 1973, चैट्टिंघम, पृ 61.

३ अर्मल ओफ दि ओरिएण्टल इंस्टिट्यूट, 19, 3; 1970; 276.

४ अर्मल ओफ दि इण्डियन सोसायटी ऑफ ओरिएण्टल ग्राह, 1; 1966; 29

लघु मूर्ति जैसा अंकन जैन मूर्तिकला में दुर्लभ ही है। इस चौखटे का ऊपरी भाग पारंपरिक बेल-बूटों के रूप में है।

जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, खारहवीं और वारहवीं शताब्दियों की कला, लगभग सारे उत्तर भारत में मूर्तिकला के पूर्ण विकसित चरण का दीतक है। इस युग में अधिकांशतः आकृति-नियमिण परंपराओं तथा अलंकारपूर्ण आकारचाव से बंदा है। यह रूपांकन सामान्यतः मुद्राओं तथा शरीर के धुमाव के अनुकूल किया गया था, चेहरे की अभिव्यक्ति के अनुसार नहीं। चेहरे चौकोंर से हैं तथा उनपर विशेष रूप से अँखों, फौहों, नाक आदि का आपचारिक उत्कीर्णन हुआ है, गाल सूजे हुए प्रतीत होते हैं तथा मूँह फूला हुआ। अधिकांश मूर्तियों में शरीर के अंगों में कोणीयता तथा मुद्राओं में एक प्रकार के लनाव की भावना देखी जा सकती है। तीर्थकरों की मूर्तियों की छोड़कर अन्य मूर्तियों में सुंदरता लाने का प्रयत्न रेलामूषणों तथा अन्य पहुँचों द्वारा किया गया है। तीर्थकरों की आकृतियों में, जिन्हें गरिमापूर्ण विवित मुद्रा में प्रदर्शित करना आवश्यक था, विस्तृत अलंकरण परिकर के नियमिण में किया गया (चित्र १५९); विशेष रूप से आसीन तीर्थकरों के साथ आकर्षक मुद्राओं में श्रमेक कलापूर्ण एवं सुंदर आकृतियाँ बनायी गयीं, जिनमें विद्याधरों, गंधवों, बादकों, इतर देवों तथा भक्तों की आकृतियाँ सम्मिलित हैं। अलंकृत भामण्डल, त्रिष्ठुत तथा स्वर्ग के हाथियों का भी अंकन किया गया। जो भी हो, यह मूल रूप से पूर्ववली जैन परंपरा के अनुकूल ही था जैसा कि मानतुंगाचार्यकृत भक्तामर-स्तोत्र के निम्न इलोकों से स्पष्ट है:

सिहासने मणिमयूखशिखाविधिवे,  
विभ्राजते तदं वपुः कनकावदातं ।  
विवं विद्विलसदंशुलतावितानं,  
तुङ्गोदयाविशिरसीव सहस्ररक्ष्मेः ॥२६॥  
कुन्दावदातश्चलचामरचारुशोभं,  
विभ्राजते तदं वपुः कलधौतकातं ।  
उद्दच्छांकशुचिनिर्भरवारिघार—  
मुच्चेस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ॥३०॥  
छत्रश्रयं तदं विभ्राति लशांककात—  
मुच्चेस्थितं स्थंधितभानुकरप्रतापं ।  
मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभं,  
प्रख्याप्यत्तिजगतः परमेश्वरत्वं ॥३१॥  
गंभीरतारवपूरितदिविभाग—  
स्थैलोचयलोकशुभसंगमभूतिदक्षः ।  
सद्धर्मराजजयघोषणघोषकः सन्,  
से दुन्दुभिर्धनति ते यशसः प्रवादी ॥३२॥

यही यह उल्लेख करना अप्रांसगिक नहीं होगा कि लघु आकृतिवाले अनुचरों की आकृतियों सहित या उनसे रहित क्रायोत्सर्ग-मुद्रा में तीर्थकर-मूर्तियाँ अन्य अलंकृत एवं आसीन मूर्तियों की अपेक्षा उनके बीतराग-आदर्श (चित्र १५२) के अधिक अनुरूप हैं। अधिकांशतः उष्णीश अतुंग और लघु हैं (चित्र १५३) और परबर्ती प्रतिमाओं में (जिनकी तिथि लगभग बारहवीं शताब्दी है) शरीर के अंकन में कोणीयता अधिक पुरिलक्षित होती है, आसीन तीर्थकर-मूर्तिपादों के अलंकृत आदर्श के नीचे भूलता वस्त्र या तो अर्धवर्तुलाकार है या दीर्घवृत्ताकार। वह सिहासन के ऊपरी भाग को या तो पूरा या मात्र उसके बीच के भाग को अनेक प्रकार के अलंकरणों से आवृत करता है।

बृक्षों और पीधों का भी, जिनमें कमलपुष्प भी सम्मिलित है, अंकन यद्यपि रुद्धिकद्ध है फिर भी नयनाभिराम है। इसी प्रकार सिंह को छोड़कर अन्य पशुओं का अंकन भी सजीव एवं आकर्षक है। जहाँ तक व्यावहारिक कला का संबंध है इस युग के प्रचलित कला-प्रतीकों में समचतुर्भूज अलंकरण, घट-पल्लव, शृंखला-घण्टिका, लता-गुलम, कलापिण्ड और अर्ध-कलापिण्ड सम्मिलित हैं।

इस युग की भारतीय कला के कुछ सुंदर नमूने, उदाहरणसः बीकानेर क्षेत्र की सरस्वती की आकृतियाँ तथा ओसिया का अलंकृत तोरण, जैन मूर्तिकारों की ही रचनाएँ थीं। इन दोनों ही उदाहरणों में, यद्यपि उनका अंकन अोपचारिक ही है, आवश्यक मात्रा में विवरण की यथार्थता और उससे संबद्ध अलंकरण प्रदर्शित हैं। संगमरमर से निर्मित बीकानेर की बाघदेवी (चित्र १५४) में उदात्तता की महत्त्व-पूर्ण अभिव्यक्ति है। मूर्ति-निर्माण संबंधी समस्त प्राचुर्य के होते हुए भी उसमें कोमलता और संवेदन-शीलता की भावना विद्यमान है। यह मूर्ति राजस्थानी और गुजराती शैलियों के सुमिश्रण का परिणाम प्रतीत होती है। ओसिया स्थित देवकुलिकाओं के बाहर अंकित आकृतियाँ भी मूर्ति-निर्माण की मिश्र शैली का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। एक और सुंदर उदाहरण कंकाली-टीला (मथुरा) से प्राप्त शीर्षहीन नर (किसी राजा) की आकृति है, जिससे पश्चिमी मध्यदेश में चंदेल-कला का और अधिक प्रभाव स्पष्ट हो जाता है (रेखाचित्र १७)। शावस्ती से प्राप्त आदिकाथ की एक प्रतिमा तथा अयोध्या (फौजावाद)। में मिली एक और प्रतिमा एवं मथुरा से प्राप्त विक्रम संकल् ११३४ अर्थात् १०७७ ई० की एक तीसरी प्रतिमा (रेखाचित्र १८) भी गंगा-घाटी की मध्यकालीन मूर्ति-निर्माण-परंपरा के अध्ययन के लिए उपयोगी है।

यह शैलीगत अंतर्मिश्रण का युग था, जैसा कि समसामयिक मंदिर-स्थापत्य से स्पष्ट है। जाहमान-क्षेत्र में, यही तक कि सूदूर हरियाणा में भी, जो मूर्ति-निर्माण-परंपरा प्रचलित थी, वह गुर्जर-मूल की थी, जबकि गंगा-यमुना घाटी में वह चेदिन्देल-कला-शैली की थी। राजस्थान के दक्षिणी सीमांत क्षेत्रों में परमार-कला का सीमित प्रभाव भी देखा जा सकता है। जो भी हो, गाहड़वाल-कालीन मूर्तियों में गंगा-यमुना घाटी की पूर्ववर्ती परंपरा की कुछ विशेषताएँ रह गयी हैं, किन्तु मध्यदेश की अधिकांश प्रतिमाएँ रुद्धिकद्ध एवं कम आकर्षक हैं।

। भट्टाचार्य, पूर्वोक्त, चित्र । तथा 4.

समसामयिक ब्राह्मण मूर्तिकला के समान इस युग की जैन कला की स्थिति पृथक् नहीं जान पड़ती। उसका संबंध मंदिर-स्थापत्य से बहुत निकट का था। अतएव किसी भी प्रकार के मूर्ति-विधान का उद्देश्य, अपनी संस्कारणात् तथा मूर्तिकला-विषयक स्थिति के होते हुए भी, मंदिर-स्थापत्य के रचनात्मक स्वरूप में विलीन होकर स्थापत्य-कला के विकास में योगदान करता ही था। जैन मंदिर में, जो तीर्थंकर द्वारा अधिष्ठित विश्व का प्रतीक था, विश्व-जीवन के विविध क्षेत्रों तथा पक्षों की प्रतिनिधि



रेखाचित्र 17. कंकाली-टीला : किसी राजा का बड़ (स्मिथ के अनुसार)

मूर्तियों का अंकन होता है। इस प्रकार मंदिर का उपवेश सुख के लोत, सदाचरण के प्रतीक तथा अपनी निर्माणात्मक एवं मूर्ति-तक्षण-विषयक उत्कृष्टता सहित कीर्ति एवं महान् समारोहों के स्मारक के रूप में था। मुनि सकलचंद्र के दृष्टाष्टक-स्तोत्र में यह विचार बड़े सुदूर ढंग से व्यक्त किया गया है :



रेखाचित्र 18. कंकासी-दीला : तीर्थकर-मूर्ति (स्मिथ के प्रबन्धाद्वारा)

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवतापहारि  
भव्यात्मनां विभवसंभवभूरिहेतुः  
दुधाल्बिवफेनधवलोज्जवलकूटकोटी-  
तद्वध्वजप्रकरराजिविराजमानम् ॥  
दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भुवनैकलक्ष्मी-  
धामद्विवद्वितमहामुनिसेव्यमानम् ।  
विद्याधरामरबधूजनमुक्तदिव्य-  
पुण्ड्रजलिप्रकरशोभितभूमिभूगम् ॥  
दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवनादिवास-  
विश्वात्माकगणिकागणगीयमानम् ।  
नानागणिप्रचयभासुररश्मजाल-  
व्यालीहनिमंलविशालगवाक्षजालम् ॥  
दृष्टं जिनेन्द्रभवनं सुरसिद्धयक्ष-  
गंधर्वकिन्नरकरापितवेणुवीणा ।  
संगीतमिश्रितनमस्तुतधीरनादै-  
रापूरिताम्बरतलोहदिगन्तरालम् ॥  
दृष्टं मयाद्य मणिकांचनचित्रतुंग-  
सिहासकादिजिनविविभूतियुक्तम् ।  
चैत्यालयं यदतुलं परिकीर्तिं मे  
सन्मगलं सकलचंद्रमुनीन्द्रवन्द्यम् ॥

प्राचीन कालीन जैन मंदिर कलाओं का केंद्र था तथा उसमें इस प्रकार की सामाजिक-  
सांस्कृतिक गतिविधियाँ चलती थीं जिनका उद्देश्य गृहस्थ को असत्य से सत्य की ओर, अणु सत्य से  
महत् सत्य की ओर तथा अंततः श्रावक के जीवन के अंतिम लक्ष्य अर्थात् मोक्ष की ओर ले  
जाना था ।

मुनीश चन्द्र जोशी



## अध्याय 21

### पूर्व भारत

#### सामान्य पर्यवेक्षण

कला के इतिहास की दृष्टि से भारतीय कला के किसी कालखण्ड को एक धार्मिक नामकरण के अंतर्गत रखकर लिखित करना त वे संभव है और ज अनेकित है। भारतीय कला युग-युगांतरों से निरंतर विकसित होती रही है। उसका प्रत्येक परवर्ती काल अपने पूर्ववर्ती काल की कला-परंपरा और उसकी उपलब्धियों को लेकर आगे बढ़ा है, जिसे उसने परिपक्षता प्रदान की है तथा उसकी समयानुरूप आवश्यकताओं की पूर्ति की है। कला की इस निरंतर प्रवहमान-विकास-धारा में विजातीय मुसलमानों के आगमन-काल से पूर्व कोई अवरोध नहीं आया। इन कला-शैलियों के पत्तलवन की प्रेरक शक्तियाँ निस्सदैह ही धार्मिक प्रेरणा रही हैं। भारत अनेकानेक धर्मों का देश रहा है, यहाँ तक कि एक ही धर्म के अंतर्गत पृथक्-पृथक् भान्यताओं और सिद्धांतों को लेकर अनेक परस्परविरोधी एवं कट्टर प्रतिद्वंद्वी संप्रदाय रहे हैं। इन समस्त धर्मों और संप्रदायों ने कला के माध्यम से अपने विचारों और अवधारणाओं की अभिव्यक्ति के लिए अपने समकालीन या क्षेत्र-विशेष में प्रचलित कला के सामान्य प्रतिमानों को अपनाया है—क्योंकि इन प्रतिमानों को उनकी तर्कसम्मत दिशाओं से हटाना इन धार्मिक और संप्रदायगत विभेदों के लिए संभव नहीं हो सका। विषय-वस्तुओं के अंकन के अतिरिक्त ये प्रतिमान अपने शैलीगत रूप में समस्त धर्मों के लिए एक समान रहे हैं। यदि कोई अंतर है तो वह मात्र मूर्तिपरक विषय-वस्तु में ही। यह वास्तु-शिल्प के कठिपथ प्रकारों तक ही सीमित है जिसे किसी धर्म-विशेष के संदर्भ में ही देखा जा सकता है।

यह स्पष्ट है कि विवेच्य कालखण्ड के अंतर्गत पूर्व भारत में जैन धर्म की स्थिति प्रभुत्वपूर्ण नहीं रही। इस क्षेत्र से प्राप्त बौद्ध और हिन्दू प्रतिमाओं की विपुल संख्या की तुलना में जैन प्रतिमाओं की संख्या अति अल्प रही है, यह बात विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करती है। बंगाल, विहार और उड़ीसा से प्राप्त ऐसी जैन प्रतिमाएं बहुत ही कम हैं जिन्हें आकर्षक और प्रभावशाली कहा जा सके। अधिकांशतः वे प्रतिमाएं, जो प्राप्त हुई हैं, इस समूचे क्षेत्र के निर्जन स्थलों में यत्न-तत्त्व विखरी पड़ी थीं, या फिर कुछ सीमाबंधित स्थानों में सामूहिक रूप से एकत्रित थीं। हमें यहाँ से जैन धर्म से संबद्ध चित्र-कला के अवशेष भी प्राप्त नहीं हुए हैं। चीनी यात्री ह्वान-सांग के उस साक्ष्य का उल्लेख अव्याय १५ में किया जा चुका है जो इस क्षेत्र में कम से कम सातवीं शताब्दी में जैन धर्म की लोकप्रियता

से अवगत कराता है। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरवर्ती शताब्दियों में यहाँ पर बौद्ध धर्म के तात्त्विक संप्रदाय तथा पौराणिक ब्राह्मणत्व की प्रधानता के कारण जैन धर्म की स्थिति दुर्बल होती गयी।

उपरोक्त परिस्थितियों में जैन कला की चर्चा के अंतर्गत विवेच्य कालखण्ड की जैन प्रतिमाओं का विवेचन किया जा सकता है।

### बंगाल और बिहार

लगभग आठवीं शताब्दी के मध्य में पाल वंश के उत्थान के साथ बंगाल और बिहार कुछ समय के लिए परस्पर एक विशेष राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक वातावरण में आबद्ध हो एकरूप हो गये। धर्मपाल और देवपाल के शासनकाल (लगभग नौवीं शताब्दी के प्रारंभ) में यहाँ पर मूर्तिकला की एक सशक्त शैली ने विकास पाया जिसके अंतर्गत प्रचुर मात्रा में मूर्ति-शिल्पों की सज्जना हुई। इस शैली ने गुप्त-काल की कला के श्रेष्ठ गुणों को अपना आधार बनाया और उन्हें पूर्वोक्त अनुरूपता के अनुसार रूपांतरित कर एक नया रूप प्रदान किया। इस शैली को सामान्यतः पूर्वीय या पाल-शैली के नाम से अभिहित किया जाता है। बंगाल और बिहार से ब्राह्मण बौद्ध, हिन्दू और जैन प्रतिमाएँ इसी शैली की हैं। इनमें की एक धर्म की प्रतिमाओं को दूसरे धर्म की प्रतिमाओं से मात्र उन धर्मों के देवी-देवताओं के आधार पर ही पृथक् पहचाना जा सकता है।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है भारत के किसी भी काल की कला में जैन कला की चर्चा का तात्पर्य प्रधानतः जैन प्रतिमाओं के अध्ययन से है। यह अध्ययन अधिक जटिल नहीं है क्योंकि जैन प्रतिमाएँ एवं उनके अवशेष हमें उपलब्ध हैं। जैन प्रतिमाओं में अधिकांश संख्या तीर्थकरों की है। इनके अतिरिक्त कुछ यक्ष और यक्षी-प्रतिमाएँ भी हैं। बाईसवें तीर्थकर नेमिनाथ की विशेष यक्षी अंबिका की भी कुछ स्वतंत्र प्रतिमाएँ प्राप्त हैं जो संख्या में शिरी-चुनी ही हैं। बस्तुतः कई तीर्थकरों की प्रतिमाएँ अन्य तीर्थकरों की अपेक्षा अधिक संख्या में पायी गयी हैं किन्तु किन्हीं-किन्हीं तीर्थकरों की एक भी प्रतिमा उपलब्ध नहीं हुई है।

तीर्थकरों को प्रायः खड़े हुए—कायोत्सर्ग, या बैठे हुए पदमासन—इन दो ही मुद्राओं में दर्शाया गया है। इन दोनों मुद्राओं में तीर्थकरों की देह-विधि सीधी तरी हुई भंगिमा में प्रकित है। कायोत्सर्ग-मुद्रा में उनकी भुजाएँ धड़ के साथ प्रलंबित हैं और हाथ की शृंगुलियाँ दोनों ओर जंघाओं को छू रही हैं। पदमासन में पालथी मारे दोनों पाँवों के तलवे एक-दूसरे पर हैं और उनपर हाथ की हथेलियाँ एक दूसरे पर रखी हुई ऊपर की ओर हैं। तीर्थकरों की पहचान और एक दूसरे से पार्श्वक्य उनके लांछनों या चिह्नों से होता है। ये लांछन प्रत्येक तीर्थकर के लिए पृथक्-पृथक् निर्धारित किये गये हैं। एक स्थान पर दो तीर्थकरों के लिए परस्पर में कुछ मिलते-जुलते लांछन भी निर्धारित

हो गये हैं, जैसे इकेतांबर संप्रदाय में तेईसवें तीर्थकर पाश्वनाथ का लांचन सात-फणी-नाग-छत्र है जबकि दिगंबर संप्रदाय में सातवें तीर्थकर सुपाश्वनाथ का लांचन पाँच-फणी-नाग-छत्र है।

शैलीगत विशेषता के आधार पर किसी विशेष कलाकृति के रचना-काल को निर्धारित करने की पद्धति में एक शैली के ऊपर दूसरी शैली के आरोपित हो जाने की संभावना बनी रहती है; इसलिए बहुत संभव है कि अध्याय १५ में उल्लिखित अनेक कलाकृतियाँ विवेच्य कालखण्ड से संबंधित हों। उदाहरण के लिए सुरोहोर से प्राप्त कृष्णभनाथ, मण्डोईल से प्राप्त कृष्णभनाथ (चित्र १५५ क), कट्टावेनिया से प्राप्त पाश्वनाथ, इजानी से इच्छनाथ की प्रतिमा का उल्लेख किया जा सकता है। अतः पुनरावृत्ति से बचने लिए हम प्रस्तुत विवेचन में बंगाल से प्राप्त प्रतिमाओं (पृ १६०) और अलौसा (जिला भानभूम, बिहार) से प्राप्त काँस्य प्रतिमाओं (पृ १७३) की चर्चा नहीं करेंगे।

इस कालखण्ड की प्रतिमाओं की चर्चा करते हुए हम सबसे पहले पश्चिम बंगाल की कृष्णभनाथ की दो प्रतिमाओं का उल्लेख करेंगे, जिनमें से एक प्रतिमा मायता (जिला मिदनापुर) से प्राप्त हुई है और दूसरी गढ़ जयपुर (जैपुर) जिला पुरुषिया से। कृष्णभनाथ की पहली प्रतिमा (चित्र १५५ ख) बलुए पत्थर से निर्मित है और कुछ विसी हुई है। तीर्थकर कायोत्सर्ग-मुद्रा में हैं जिनके पाश्व में दो सेवक हैं। इस मूर्ति के दोनों पार्श्व में दो-दो की संख्या में चार अन्य तीर्थकर-प्रतिमाएँ हैं। इस प्रतिमा के पादपीठ पर कृष्णभनाथ का लांचन वृषभ अंकित है। दूसरी प्रतिमा (चित्र १५६ क) में तीर्थकर कायोत्सर्ग-मुद्रा में दो सेवकों के बीच खड़े हैं तथा पादपीठ पर लांचन वृषभ उत्कीर्ण है। ये तीर्थकर एक मंदिर में प्रतिष्ठित दिखाई देते हैं। मंदिर के अग्रभाग पर तीरण है जो त्रिपर्ण अलंकरण से सुशोभित है, और उसका सतहदार मंचों से निर्मित वितान एक आमलक से मण्डित है। इस प्रतिमा पर चौबीसों तीर्थकरों की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं, जो छह-छह की संख्या में दो-दो पंक्तियों में उसके दोनों ओर अंकित हैं। ये दोनों प्रतिमाएँ ग्यारहवीं शताब्दी की प्रतीत होती हैं और इस समय कलकत्ता विश्वविद्यालय के अंतर्गत आशुतोष म्यूजियम ऑफ इण्डियन आर्ट में सुरक्षित हैं। लगभग इसी काल की अन्य प्रतिमाओं में से दो अन्य प्रतिमाएँ भी उल्लेखनीय हैं, जिनमें से एक प्रतिमा कृष्णभनाथ की है जो इस समय आरापात (जिला बाँकुरा) के मंदिर की एक दीवार में चिनी हुई है तथा दूसरी प्रतिमा पाश्वनाथ की है जो बहुलारा (जिला बाँकुरा) के सिद्धेश्वर मंदिर के अंतःभाग में स्थित है।

सोनामुखी (जिला बाँकुरा) में लगभग सातवीं शताब्दी निर्मित पद्मासनस्थ कृष्णभनाथ की प्रतिमा में एक दुलंभ मूर्तिपरक विशेषता पायी जाती है।<sup>1</sup> इस प्रतिमा में तीर्थकर पद्मासन-मुद्रा में एक पद्मपुष्प पर अवस्थित हैं जो एक वृक्ष की फैली हुई पर्णविली पर आधारित है। भामण्डल के दोनों

<sup>1</sup> बंदोपाध्याय (ए के), बाँकुरा जिलार पुस्तकीय (बंगला), पृ 126 एवं चित्र.

ओर उड़ते हुए विद्वाधर प्रदर्शित हैं। तीर्थकर के शीर्ष के ढंपर एक छत्र तथा पद्मपुष्प के आसन के प्रध्यभाग में उनका लांछन वृक्षभ अंकित है। पादपीठ पर वृक्ष के दोनों ओर एक दंपति को विश्राम-मुद्रा में बैठा हुआ दर्शाया गया है जिनके शीर्ष के पीछे एक भामण्डल है। पादपीठ पर और भी अनेक आकृतियाँ हैं जिनमें से एक दानदाता युग्म को पहचाना जा सकता है। यही विषय-वस्तु उत्तर बंगाल से प्राप्त म्यारहवीं शताब्दी की एक प्रतिमा (चित्र १५६ ख) में भी देखी जा सकती है जो इस समय बांग्ला देश के राजशाही स्थित बरेंद्र रिसर्च सोसाइटी के संग्रहालय में सुरक्षित है। इस प्रतिमा में वृक्ष के दोनों ओर अंकित दंपति में से प्रत्येक अपनी-अपनी गोद में एक-एक शिशु लिये हुए बैठा है। दंपति के पद्मपुष्प-आसन के नीचे एक पंक्ति में पाँच आकृतियाँ हैं। ये आकृतियाँ उन दो दानदाताओं के अतिरिक्त हैं जो पादपीठ के अंतिम छोरों पर अंकित हैं। वृक्ष पर तीर्थकर को पद्मासनस्थ बैठे हुए दर्शाया गया है किन्तु लांछन के अभाव में यह नहीं पहचाना जा सकता कि यह कौन-से तीर्थकर हैं। देवपाड़ा (जिला राजशाही, बांग्ला देश) से प्राप्त लगभग बारहवीं शताब्दी का एक अन्य प्रतिमावशेष भी इस संग्रहालय में सुरक्षित है। इसमें भी पूर्वोक्त प्रतिमा के अधोभाग जैसा प्रतिमा-प्रतीक अंकित है (चित्र १५७ क)। इसमें वृक्ष (जिसका अब मात्र तना-भाग ही अवशेष है) के दोनों ओर एक दंपति ललितासन-मुद्रा में बैठा है, जिनमें से प्रत्येक की गोद में शिशु है। इनके पाँचों के नीचे चार बैठी हुई आकृतियाँ तथा दो दानदाताओं की आकृतियाँ हैं। इस प्रतिमा का शीर्ष-भाग विलिङ्गित है। पूर्व वर्णित दो प्रतिमाओं से इस प्रतिमावशेष की समानता के आधार पर यह स्पष्ट है कि इसके लिङ्गित अर्धभाग में पद्मपुष्प पर पद्मासनस्थ तीर्थकर का अंकन रहा होगा, जिनका पद्मपुष्प-आसन उस वृक्ष के फैले हुए पत्तों पर आधारित रहा होगा जिसका अब प्रतिमावशेष के अधोभाग पर मात्र तना ही शेष रह गया है। इन तीनों प्रतिमाओं के समूह की पहली ऋषभनाथ की प्रतिमा से स्पष्ट है कि इस शिल्पांकित प्रतिमा-प्रतीक का संबंध जैन धर्म से रहा है। इस संदर्भ में वृक्ष के दोनों ओर अंकित दंपति को ऋषभनाथ के विशेष यक्ष गोमुख तथा यक्षी चक्रेश्वरी के रूप में तथा इस वृक्ष को बटवृक्ष या बरगद के रूप में पहचानना असंगत नहीं होगा। शेष दोनों प्रतिमाओं के तीर्थकरों को पहचानना संभव नहीं है क्योंकि दूसरी प्रतिमा में तीर्थकर की आकृति ही नष्ट हो चुकी है। उपरोक्त दोनों (दूसरी और तीसरी) प्रतिमाएँ एक अन्य विशेषता भी सूचित करती हैं; वह यह कि नर-नारी दोनों ही की गोद में शिशु दर्शाये गये हैं। इस संदर्भ में कलकत्ता के विजय सिंह नाहर के संग्रह में सुरक्षित बिहार से प्राप्त उस प्रतिमा का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें इसी विषय-वस्तु के अंकन में शिशु को मात्र नारी की ही गोद में बैठे हुए दर्शाया गया है। यक्षियों में अंतिका अपने नामानुसार मातृत्व का प्रतीक है एवं अपनी स्वतंत्र प्रतिमाओं में भी शिशु या शिशुओं सहित अंकित पायी गयी है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उपरोक्त तीनों प्रतिमाएँ तीर्थकर नेमिनाथ, उनके यक्ष गोमेष तथा यक्षी अंतिका की हो सकती हैं।

पटना संग्रहालय<sup>1</sup> के प्राप्त कास्य प्रतिमाओं का रक्षना-काल बारहवीं शताब्दी से पूर्व मानना कठिन होगा। इन प्रतिमाओं को पहले ही अध्याय १५ (पृ १७३) में सम्मिलित किया

1 पटना भूविष्यम कैरेलीग आँफ एण्टीविलडेज, संपा. गुरु (परमेश्वरी लाल), 1965, पटना, पृ 160-61.

जा चुका है। अलौरा के भूमिगत भण्डार से २६ प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं जिनमें से कुछ अभिलेखांकित हैं। अभिलेखों में इन मूर्तियों के दान-दाताओं का उल्लेख है, जिनमें से एकाध आचार्य भी है। इन प्रतिमाओं में से एक में लांछनों संहित तीर्थकर ऋषभनाथ और महावीर को अंकित किया गया है। यहाँ यह उल्लेख करना भी उपयुक्त रहेगा कि इस भण्डार के वर्गीकरण से यह ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में लगभग इसी काल के अंतर्गत कौन-कौन-से तीर्थकर अधिक लोकप्रिय थे। इस वर्गीकरण के अनुसार सबसे अधिक प्रतिमाएँ ऋषभनाथ की हैं, जिनकी संख्या आठ है, इसके उपरांत महावीर और कुन्थुनाथ का दूसरा स्थान है जिनकी छह-छह प्रतिमाएँ हैं, अंद्रप्रभ एवं पाश्वनाथ की दो-दो प्रतिमाएँ तथा अजितनाथ, विमलनाथ एवं नेमिनाथ की एक-एक प्रतिमा हैं। इसके अतिरिक्त अंबिका यक्षी की प्रतिमाओं का भी समूह (चित्र १५७ ख) यहाँ पाया गया है।<sup>1</sup> इस संदर्भ में मानभूम (बिहार) से प्राप्त ऋषभनाथ की एक कांस्य-प्रतिमा (चित्र १५८ क) का भी उल्लेख करना उपयुक्त रहेगा जो इस समय आशुतोष संप्रहालय में है। अपने अनगढ़पन के कारण इस प्रतिमा का रचना-काल बारहवीं शताब्दी से पूर्व का निश्चित नहीं किया जा सकता।

अलौरा से तेरहवीं शताब्दी की एक पाषाण-प्रतिमा भी प्राप्त हुई है जो तीर्थकर शांतिनाथ के कायोत्सर्ग-मुद्रा की है। पादपीठ पर उनका लांछन हरिण अंकित है। शोषं पर छत्र-अंकित इस प्रतिमा पर अन्य अनेक तीर्थकरों की आकृतियाँ भी प्रदर्शित हैं।

मानभूम जिलांतर्गत पालमा से भी तीन प्रतिमाएँ मिली हैं जिनमें से दो क्रमशः तीर्थकर अजितनाथ (चित्र १५८ ख) एवं शांतिनाथ की हैं। इन प्रतिमाओं का समय चारहवीं शताब्दी निर्धारित किया जा सकता है। पहली प्रतिमा में तीर्थकर अजितनाथ को एक मंदिर में प्रतिष्ठित दर्शाया गया है। मंदिर के समुख भाग में एक त्रिपट्टी तोरण है, जिसपर नामर-शैली का एक वक्राकार शिखर मण्डित है। इस प्रतिमा से यह भी प्रमाण मिलता है कि जैन उपासक उत्तर भारत की प्रचलित शैली में भी अपने मंदिरों का निर्माण करते थे। यह प्रतिमा विशालाकार है। इसके पादपीठ पर तीर्थकर का लांछन गज अंकित है। दूसरी प्रतिमा के पादपीठ पर लांछन हरिण अंकित है जिससे यह पहचाना जा सकता है कि यह प्रतिमा शांतिनाथ की है। इसी काल की एक तीसरी प्रतिमा भी है। यह प्रतिमा जिस प्रकार से अंकित है उससे अनुमान होता है कि यह प्रतिमा तीर्थकर नमिनाथ की है; लेकिन इसपर अंकित लांछन गज के होने से यह भी संभव है कि यह प्रतिमा अजितनाथ की हो। तीर्थकर के पार्श्व में दोनों ओर चमरधारी सेवक हैं। इस प्रतिमा के प्रत्येक पार्श्व में तीन-तीन तीर्थकरों की चार लंबमान पंक्तियों में बारह-बारह तीर्थकर अंकित हैं।

### स्थापत्य में प्रयुक्त एक जैस कला-प्रतीक

हम जैनों के एक ऐसे विशेष मूर्तिपरक कला-प्रतीक से परिचित हैं जिसे चतुर्मुख (चौमुख या चौमुह) कहा जाता है। इसमें एक वर्गाकार शिलाखण्ड की चारों सतहों पर (चार) प्रतिमाएँ उत्कीर्ण

1 वही, पृ 90.

होती हैं जिसमें प्रायः कृष्णभनाथ, शतिनाथ, पाइर्वनाथ और महाबीर का अंकन होता है। कुछ चौमुख प्रतिमाओं की चारों सतहों पर एक ही तीर्थकर का अंकन पाया गया है। विवेच्य कालखण्ड की अनेकानेक चौमुख प्रतिमाएँ दूर्वा-भारत से उपलब्ध हुई हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी चौमुख प्रतिमाएँ भी प्राप्त हैं जो इनसे भी आद्यकालीन हैं।

यहाँ पर दो चतुर्मुख प्रतिमाओं का उल्लेख किया जा सकता है जो पश्चिमी बंगाल के क्रमशः पुरुलिया और देवलिया (जिला बर्दिबान) से प्राप्त हुई हैं और इस समय आशुतोष संग्रहालय में संरक्षित हैं। पहली चतुर्मुख प्रतिमा (चित्र १५६ क) न्यारहवीं शताब्दी की है और दूसरी संभवतः इससे कुछ ही परवर्ती अवधि की। प्रत्येक प्रतिमा में उपरोक्त चारों तीर्थकर अंकित हैं। प्रतिमा का शीर्षभाग नागर-शैली के मंदिर-शिखर की भाँति बकरेखीय स्तूपाकार है। पहली चौमुख प्रतिमा में लांडनों के खण्डित हो जाने से किसी भी तीर्थकर को पहचानना संभव नहीं है। दूसरी प्रतिमा के दो आसन-पाश्वीं पर के अंकन से पाइर्वनाथ और महाबीर को पहचाना जा सकता है। दूसरी प्रतिमा के शिखर (चित्र १५६ ख) पर आमलक और कलश हैं। यह शिखर अनुपात की दृष्टि से बौना है। पहली चतुर्मुख प्रतिमा का आमलक तथा कलश तष्ट हो चुका है। फिर भी शिखर आकर्षक और लालित्यपूर्ण दिखाई देता है। इस प्रकार की अनेक चतुर्मुख प्रतिमाएँ पश्चिम बंगाल के विभिन्न भागों से प्राप्त हुई हैं जिनके शीर्ष नागर-शैली के शिखरों से मण्डित हैं। ये प्रतिमाएँ इस तरह उद्दिष्ट बनाये की राजकीय पुरातत्त्व-दीर्घी में देखे जा सकते हैं।

जैन कला के इस विशिष्ट प्रतिमा-प्रतीक का संबंध एक दुर्लभ प्रकार के मंदिरों के विकास के साथ-साथ देखा जा सकता है। इस दुर्लभ-प्रकार के मंदिरों का महत्वपूर्ण प्रतिबिवन दक्षिण-दूर्वा-एशिया में भी पाया गया है। चतुर्मुख प्रतिमाओं का अंकन जैनों में अत्यंत प्रारंभिक काल से लोक-प्रिय है। चतुर्मुख प्रतिमाओं का उल्लेख इसा संवत् की प्रारंभिक शताब्दियों के अभिलेखों में प्रतिमा-सर्वतोभूमिका के नाम से प्राप्त होता है। सर्वतोभूमिका का अर्थ है—‘सर्वत्र कल्याणकारी’। यहाँ यह उल्लेख महत्वपूर्ण है कि जैनों ने चतुर्मुख प्रतिमा के रूप में एक ऐसी उपास्य प्रतिमा की अवधारणा कर उसका विकास किया है जिस प्रतिमा तक समस्त आसन्न दिशाओं से पहुँचा जा सके और जिसके पीछे व्यावहारिक एवं तार्किक आधार हो। यह प्रतिमा स्वयं एक ऐसे मंदिर की रचना का संकेत देती है जिसमें चारों ओर चार ऐसे प्रवेश-द्वार हों जिनमें से प्रत्येक तीर्थकर-प्रतिमा के सम्मुख खुलते हों। इस प्रकार का चौमुख या सर्वतोभूमिका ही इस चतुर्मुख प्रतिमा के लिए उपयुक्त मंदिर ही सकता है। अतः जैनों ने इस प्रकार के मंदिर का विकास भी चतुर्मुख प्रतिमा के साथ-साथ ही किया।

इस संदर्भ में यह उल्लेख भी उपयोगी रहेगा कि भारतीय शिल्प-विषयक साहित्य में मंदिर के एक ऐसे प्रकार का अनेक स्थानों पर उल्लेख है जिसे सर्वतोभूमिका-मंदिर कहा गया है। विभिन्न ग्रंथों में सर्वतोभूमिका-मंदिर के विवरण भिन्न-भिन्न प्रकार से किये गये हैं। ये समस्त विवरण इस तथ्य पर एकमत हैं कि इस मंदिर की योजना मूल रूप में वर्गकार हो तथा प्रत्येक दिशा में एक-एक प्रवेश-द्वार हो। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि चतुर्मुख प्रतिमा — सर्वतोभूमिका — के जिए चार

प्रवेश-द्वारोंवाला मंदिर सर्वतोभद्र ही समुचित रूप से उपयुक्त है; अतः सर्वतोभद्र नाम अकारण नहीं है, अपितु वह इस प्रकार के मंदिर की समस्त विशेषताओं की स्वधमेव अभिव्यञ्जना करता है। सर्वतोभद्रिका और सर्वतोभद्र दोनों ही परस्पर साथ-साथ चलते प्रतीत होते हैं—एक दूसरे के पूरक हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वतोभद्र और सर्वतोभद्रिका नामों में पहले से कुछ विशेष संबंध रहा है। अतः यह मानना अनुपयुक्त न होगा कि चौमुखी प्रतिमाओं की समुचित प्रतिष्ठापना के लिए जैनों ने चौमुख मंदिरों का विकास किया है।

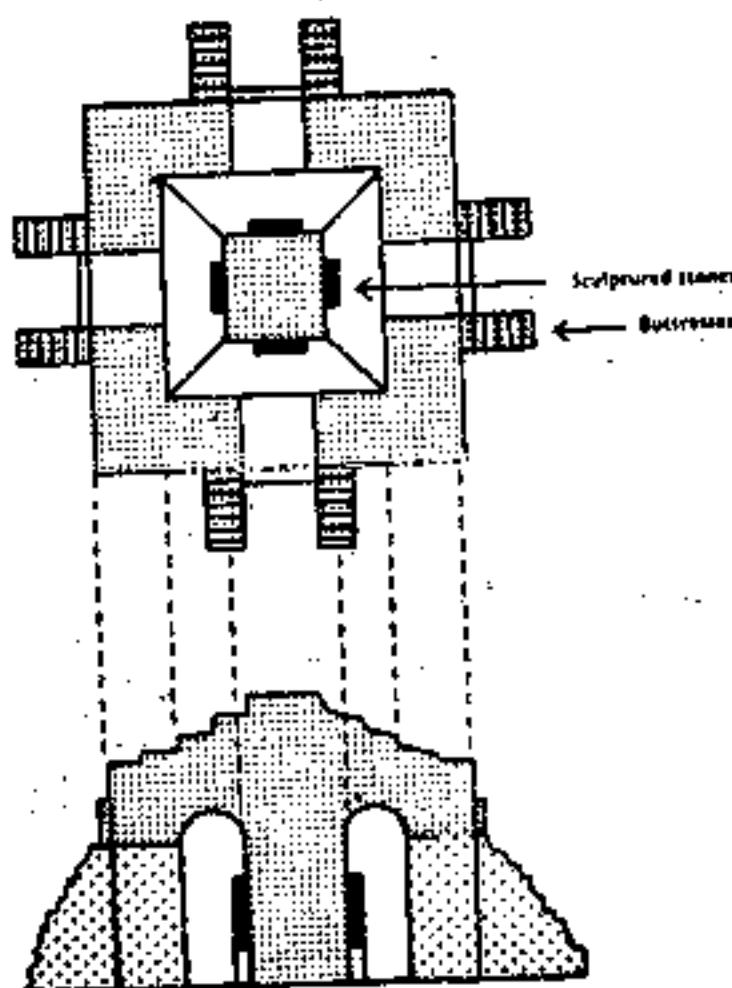
सर्वतोभद्र-मंदिर के विकास संबंधी हमारे उपरोक्त भूत की चतुर्मुखी प्रतिमाओं से ताँकक समर्थन मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैनों ने चतुर्मुख प्रतिमाओं की प्रतिष्ठापना के लिए सादे एवं अलंकरणरहित सर्वतोभद्र-मंदिरों का विकास बहुत पहले ही कर लिया गया था। इन मंदिरों को जिस बाह्य संरचना से अलंकृत किया गया है, वह पूर्व-मध्यकाल की है। इस प्रकार के प्रारंभिक चौमुख मंदिरों में रनकपुर (राजस्थान) स्थित पंद्रहवीं शताब्दी का युगादीश्वर जैन मंदिर सर्वाधिक उल्लेखनीय है।

प्रारंभिक प्रवस्था के सादा एवं अलंकरणरहित चौमुख मंदिरों में कालांतर से प्रयुक्त बाह्य संरचनाओं के प्रावधान में निहित नवी संरचना को पहचानना कठिन नहीं है। बाह्य संरचनाओं में उत्तर-भारतीय मंदिर-स्थापत्य के प्रचलित लक्षणों तथा आमलक एवं कलश-मण्डित वक्राकार शिखरों को अपनाया गया है। इन मंदिरों ने नागर-शैली के शिखरों को अपनाकर भारतीय स्थापत्य को एक नया आयाम प्रदान किया। सर्वतोभद्रिका की अवधारणा ने बौद्धों के दो उपास्य मंदिरों में भी अभिव्यक्ति पायी है जिनमें से एक तो पाषाण-निमित्त है, जो दीनाजपुर (बांग्ला देश) से प्राप्त हुई है और दूसरी कास्य-निमित्त है, जो भेवारी (जिला चटगाँव, बांग्ला देश) से प्राप्त हुई है (चित्र १६० क)। ये दोनों ही मंदिर के आकार के हैं (तथा शिखरमण्डित हैं। इनकी चारों सतहों के अधोभागों पर देवकुलिकार्ण निमित्त हैं, जिनमें चार प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित थीं, (देवकुलिकार्ण कास्य नमूने की हैं और इस समय रित्त हैं)। इसमें संदेह नहीं कि यह बौद्ध उपास्य स्थल जैन सर्वतोभद्रिका से प्रभावित है तथा सर्वतोभद्र की अभिकल्पना की प्रतिकृति है जिसमें चार प्रवेश-द्वारोंवाला यह मंदिर शिखर-मण्डित होता है।

पूर्व-भारत में भारतीय स्थापत्य के इस नये आयाम ने जो लोकप्रियता प्राप्त की, उसे इस क्षेत्र में पाये गये मंदिरों में देखा जा सकता है। यद्यपि इस प्रकार के मंदिर बहुत ही कम मिले हैं लेकिन जो भी मिले हैं उनकी प्रतिमाओं में कुछ अतिशयता है। इस क्षेत्र के कुछ प्रसिद्ध चौमुख मंदिरों का चित्रांकन पाण्डुलिपि-चित्रों में भी पाया गया है। इस प्रकार के मंदिरों ने इस क्षेत्र से बाहर भी विकास पाया। परन्तु इस प्रकार का कोई मंदिर अपने पूर्ण रूप में देश के किसी अन्य क्षेत्र में उपलब्ध नहीं है। चौमुख मंदिर के संभावित रूपाकार को समझने के लिए बर्मा के उन मंदिरों का उल्लेख किया जा सकता है जिसका निर्माण बौद्धों ने अपने उपयोग के लिए किया। बर्मा के इन मंदिरों में जैन सर्वतोभद्रिका को ही नहीं बरत् सर्वतोभद्र की अभिकल्पना को भी सुस्पष्ट और सुनिश्चित विधि से

बाल्सु-स्मारक एवं सूर्योदाता 1000 से 1300 ई०

अपनाया गया है। इन मंदिरों में प्रत्येक सर्वतोभूमिका प्रतिमा चार द्वारों से युक्त वर्गाकार गर्भगृह के मध्य में बेदी के स्थान पर प्रतिष्ठित है। इन मंदिरों में संभवतः सबसे प्राचीन मंदिर लेमेत्यना वर्मा के निचले भाग में हमवाजा (थाइलेत्ता—श्रीक्षेत्र, प्राचीन प्रोम) स्थित मंदिर है। यद्यपि इसके निर्माण की निश्चित तिथि ज्ञात नहीं है, तथापि कुछ विद्वान् इस प्राचीन नगर के स्मारकों में इसे सबसे प्राचीनतम मानते हैं, जिसके आधार पर वे इसके लिए पाँचवीं और आठवीं शताब्दी के मध्य का काल निर्धारित करते हैं। इसकी ध्वस्त स्थिति के उपरांत भी इसके संयोजन की मूलभूत विशेषताओं का निवारण भली-भांति किया जा सकता है। यह वर्गाकार है और इसकी चारों भुजाओं पर चार प्रवेश-द्वार हैं (रेखाचित्र १९)। प्रत्येक प्रवेश-द्वार को उसके पार्श्व पर प्रक्षिप्त दीवारों से और मुदूर किया गया है। गर्भगृह के केंद्र में ईटों से निर्मित एक ठोस वर्गाकार स्तंभ है जो प्रत्येक द्वार की

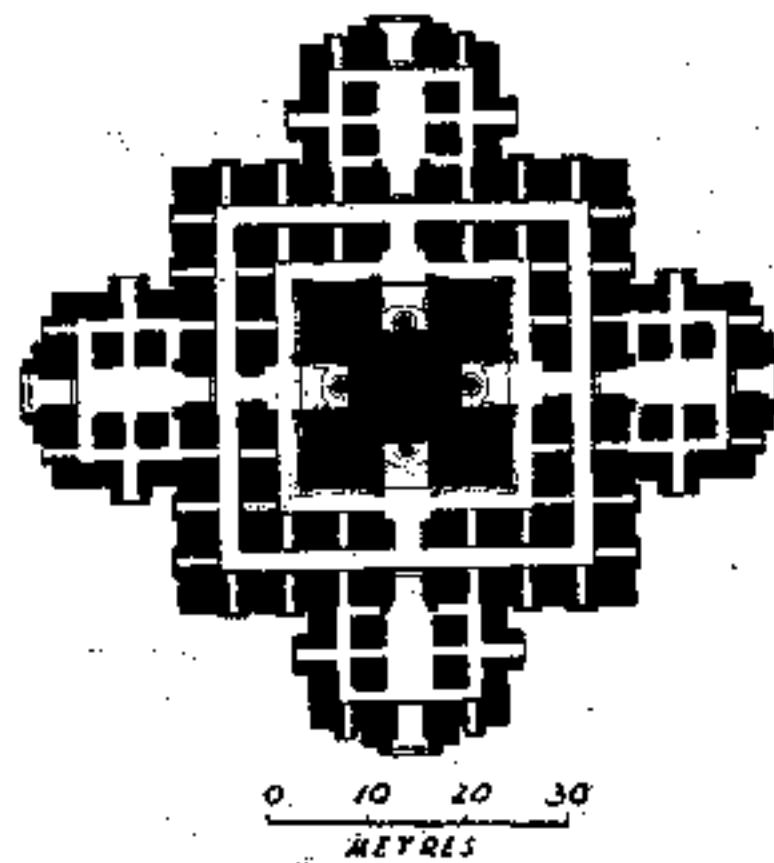


रेखाचित्र 19. हमवाजा (प्रोम, वर्मा) : लेमेत्यना की रूपरेखा एवं विभाग

केंद्रवर्ती रेखा पर स्थित है। इस स्तंभ की चारों सतहों पर शिल्पाकृति प्रतिमाएँ हैं। यह ऊँचाई में गर्भगृह की छत से लगा हुआ है जिससे इस स्तंभ और गर्भगृह की भित्तियों के मध्य की दूरी बेदिका के चारों ओर एक प्रदक्षिणा-पथ जैसी दीर्घा की रचना करती है। इस तरह इस मंदिर में प्रयुक्त जैन सर्वतोभूमिका और सर्वतोभूमिका की अभिकल्पना देखी जा सकती है।

बीदों में इस प्रकार के मंदिर एक लंबे काल तक लोकप्रिय रहे हैं। वर्मा कला एवं स्थापत्य के पारंपरिक (फगान) काल में इस प्रकार के अनेक उल्लेखनीय मंदिरों का निर्माण हुआ जिसमें

पगान स्थित सुप्रसिद्ध आनंद या नंद-मंदिर सर्वाधिक उल्लेखनीय है। इस मंदिर का निर्माण एवं प्रतिष्ठा क्यान्जिङ्हा द्वारा सन् १०६१ या ११०५ में कराया गया था। लेमेत्थना और आनंद-मंदिरों के मध्यवर्ती काल में मंदिर के नियोजन और उनकी ऊँचाई दोनों ने ही विशदता ग्रहण कर ली थी। इन मंदिरों में मूलि के स्वरूप और उसके स्थापत्यीय विनियोग को दृष्टि से ओभल नहीं किया गया। आनंद एक बगकार मंदिर है जिसके चारों ओर आसन्न दिशाओं की प्रत्येक भित्ति के मध्यवर्ती भाग में प्रक्षिप्त प्रवेश-मण्डप है। इस प्रकार इस मंदिर की बाह्य विन्यास-रूपरेखा कूस-आकार की है। मंदिर के केंद्रवर्ती भाग में ईटों का चिना हुआ एक ठोस बगकार स्तंभ है जिसपर चार विशालकाय बुद्ध-प्रतिमाएँ हैं। प्रतिमाएँ देवकुलिकाओं में स्थित हैं जो परस्पर अंतरावकाश लिये हुए स्तंभ की चारों सतहों पर निर्मित हैं (रेखाचित्र २०)। चौमुखी वेदी के चारों ओर दो समकेंद्रिक दीयाएँ हैं।



रेखाचित्र २०. पगान (बर्मा) : आनंद-मंदिर की रूप-रेखा

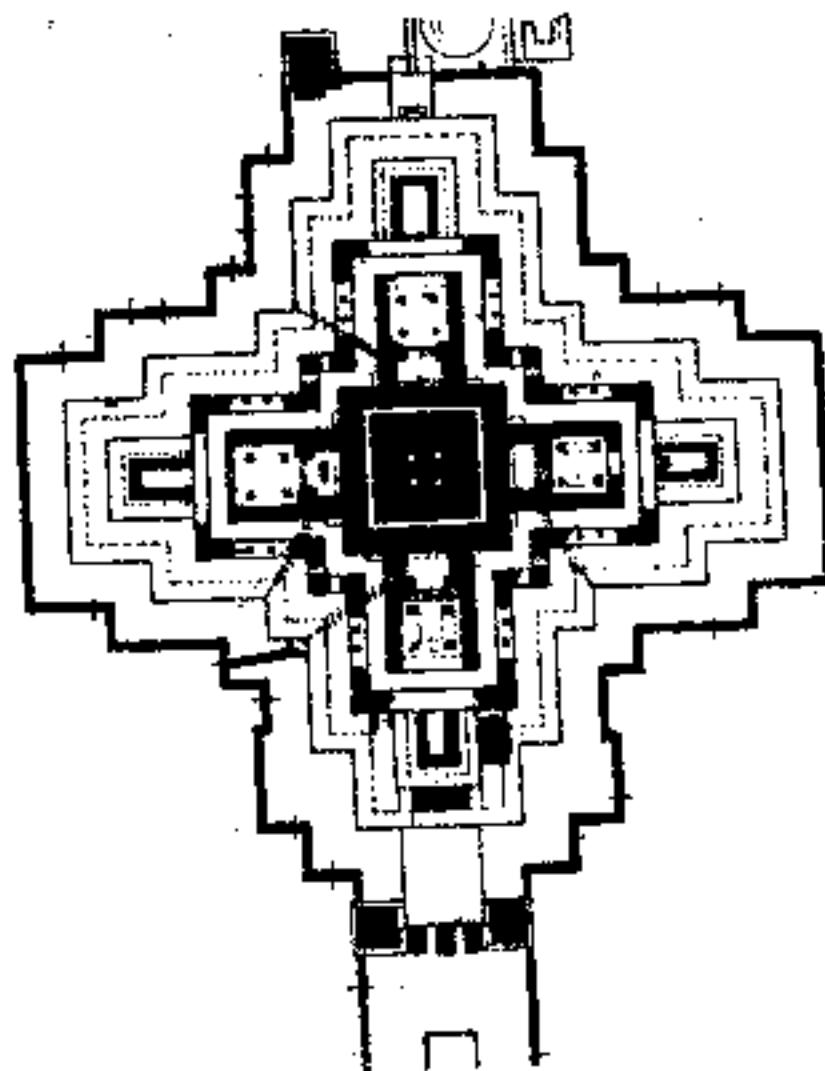
जो एक दूसरे में खुलती हैं। प्रवेश-मण्डपों तथा भित्तियों में जालीदार लिङ्कियाँ लगी हैं, श्रुतः आने-जाने के मार्ग एक दूसरे को काटते हैं। मंदिर के भीतर, विशेषकर वेदिका की प्रतिमाओं पर, प्रकाश आने के लिए बाह्य संरचना में चारों सतहों पर उभरे हुए चार झरोखों की रचना की गयी है। मंदिर की शीर्ष-संरचना में दीवारियों के ऊपर अंतरावकाश-युक्त दो सतहवाली छतें हैं जिनपर एक बकाकार शिखर मण्डित है। शिखर उस वेदिका के ऊपर है जिसपर गर्भगृह की बुद्ध-प्रतिमाएँ स्थित हैं। प्रत्येक प्रवेश-द्वार छोलाकार छत से आच्छादित है, जिसके सामने के भाग पर त्रिकोणाकार शिखर है। इस प्रकार इस मंदिर में ऐन चतुर्मुख या सर्वतोभद्र-मंदिर की परिकल्पना की अत्यंत

वास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला 1000 से 1300 ई०

उल्लेखनीय अभिव्यक्ति देखी जा सकती है।

बर्मी में इस प्रकार के मंदिरों का उपयोग हिन्दू धर्म के लिए भी हुआ है। इस संदर्भ में नट हल्लौग क्यौंग विष्णु-मंदिर का उल्लेख किया जा सकता है जो पगान स्थित सैकड़ों बीड़ मंदिरों के मध्य एकमात्र हिन्दू मंदिर है। इस मंदिर का निर्माण लगभग दसवीं शताब्दी के मध्य हुआ था। इस मंदिर का गर्भगृह लगभग बगड़िकार है जिसके मध्य में इटों से निर्मित एक ठोस बगड़िकार स्तंभ है। स्तंभ की चारों सतहों पर इटों से निर्मित चार बड़ी प्रतिमाएँ हैं। ये प्रतिमाएँ संभवतः विष्णु के अवतारों की हैं। इस संभावना का आधार मंदिर की बाह्य भित्तियों पर शिल्पाकित विष्णु के अवतारों की प्रतिमाएँ हैं। इस प्रकार के स्तंभ या इट-निर्मित स्तंभ से, जिनकी चारों सतहों पर प्रतिमाएँ जड़ी हैं, जाहे वे बीड़ हों या हिन्दू, यह स्पष्टतः पहचाना जा सकता है कि उनके निर्माण की प्रेरणा जैन चतुर्मुख या सर्वतोभद्र-प्रतिमा से ग्रहण की गयी है।

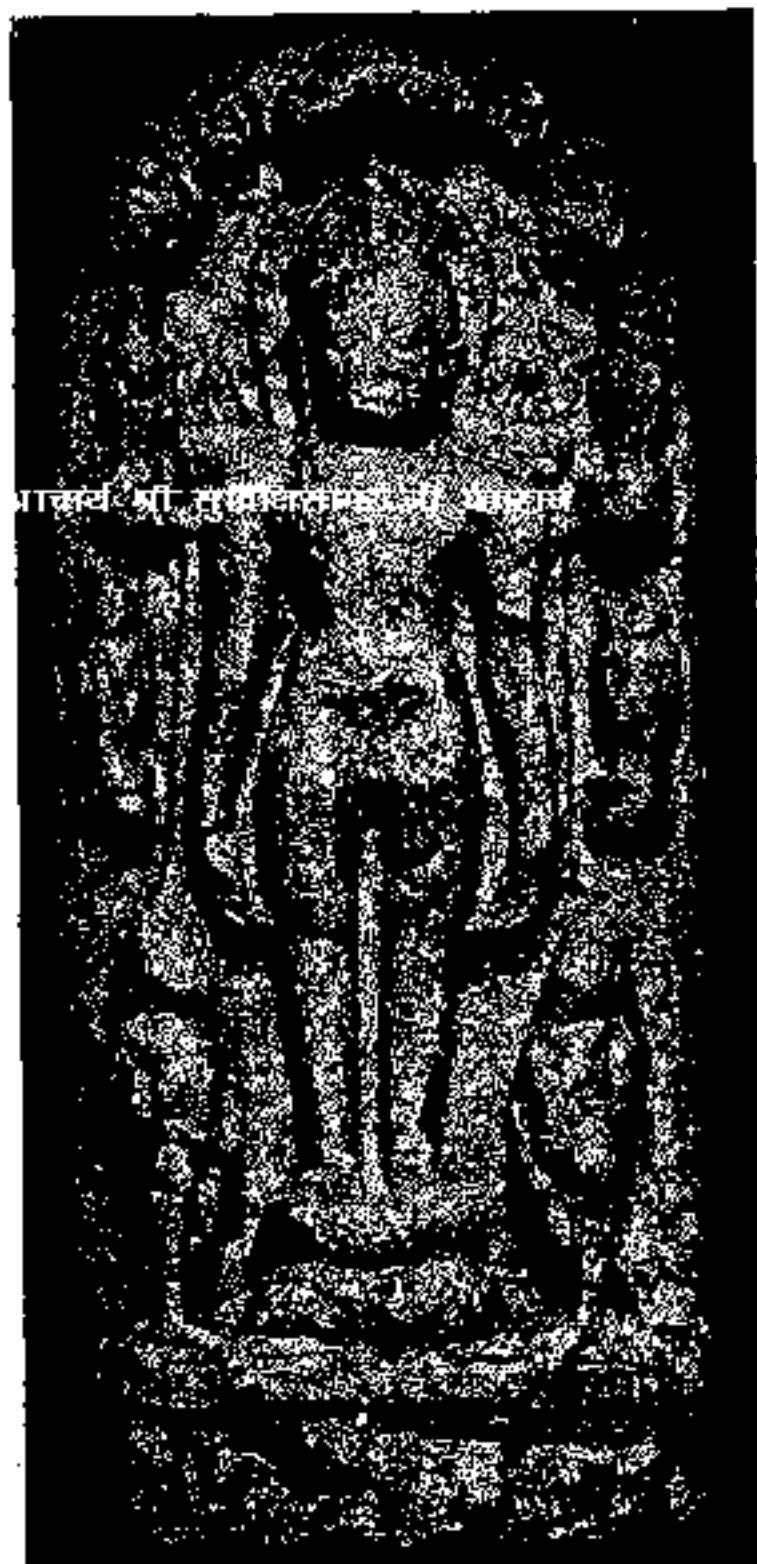
यहाँ पर इस बर्मी मंदिरों के उल्लेख करने का कारण यह है कि इन मंदिरों के भली-भौति सुरक्षित होने के कारण इनमें प्रयुक्त सर्वतोभद्रिका-प्रतिमा और सर्वतोभद्र-मंदिर की अभिकल्पना को सरलता से समझा जा सकता है। भारत में उपलब्ध कम से कम ऐसे ही दो बीड़ मंदिरों के भग्नावशेषों के प्राप्त होने से यह अनुमान किया जाता है कि इन बीड़ मंदिरों में भी सर्वतोभद्र और सर्वतोभद्रिका



रेखाचित्र 21. पहाड़पुर (बान्ला देश) : मंदिर की रूपरेखा।



(क) माष्ठोदल — तीर्थकर ऋषभनाथ (आशुतोष संवहालय)



प्राचीर्व श्री राजावतमहादेव संवहालय

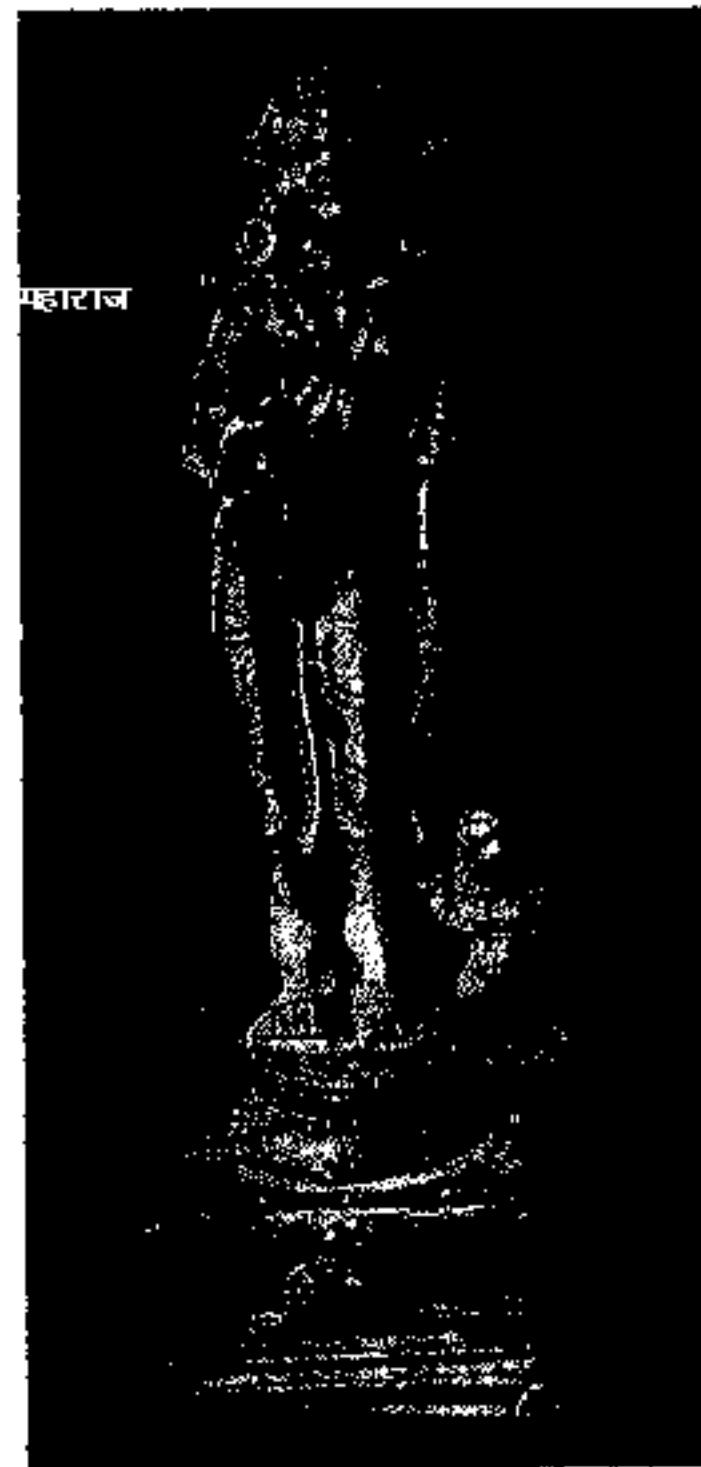
(ख) माधवा — तीर्थकर ऋषभनाथ (आशुतोष संवहालय)



(ल) उत्तर बंगाल — एक भूति (म्बुजिया आंफ बारेन्ट्र  
रिसर्च सोसायटी)



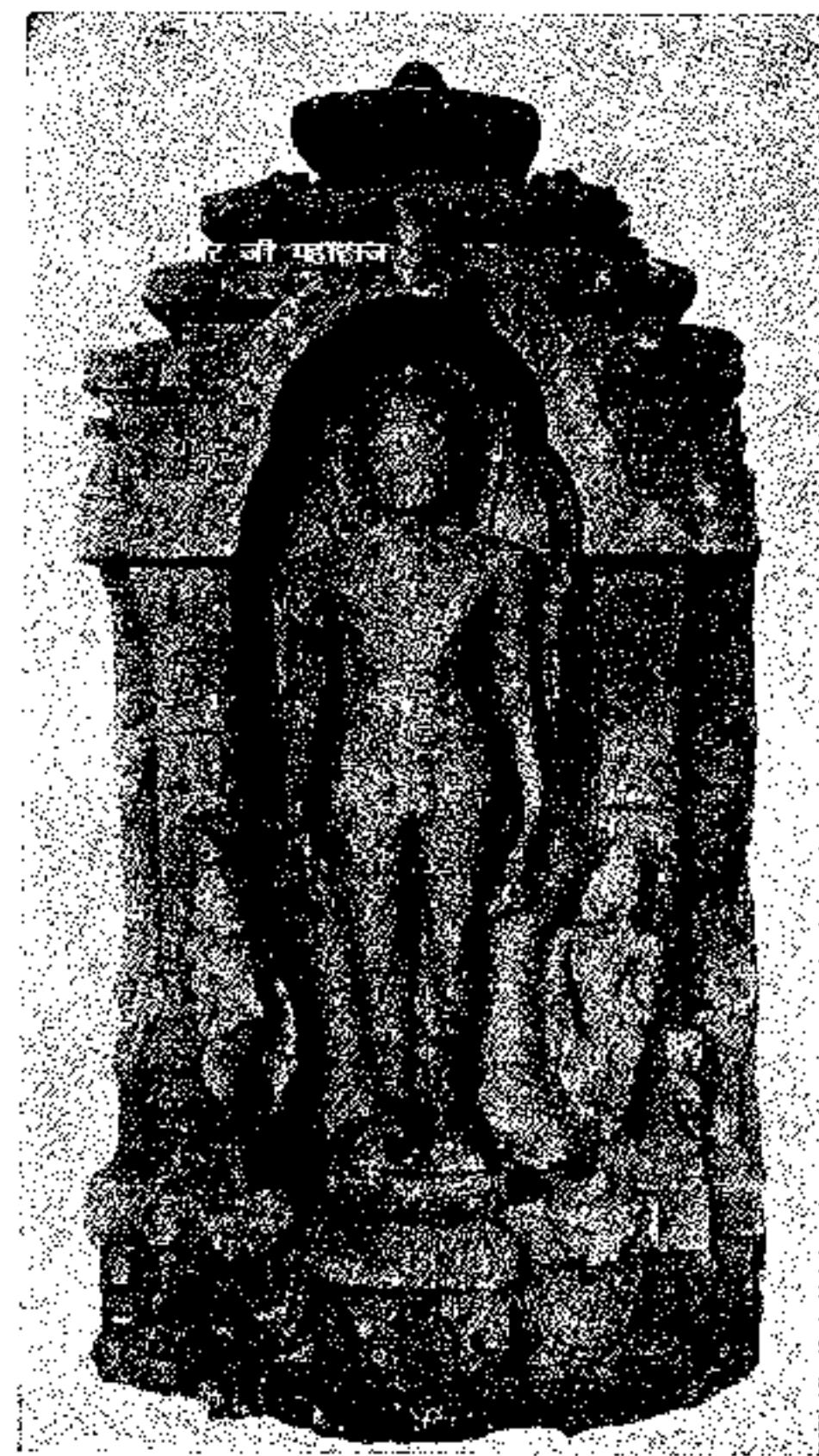
(ल) अलीरा — अधिका की काँस्य-मूर्ति (पटना संग्रहालय)



(क) देवपादा — एक मूर्ति (म्यूजियम श्रॉफ बारेम्ब  
रिसर्च सोसायटी)



(क) मानभूम — शीर्षकर अजितगाथ की कांस्य-मूर्ति (आशुलोष संग्रहालय)



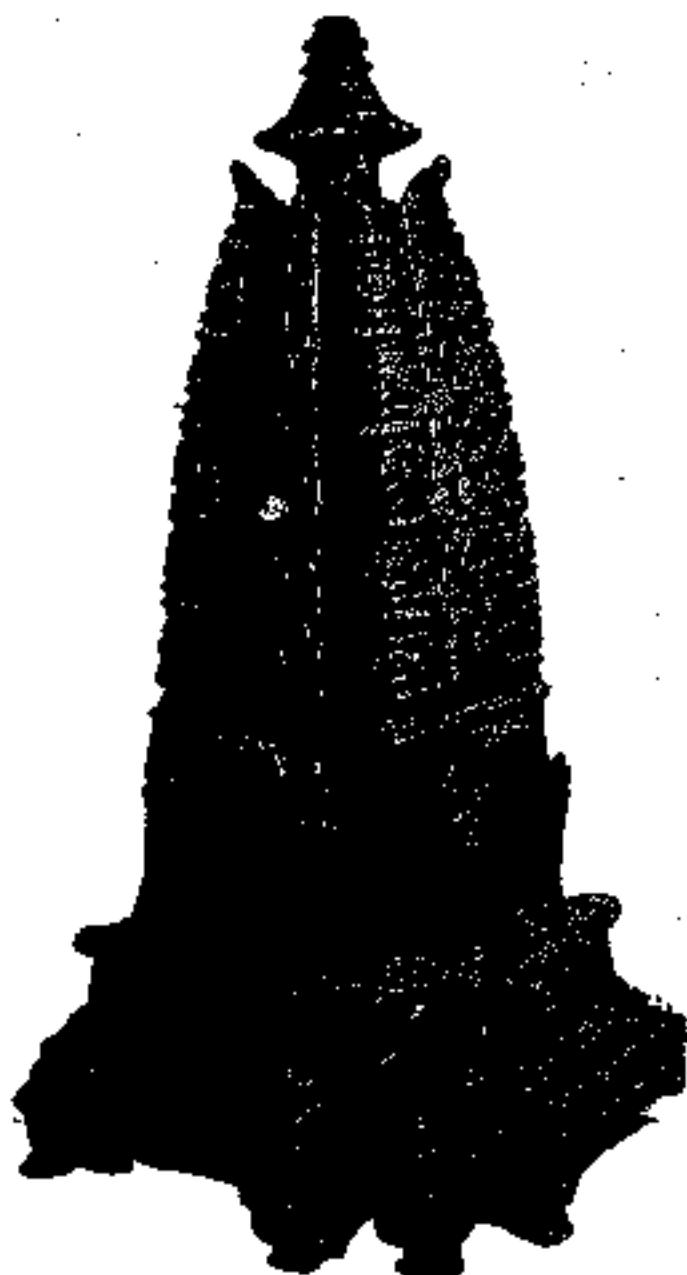
(ख) पलमा — शीर्षकर अजितगाथ  
(पटना संग्रहालय)

(ल) देवलिया — चतुर्मुख (आषुलोष संग्रहालय)

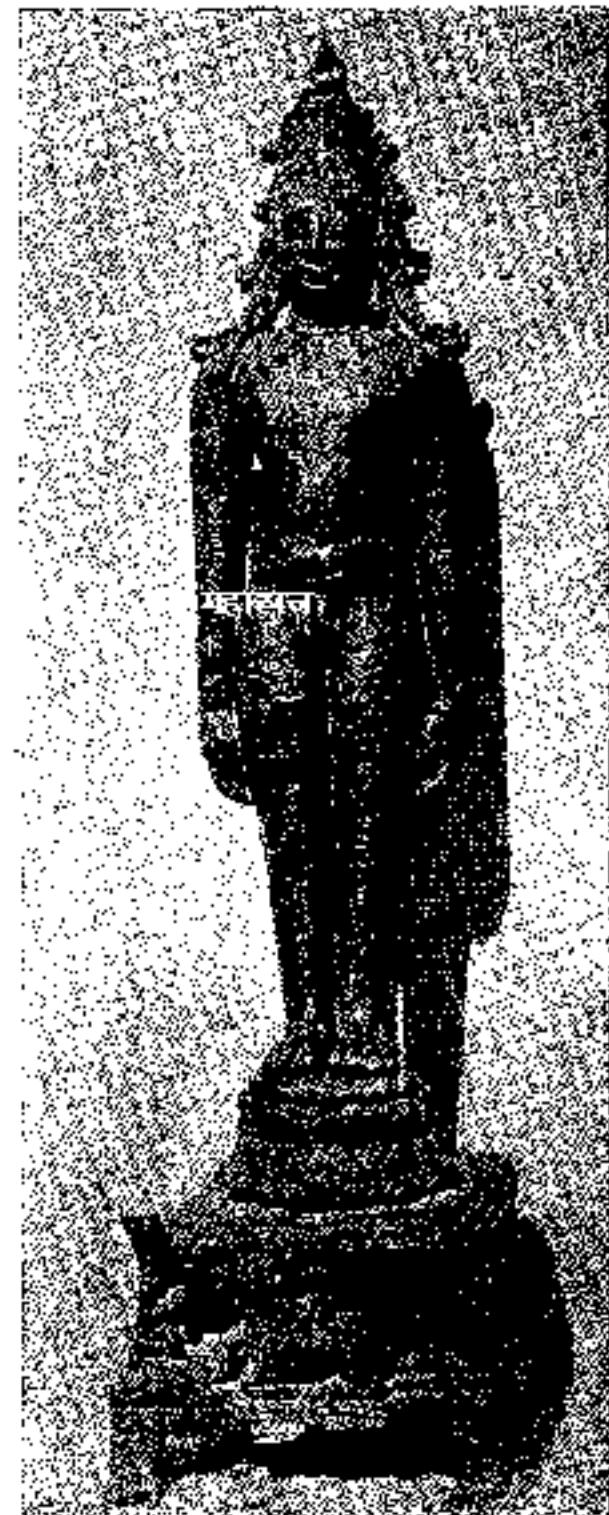


(क) पुसलिया — चतुर्मुख (आषुलोष संग्रहालय)

बास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला 1000 से 1300 ई०

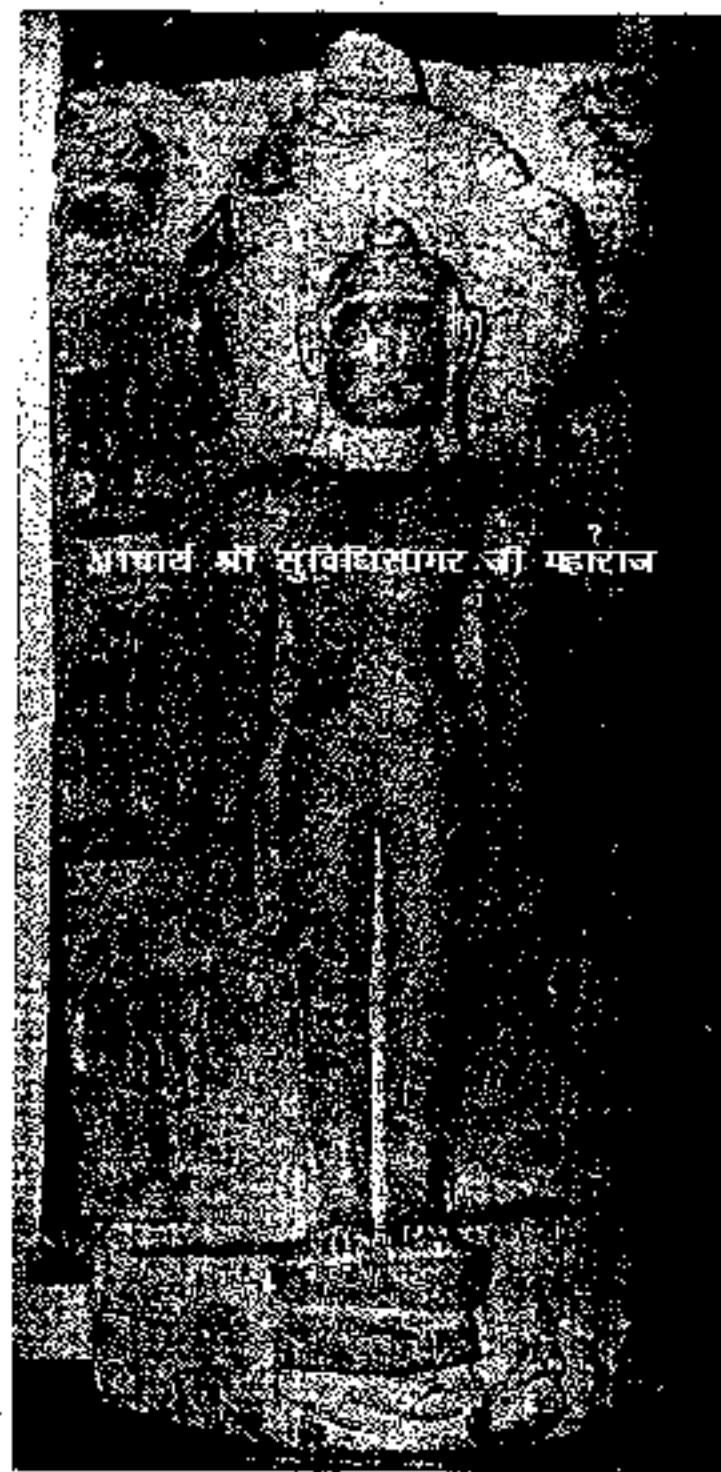


(क) लवारी — मंदिर की कांथ-निर्मित प्रतुकृति (भारतीय संग्रहालय)



(ख) वानपुर — तीर्थकर ऋषभनाथ की कोल्यमूर्ति (भुवनेश्वर संग्रहालय)

(श) उडीसा — तीर्थकर पाइवनाथ (लिखित संग्रहालय)



(क) बालपुर — तीर्थकर चंद्रप्रभ की कास्य-मूर्ति (भुवनेश्वर संग्रहालय)

वास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला 1000 से 1300 ई०



(क) चडीसा — यक्षी-मूर्ति (आश्रित संग्रहालय)



सुविधिशागर जी महाराज

(ख) काकडपुर — चंद्रप्रभ की कांस्य-मूर्ति (आशूतोष संग्रहालय)

की अभिकल्पना को अपनाया गया है। ये दोनों मंदिर पूर्व-मध्यकालीन के हैं, जिनमें से एक मंदिर ईट-निर्मित और विशालाकार है, जो पहाड़पुर (जिला राजशाही, बांग्ला देश) स्थित बौद्ध मठ के मध्यवर्ती भाग में अपना प्रमुख स्थान रखता है। यहाँ पर सोमपुरा नामक एक महान् बौद्ध विहार था जिसका निर्माण पालवंशीय द्वितीय-शासक घर्मपाल ने लगभग आठवीं शताब्दी के अंत या नौवीं शताब्दी के प्रारंभ में कराया था जैसा कि शुप्त संवत् १५६ (सन् ४७८-७९६ ई०) के एक तात्रपत्र-अनुदान से ज्ञात होता है, इससे पूर्ववर्ती काल में यहाँ पर या इसके निकटवर्ती क्षेत्र में एक जैन द्वारा थी। ईट-निर्मित इस विशालाकार बौद्ध मंदिर में अनेक असामान्य विशेषताएँ रही हैं जिनकी चर्चा यहाँ आवश्यक है। इस बौद्ध मंदिर में इसका रूप और आकार उल्लेखनीय है। इस लेखक ने अन्यथा उल्लेख किया है कि यह मंदिर इस विशाल स्मारक के द्वासरे तल के मण्डप में स्थित था। मंदिर के मध्य में एक वर्गाकार स्तंभ था जिसकी प्रत्येक सतह के समक्ष आगे की ओर प्रक्षिप्त कक्ष थे। इस सारी संरचना के चारों ओर एक प्रदिक्षणा-पथ था (रेखाचित्र २१) इस संरचना से यह भली-भाँति अनुमान किया जा सकता है कि स्तंभ की चारों सतहों से सटी हुई एक-एक प्रतिमा रही होगी। इस प्रकार इस मंदिर में जैन सर्वतोभृतिका का उपयोग देखा जा सकता है। हमारे इस सुभाव का समर्थन बुद्ध-प्रतिमा के पादपीठ के वे अवशिष्ट भाग करते हैं जो कुछ कक्षों में स्तंभ से जुड़े हुए हैं। स्तंभ की सतहों से इस मंदिर के प्रह्ल का समाधान बर्मा के पूर्वोक्त मंदिर कर देते हैं जिनके विषय में किसी प्रकार का संदेह नहीं है। पगान के इन मंदिरों की समानता के आधार पर यह संभावना की जा सकती है कि इस भव्य मंदिर की छत कई सतहबाली मंचाकार ही रही होगी, तथा उस पर वकाकार शिखर रहा होगा, जो प्रतिमावाले वर्गाकार स्तंभ पर आधृत रहा होगा। यह स्तंभ ऊपरी तलों के मण्डपों को पार करता हुआ छत तक आया होगा।

इसी प्रकार के एक दूसरे बौद्ध मंदिर के भग्नावशेष मैनामती पहाड़ियों (जिला कुमिल्ला, बांग्ला देश) में स्थित सालवन-विहार में पाये गये हैं। सालवन-विहार को पूर्व बंगाल के देवबंशीय चतुर्थ-शासक बौद्ध धर्मानुयायी भावदेव के विहार के रूप में पहचाना जा सकता है। इस चतुष्कोणीय बौद्ध विहार के मध्यवर्ती भाग में पाये गये इस मंदिर के अवशेषों से ज्ञात होता है कि इनमें पहाड़पुर मंदिर के द्वासरे तल की विन्यास-रूपरेखा को ही अपनाया गया है। इस मंदिर के मध्यवर्ती भाग में ईट-निर्मित वर्गाकार स्तंभ था जिसकी चारों सतहों पर प्रक्षिप्त चार कक्ष थे। चारों कक्षों में स्तंभ से सटी हुई प्रतिमाएँ थीं। इनमें से एक कक्ष में कांस्य निर्मित बुद्ध की प्रतिमा का एक अवशेष भी पाया गया है, जो पहाड़पुर-मंदिर के विषय में व्यक्त की गयी इस संभावना का भी समर्थन करता है कि वर्गाकार स्तंभ की चारों सतहों पर प्रतिमाएँ थीं। ये दोनों ही मंदिर अत्यंत खण्डित अवस्था में हैं। लेकिन इन मंदिरों की रचना का विवरण पूर्वोक्त पगान मंदिरों से उल्लेखनीय साम्य दर्शाता है। इन मंदिरों की वेदियों से प्रतीत होता है कि इनका आदर्श जैनों की सर्वतोभृतिका-प्रतिमा रही है।

1. सरस्वती (एस के). स्लूगल फॉर एम्पायर, संसा : मजुमदार (आर सी) एवं पुसालकर (ए डी). 1957. बंदई.  
पृ 637-38.

बर्मी के पगान स्थित नट ह्लाउंग क्याउंग विष्णु-मंदिर में भी जैन सर्वतोभद्रिका को अपनाया गया है, अतः इस संदर्भ में यह जाँच-पड़ताल उपयोगी होगी कि क्या देश या विदेश में इस प्रकार का कोई और भी हिन्दू मंदिर है जिसमें सर्वतोभद्रिका को अपनाया गया हो। प्रतिभा-विज्ञान में कहीं-कहीं अनेक हिन्दू देवी-देवताओं की अवधारणा ऐसी चतुर्मुख प्रतिमा में की गयी है जिनके चारों मुख चारों मुख्य दिशाओं में हैं। लेकिन इस अवधारणा को मात्र ऐसी प्रतिमा में ही रूपांतरित किया गया है जिसके मात्र सम्मुख भाग पर ही आकृतियाँ अंकित हैं। फलतः उन तक पहुँचने के लिए सम्मुख द्वार की ही आवश्यकता होती है। अतः इस प्रकार के मूर्तिपरक कला-प्रतीक को हिन्दू प्रतिमा-शास्त्र में उस समानांतर भावार्थ में नहीं लिया जा सकता। जिस भावार्थ में जैन सर्वतोभद्रिका को लिया जाता है। इस तथ्य की सोदाहरण व्याख्या के लिए हिन्दुओं के त्रिदेवों में सर्वप्रथम देव ब्रह्मा तथा विष्णु के वैकुण्ठ रूप का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें से ये प्रत्येक देव, मूर्तिपरक विवरणों के अनुसार, चार मुखवाले हैं लेकिन इनकी मूर्तियों का निर्माण केवल सम्मुख-दृश्य को ध्यान में रखकर हुआ है। इन दोनों देवों के मंदिर अल्प संख्या में ही जात हैं और उनमें एक ही प्रवेश-द्वार है, जो सम्मुख दिशा में है। विष्णु के मंदिरों में खजुराहो (मध्य प्रदेश) स्थित लक्ष्मण-मंदिर सर्वाधिक उल्लेखनीय है जिसमें वैकुण्ठ-विष्णु की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। इस मंदिर में एक ही प्रवेश-द्वार है जो मूर्ति की सम्मुख दिशा में है। यहाँ पर ब्रह्मा का भी एक मंदिर है जिसमें चारों दिशाओं में चार द्वार दिखाई देते हैं, लेकिन तीन ओर के द्वार जालीदार प्रस्तर-फलकों से अवश्य हैं; मात्र पूर्व दिशा का द्वार ही प्रवेश-द्वार है। एक ही ओर चारों मुँह उत्कीर्ण रहने वाली हिन्दू प्रतिमाओं के लिए ऐसे मंदिर की आवश्यकता नहीं है जिसके चार प्रवेश-द्वार हों।

जैन सर्वतोभद्रिका का प्रतिबिंब हिन्दुओं के उस शिवलिंग में देखा जा सकता है जिसकी चारों सतहों पर चार मुखाकृतियाँ उत्कीर्ण हैं, जिन्हें सामान्यतः चतुर्मुख लिंग या चतुर्मुख भगवान्देव के नाम से जाना जाता है। शिवलिंग की अवधारणा और अंकन योनि के आकार की रचना में स्थापित देलनाकार शिश्न-प्रतीक के रूप में की गयी है। चतुर्मुख लिंग-प्रतिमाओं का प्रचलन हिन्दुओं में अत्यंत प्राचीन काल से रहा है। अतः यह कहना कठिन है कि जैन सर्वतोभद्रिका या चतुर्मुख लिंग—इन दोनों में से किसकी अवधारणा प्राचीनतम है। परन्तु यह संदेह रहित है कि इन दोनों का वैष्णविक आधार एक ही है। सादा एवं अलंकरणरहित देलनाकार लिंग अथवा चतुर्मुख लिंग के लिए चारों ओर से प्रवेश-द्वारों की आवश्यकता की पूर्ति जैन सर्वतोभद्र-अभिकल्पना का मंदिर ही कर सकता है। भारत में सहस्रों की संख्या में शिव-मंदिर हैं जिनमें उपास्य प्रतिमा के रूप में लिंग-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हैं, जो या तो सादा हैं या फिर उनके चारों ओर चतुर्मुख प्रतिमाएँ अंकित हैं। इनमें से किसी-किसी मंदिर में ही एक से अधिक प्रवेश-द्वार हैं। यहाँ तक कि नवना (मध्य प्रदेश) स्थित चतुर्मुख-भगवान्देव-मंदिर में भी एक ही प्रवेश-द्वार है जो सम्मुख दिशा में है; जबकि इस मंदिर की प्रतिमा चतुर्मुखी है। खजुराहो स्थित भत्तेश्वर-मंदिर में यद्यपि चारों दिशाओं में प्रवेश-द्वार दिखाई देते हैं किन्तु इसमें बस्तुतः एक ही प्रवेश-द्वार है जो पूर्व दिशा में है।

इस संदर्भ में लगभग बारहवीं शताब्दी के वास्तु-शास्त्रीय ग्रंथ अपराजितपृच्छा हारा प्रदत्त जानकारी महत्वपूर्ण है। १ यह ग्रंथ एक शिव-मंदिर के लिए सर्वतोभद्र मंदिर के प्रकार का निर्देश देता है (सर्वत्र सर्वतोभद्र-चतुर्द्वारः शिवालयः)। प्रतीत होता है कि इस प्रकार के मंदिर को शैव मतावलंबियों ने उत्तरवर्ती काल में अपनाया। नेपाल के पशुपतिनाथ और बाराणसी के विश्वनाथ-मंदिरों में (जैसे वे आज हैं) अपराजितपृच्छा हारा निर्देशित योजनानुरूप चारों आसन्न दिशाओं में चार प्रवेश-द्वार हैं। पशुपतिनाथ-मंदिर के गर्भगृह में चतुर्मुख लिंग स्थापित हैं। बंगाल के उत्तर-मध्यकालीन कुछ शिव-मंदिरों में योजनानुसार सर्वतोभद्र की चारों दिशाओं में प्रवेश-द्वार हैं। अपराजितपृच्छा में सर्वतोभद्र जैसे शिव-मंदिर का विवरण निष्प्रयोजन नहीं है। यह इस संभावना को भी बल दे सकता है कि शैवों ने शिव-मंदिरों के लिए सर्वतोभद्र-योजना को जैनों से अहण किया है।

इससे ज्ञात होता है कि सर्वतोभद्र-प्रकार के मंदिरों का प्रभाव संप्रदायगत सीमाओं से परे भी गया, जिसके आधार पर बने उल्लेखनीय मंदिर अन्य धर्मों तथा देश-विदेश में भी पाये जाते हैं। यह उपरोक्त सर्वेक्षण अभी अपनी प्राथमिक अवस्था में है अतः इसके लिए पूरी तरह से खोज-बीन किये जाने की आवश्यकता है।

### उडीसा

विवेच्य कालखण्ड के अंतर्गत पूर्व-मध्यकालीन उडीसा में एक महत्वपूर्ण भूतिकला-शैली पहलवित हुई जो बंगाल एवं बिहार की पूर्व शैली (पाल शैली) के समान ही उल्लेखनीय है। इस शैली ने पाल-शैली की कुछ विशेषताओं को अपने में समाहित किया। इन्हें विशेष रूप से इसकी उपासनापरक प्रतिमाओं में देखा जा सकता है। पाल-शैली की ये विशेषताएँ उन क्षेत्रों में अधिक घनिष्ठ रूप से पायी गयी हैं जो पाल-शैली की क्षेत्र-सीमा के निकटवर्ती हैं। बहुत कुछ पाल-शैली के लघु-अनुशासन की दुर्बलता के परिष्कार के कलास्वरूप यह शैली इसमें आयी है। इस काल की उडीसा की जैन प्रतिमाओं को इसी प्रवृत्ति में बैधी देखा जा सकता है। मंदिर को भित्तियों के शिल्पांकनों में एक सशक्त सुधृद्य शैली तथा विशेष नाटकीय अंकन का विकास भी उडीसा में हुआ जिसका विनियोग सामान्यतः जैन मंदिरों में नहीं देखा जाता।

उडीसा से प्राप्त तत्कालीन भूति-शिल्पों में सामान्यतः तीर्थकरों की एवं कुछ यक्षियों की प्रतिमाएँ हैं जो पाषाण-निर्मित भी हैं और धातु-निर्मित भी। कुछ प्रतिमाओं का, जो स्पष्टतः इस काल की हैं, विवेचन अध्याय १५ में किया जा चुका है। यहाँ पर उदाहरण के लिए धातु-निर्मित अद्यभनाथ तथा पाषाणनाथ की प्रतिमाओं का उल्लेख किया जा सकता है जो बानपुर के भूमिगत भण्डार से प्राप्त हुई थीं और जो इस समय भूवनेश्वर स्थित उडीसा राज्य संग्रहालय में संरक्षित हैं। इनमें से किसी भी प्रतिमा का समय ग्यारहवीं शताब्दी से पूर्व का निर्धारित नहीं किया जा सकता।

१ अपराजितपृच्छा, गाथकबाड़ ऑरिएण्टल सीरीज, ६५, १९५०, बड़ीवा, अध्याय १३४, छंद ४.

ऋषभनाथ की प्रतिमा (चित्र १६० छ.) की आङ्गुष्ठि लयात्मक है जिसपर सूक्ष्म क्षायांकन है। यह प्रतिमा एक उल्लेनीय कलाकृति है।

इसी भण्डार से उपलब्ध कायोत्सर्ग तीर्थकर चंद्रप्रभ (चित्र १६१ क) और शांतिनाथ की धातु-निर्मित मुद्राएँ या प्रतिमाएँ भी इसी प्रकार की विशेषताएँ लिये हुए हैं। तीर्थकर चंटप्रभ अपने लांछन अधकार चंद्र एवं शांतिनाथ हरिण के साथ अंकित हैं। शांतिनाथ के सिर पर एक प्रकार का टोपा-सा है, जिसे तीर्थकरों की प्रतिमाओं में कभी-कभी देखा जा सकता है। ये दोनों प्रतिमाएँ स्यारहवीं शताब्दी की प्रतीत होती हैं और संभवतः ऋषभनाथ कीपूर्वोक्त प्रतिमा के कुछ समय बाद की हैं। इसी भण्डार से एक और धातु-निर्मित तीर्थकर-प्रतिमा प्राप्त हुई है जिसके पादपीठ पर अंकित लांछन की अस्पष्टता के कारण यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि ये कौन-से तीर्थकर हैं। यह प्रतिमा स्थूलकाय और आकार में बामन है। इस प्रतिमा में भी तीर्थकर के सिर पर टोपा-सा अंकित है।

मध्यूरभंज जिले के खिचिंग स्थित संश्हालय में पाषाण-निर्मित अनेक जैन प्रतिमाएँ हैं जिनमें से अधिकांश खण्डित हैं। इन प्रतिमाओं में या तो लांछनों का अभाव है या फिर लांछन स्पष्ट नहीं है, इसलिए बहुत-सी तीर्थकर-प्रतिमाओं को पहचानना संभव नहीं है। शैलीगत रूप में इन प्रतिमाओं के लिए स्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी का समय निर्धारित किया जा सकता है। महावीर की पद्मासनस्थ एक प्रतिमा को छोड़कर शेष प्रतिमाएँ कायोत्सर्ग-मुद्रा में हैं। पद्मासनस्थ महावीर सिंहासन पर आसीन हैं। पादपीठ के दोनों किनारों पर सिंह अंकित हैं, जो सिंहासन को आधार प्रदान किये हुए हैं। सिंह के मध्य में चक्र अंकित है। इन प्रतिमाओं में दो प्रतिमाएँ ऋषभनाथ की हैं। एक प्रतिमा का शीर्षभाग खण्डित है। कायोत्सर्ग तीर्थकर के पाश्व में दोनों ओर सेवक हैं तथा पादपीठ पर बृूप अंकित है। एक प्रतिमा कायोत्सर्ग पाश्वनाथ की है (चित्र १६१ छ.) जिनके शीर्ष पर सप्त-फण-नाग-छत्र है। इस समूह की दो अन्य तीर्थकर-प्रतिमाएँ पहचानी नहीं जा सकी हैं। इनमें से एक प्रतिमा-स्तंभ पर पांच लंबरूप पंक्तियों में बीस तथा दोनों छोरों पर दो-दो तीर्थकर-प्रतिमाएँ अंकित हैं। इस समूह में एक अत्यंत परित्कृत चतुर्भुज प्रतिमा भी है।

मध्यूरभंज जिले के बारीपद स्थित संश्हालय में धातु-निर्मित चार जैन प्रतिमाएँ हैं जो संभवतः इसी क्षेत्र से प्राप्त हुई हैं। इनमें से तीन कायोत्सर्ग हैं तीर्थकरों की हैं। इन तीनों में से मात्र एक ही प्रतिमा को पहचाना जा सका है, जो पाश्वनाथ की है और जिनके शीर्ष पर सप्त-फण-नाग-छत्र अंकित है। चौथी प्रतिमा एक कमनीय तारी की है। इसका दाहिना हाथ अभय-मुद्रा में है और बायें हाथ में एक बृक्ष की पंक्तियाँ हैं (चित्र १६२ क)। इसकी आकर्षक मुद्रा इसे एक विशिष्टता प्रदान करती है। स्पष्टतः यह एक यक्षी-प्रतिमा है जिसे विशेष प्रतीकों के अभाव में पहचानना संभव नहीं है। ये सभी प्रतिमाएँ स्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी की हैं।

कुछ बात-निमित्त प्रतिमाएँ कोणार्क (उडीसा) के निकटवर्ती ककतपुर से प्राप्त हुई हैं जो बारहवीं शताब्दी की प्रतीत होती हैं। इन प्रतिमाओं में से कुछ कलकत्ता के भारतीय संग्रहालय में हैं और कुछ आशुतोष संग्रहालय में। अधिकांशतः प्रतिमाएँ तीर्थकरों की हैं जो समरूप हैं, जिनके विषय में विशेष रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। यहाँ पर आशुतोष संग्रहालय में सुरक्षित तीर्थकर चंद्रप्रभ की प्रतिमा (चित्र १६२ ख) का उल्लेख किया जा सकता है। तीर्थकर कायोत्सर्ग-मुद्रा में एक पद्मपुष्प पर खड़े हैं जो एक बगकार पादपीठ पर आधारित है। पादपीठ पर उनका लांचन अद्वितीय अंकित है। तीर्थकर के शरीर का निष्क्रिय प्रतिरूपण तथा मुख-मण्डल पर भारी ऊँच का अंकन मूर्ति-शैली में उनकी परिशेष स्थिति का अंतिम लाक्षणिक अंकन है।

### सिलकर्ष

बंगाल, बिहार और उडीसा से प्राप्त जैन प्रतिमा-अवशेषों के पूर्वोक्त सर्वेक्षण से यह भली-भाँति ज्ञात होता है कि हमारे विवेच्य कालखण्ड के अंतर्गत इस क्षेत्र में जैनों का योग, आंशिक महत्व का ही रहा है। सामान्य रूप से यह मान्य है कि पूर्व भारत में किसी सेमय जैन समाज एक महत्वपूर्ण समुदाय के रूप में विद्यमान था, जिसमें लम्मुआ अद्वितीय के नामान् हृषे साहित्यिक साक्षों एवं पुरातात्त्विक उपादानों में मिलते हैं। सातवीं शताब्दी के बाद ज्ञाह्यण धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण जैन धर्म इस क्षेत्र में क्रमशः अपना स्थान खोता चला गया। जैसा कि जैन अवशेषों के विश्लेषण से ज्ञात होता है इस काल में जैन समुदाय बंगाल, बिहार, उडीसा के उपर्यांत उत्तर-बिहार की पारस्नाथ-पहाड़ी से लेकर दक्षिण के उडीसा-वर्ती समुद्रतट तक एक लंबी उपजाऊ भूमि की पट्टी के जनजातीय क्षेत्र में सीमित होकर रह गया।

कुछ अपवादों को छोड़कर सभी जैन अवशेष उन स्थानों से प्राप्त हुए हैं जहाँ कभी जैन मंदिर या संस्थान आदि रहे थे। यह उल्लेखनीय है कि यह क्षेत्र बहुत लंबे समय से उन लोगों का निवास-स्थान रहा है जिन्हें 'शराक' नाम से जाना जाता है। ये लोग कृषि पर निर्भर करते हैं तथा कटुर रूप से अहिंसाकारी हैं। आज इन लोगों ने हिन्दू धर्म अपना लिया है। रिसले ने अपनी पुस्तक 'द्वाइव्स एण्ड कास्ट्स ऑफ बंगाल' में बताया है कि लोहरडामा के शराक आज भी पारस्नाथ को अपना एक विशेष देवता मानते हैं तथा यह भी मान्य है कि इस जनजाति का 'शराक' नाम श्रावक से बना है, जिसका अर्थ जैन धर्म के अनुयायी-गृहस्थ से है। ये पूर्वोक्त समस्त साक्ष्य संकेत देते हैं कि शराक मूलतः श्रावक थे; इस बात का समर्थन उनकी परंपराएँ भी करती हैं। इस सर्वेक्षण से यह भी ज्ञात होता है कि जैन धर्म पूर्व भारत में एक सुगठित समुदाय के रूप में रहा है जिसके संरक्षक शराकबंशीय मुखिया होते थे। इनकी कृषि-अर्थ-व्यवस्था की समानता पश्चिम भारत की व्यावसायिक अर्थ-व्यवस्था से नहीं की जा सकती। पूर्व भारत के जैन समाज में कोई विमलशाह-जैसा राज्याधिकारी, तेजपाल-जैसा श्रेष्ठ

वास्तु-स्थारक एवं सुरिकला 1000 से 1300 ई०

[ भाग 5

घनाढ्य या वास्तुपाल-जैसा श्रेष्ठ राजकुमार नहीं था । यह भी एक कारण है जिससे पूर्व भारत में बैन धर्म के संरक्षण में कला का महत्त्वपूर्ण विकास नहीं हो पाया ।

सरसी कुमार सरस्वती



## प्राचीन 22

### मध्य भारत<sup>1</sup>

#### ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

इसवी सन् १००० से १३०० की अवधि में मध्य भारत के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास के प्रबाह को जिन कुछ शक्तिशाली वंशों ने प्रभावित किया उनमें से चंदेल उत्तरी भाग (जेजाकभुक्ति या बुदेलखण्ड) पर, कलचुरि पूर्वी भाग (डाहल और महाकौशल) पर और परमार पश्चिमी भाग (मालवा) पर राज्य करते थे, किन्तु मध्य भाग पर कुछ समय कच्छपघाटों का शासन रहा। इन वंशों के शासक युद्ध और शांतिकालीन कलाकृतियों के निर्माण में एक दूसरे से प्रतिस्पर्धी करते थे, और कला, स्थापत्य एवं साहित्य के महान् निर्माता और संरक्षक भी थे। यद्यपि ये वश आहुष्य भट्टों के अनुभायों व तथायि वे जैन मुनियों एवं विद्वानों का सम्मान करते थे। जैन धर्म को उनका उदार संरक्षण इसलिए भी प्राप्त था क्योंकि उनके राज्य की प्रजा का एक प्रभावशाली अंग जैन धर्मीविलंबी था, जिसमें व्यापारी, साहूकार तथा शासकीय पदाधिकारी भी थे।

चंदेलों की एक राजधानी खजुराहो वी जिसमें जैन समाज प्रभावशाली था। यह तथ्य इस बात से प्रभागित होता है कि वहाँ कुछ ऐसे मंदिर विद्यमान हैं जिनमें चंदेलकालीन कला और स्थापत्य की वही उत्कृष्टता है जो आहुष्य मंदिरों में। खजुराहो का जैन समाज इतना वर्तिक था कि वह उन वहु-संख्यक मूर्तिकारों एवं बास्तुविदों को संरक्षण प्रदान कर सका जिन्होंने वहाँ के राजवंश के लिए निर्माण-कार्य किया था; इसकी पुष्टि वहाँ के दो भिन्न धर्मों के मंदिरों की मूर्तिकला तथा स्थापत्य संबंधी एकरूपता से होती है—एक तो चंदेल शासक यशोवर्मन् द्वारा सन् ९५४ से पूर्व निर्मित लक्ष्मण-मंदिर, और दूसरा खजुराहो की सर्वोत्कृष्ट जैन कृति पार्श्वनाथ-मंदिर जिसका निर्माण, प्राप्त उल्लेख के अनुसार, सन् ९५४ में राजा धंग द्वारा सम्मानित पाहिल नामक व्यक्ति ने कराया था।

खजुराहो में कुछ जैन मंदिर और भी हैं। दसवीं से बारहवीं शताब्दी तक की जैन प्रतिमाएँ भी अनेक हैं, इनमें सबसे बाद की प्रतिमा की तिथि मदन वर्मा (सन् ११२६-६३) के शासनकाल

1 [यहाँ मध्य भारत से आशय भारत के मध्य भाग से है, उस पूर्वकालीन राजनीतिक इकाई से नहीं जो अब मध्य प्रदेश में विलीन हो गयी है।]

की है। चंदेलों की एक अन्य राजधानी हमीरपुर जिले में स्थित महोबा थी। यह क्षेत्र मध्यकालीन जैन मंदिरों और प्रतिमाओं से भरा पड़ा है, जिनमें से कुछ की निर्माण-तिथियाँ चंदेल शासक जयवर्मा (सन् १११७), मदनवर्मा और परमदी (लगभग सन् ११६३-१२०१) के शासनकाल की हैं। खजुराहो एवं महोबा के अतिरिक्त भाँसी जिले और उसके सभीपटर्टी, देवगढ़, चंदेरी, बुढ़ी चंदेरी, सीरोनखुर्द, चांदपुर, दुधई और मदनपुर नामक स्थानों पर भी दसवीं से तेरहवीं शताब्दी तक जैन कला और स्थापत्य की जो समृद्धि हुई उसका कारण भी चंदेल-संरक्षण था। इसी प्रकार, देवगढ़ का प्रसिद्ध स्थल राजा कीर्तिवर्मा (लगभग १०७०-६० ई०) के नाम पर कीर्तिगिरि के नाम से भी विख्यात हुआ। इस चंदेल-राजा के पूर्वजों ने उस प्रदेश पर प्रतीहार-साम्राज्य के बाद सत्ता प्राप्त की थी। इसके अतिरिक्त, दुधई में प्राप्त इ॒ आचारन-शिलाओं पर उल्कीर्ण कराये गये अभिलेखों में प्रसिद्ध चंदेल राजा यशोवर्मी के पौत्र युवराज देवलविष्णु का उल्लेख है, और उसके निकटवर्ती मदनपुर के बारे में अनुश्रुति है कि उसे चंदेल मदनवर्मा ने बलाया था।

मगलवा के परमार तो जैनों के चंदेलों से भी अधिक उदार संरक्षक थे। प्रसिद्ध तगड़ी उज्जयिनी (आखुनिक उज्जैन) तथा राजधानी धारा (आखुनिक धार) जैनाचार्यों के प्रसिद्ध केंद्र थे। सत्ताईसवें जैन भट्टारक ने अपना पीठ भद्रलपुर से बदलकर उज्जैन में स्थापित किया, जहाँ सरस्वती-गच्छ और बलात्कार-नृण का आरम्भ हुआ। धार में अनेक प्राचीन जैन मंदिर हैं जिनमें से दो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—एक तो पाश्वनाथ-मंदिर जहाँ देवसेन ने सन् ६३३ में दर्शनसार की रचना की, और दूसरा जिनेश्वर-विहार जहाँ नयनदी ने सन् १०४३ में सुदर्शनचरित लिखा। परमार भोज (सन् ६७२-६५) ने अभितगति, महासेन, घनेश्वर और घनपाल नामक जैनाचार्यों को राजाश्वय दिया। राजा भोज (सन् १०००-५०) ने प्रसिद्ध जैनाचार्य प्रभाचंद्र को सम्मानित किया था। वह तिलकभंजरी के रचिता घनपाल का भी आश्रयदाता था और उसने उन्हें 'सरस्वती' की उपाधि से विभूषित किया था। कहा जाता है कि जैनाचार्य शातिष्ठे ने राजा भोज की सभा के पण्डितों को पराजित किया था। राजा भोज ने जिनेश्वर-सूरि, दुद्धिसागर तथा नयनदी नामक जैन मुनियों को भी राजाश्वय दिया। उसके शासनकाल में नेमिचंद्र ने केशोराय पाटन (आश्रमनगर) में लघु-द्रव्य-संग्रह की रचना की। इसी नाम से एक अन्य जैनाचार्य ने उसी काल में भोपाल के निकट भोजपुर में शांतिनाथ की एक विशाल प्रतिमा प्रतिष्ठित की। यह भोजपुर अपने शिव-मंदिर के लिए प्रसिद्ध है, जिसे राजा भोज ने बनवाया था।

### चंदेल क्षेत्र—खजुराहो

#### सामान्य विशेषताएँ

खजुराहो स्थित जैन मंदिरों में विन्यास और उठान की दे ही विशेषताएँ हैं जो वहाँ के अन्य चंदेल मंदिरों की हैं। वे ऐसे प्राकार-रहित उत्तुंग भवन हैं जो ऊँची जगती पर निर्मित हैं। इसी

1 [इस अवधि में देवगढ़ स्थित स्मारकों की चर्चा आंशिक रूप से अध्याय 18 में की जा चुकी है—संपादक.]

कारण आसपास के परिवेश से ये भवन और भी ऊँचे दिखते हैं। इनमें चारों ओर खुला चक्रमण-भाग एवं प्रदक्षिणा-पथ है। इनके सभी भाग बाहर और भीतर एक दूसरे से संयुक्त हैं और इनके निर्माण की संयोजना एक ही धूरी पर की गयी है जिससे इनका स्वरूप अत्यंत संगठित और एकलप बन पड़ा है। आयोजना के आवश्यक अंग अर्थात् अर्ध-मण्डप, मण्डप, अंतराल और गर्भगृह यहाँ के सभी मंदिरों में हैं। बड़े मंदिरों में गर्भगृह के चारों ओर एक आम्ब्यन्तरिक प्रदक्षिणा-पथ भी है।

आयोजना के समान, इनके उठान की भी कुछ विशेषताएँ हैं। मंदिर की जगती पर एक ऊँचा अविष्टान है जिसकी पंक्तिबद्ध अलंकरण-पट्टियाँ जगती को सुदृढ़ रूप से जकड़े हुए हैं, और इस कारण प्रकाश तथा छाया की सुंदर व्यवस्था भी हो गयी है। ऐसे ठोस और अलंकृत अधिष्ठान पर जंघा या मंदिर का भित्ति-भाग या मध्य भाग है, जिसमें अत्यंत रोचक और आकर्षक मूर्तियों के दो या तीन आड़े बंध हैं। जंघा के ऊपर छत के रूप में शिखर-माला है। मंदिर के विभिन्न भागों के शिखर आरोह-क्रम में ऊँचे उठते चले गये हैं। सबसे नीचा शिखर प्रवेश-मण्डप का है तो सबसे ऊँचा गर्भगृह का। ये शिखर, जो एक बुरीय रेखा पर निर्मित हैं, बारी-बारी से ऊँचे-नीचे हैं तथा इनकी परिणति उस सर्वोच्च शिखर में होती है जिसकी संयोजना केवल गर्भगृह पर हुआ करती है। अर्ध-मण्डप, मण्डप और महा-मण्डप के शिखर स्तूपाकार हैं किन्तु मध्यवर्ती शिखर ऊँचा और बकाकार है। पार्श्वनाथ-मंदिर में यह शिखर गौण शिखरों से भी संयुक्त है।

वहिभाग की भाँति इन मंदिरों के अंतःभाग में भी विस्तृत अलंकरण और मूर्ति-संपदा की विपुलता आश्चर्यकारी है जो द्वारों, स्तंभों, सरदलों और छतों पर अंकित हैं। ये गजतालु छतें, जिनपर ज्यामितिक एवं पुष्प-वल्लस्त्रियों के अलंकरण हैं, असामान्य कौशल की परिचायक हैं। भीतरी भाग में अप्सराओं और शालभंजिकाओं की भी मूर्तियाँ हैं। उनके मादक अंगोंपांग, आकर्षक मुद्राएँ और अतिमनोज्ज कला-कौशल आदि इन्हें मध्यकालीन मूर्तिकला की सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ सिद्ध करती हैं।

खजुराहो ग्राम के दक्षिण-पूर्व में घण्टाई नामक एक जैन मंदिर का खण्डहर है और उससे कुछ ही दूर एक नवनिर्मित प्राचीर के भीतर अनेक जैन मंदिर हैं। इस समूह में पार्श्वनाथ, आदिनाथ और शांतिनाथ के मंदिरों के अतिरिक्त अनेक नवनिर्मित मंदिर भी हैं। इनमें से कुछ तो प्राचीन मंदिरों के अवशेषों पर बनाये गये हैं और कुछ का निर्माण नये स्थानों पर प्राचीन मंदिरों की अवशेष-सामग्री से हुआ है और उनमें प्राचीन प्रतिमाएँ ही हैं। अनेक प्राचीन जैन मूर्तियाँ, जिनमें से कुछ उरेखित भी हैं, दीवारों में चित्र दी गयी हैं। वर्तमान में जैन भक्तों के प्रमुख पूजास्थान शांतिनाथ-मंदिर में आदिनाथ की एक शिलाल प्रतिमा (४.५ मीटर ऊँची) है जिसके पादपीठ पर १०२७-२८ ई० का समर्पणात्मक अभिलेख उत्कीर्ण है। इस मंदिर का बहुत अधिक तवीनीकरण हो चुका है, तथापि, उसके मध्य में एक प्राचीन भाग ऐसा है जिसमें अनेक देवकुलिकाओं में मध्यकालीन जैन स्थापत्य की विशेषतायुक्त अनेक प्राचीन मूर्तियाँ हैं। इन मूर्तियों में तीर्थंकर के माता-पिता की मूर्ति (चित्र १६३) अपनी कला-गरिमा के कारण महत्वपूर्ण है।

खजुराहो के प्राचीन जैन मंदिरों में के ये केवल दो ही मंदिर, पाश्वनाथ और आदिनाथ, अच्छे रूप में सुरक्षित रह पाये हैं।

### घण्टाई-मंदिर

घण्टाई-मंदिर (चित्र १६४) को स्थानीय लोग इसलिए घण्टाई कहते हैं कि उसके ऊंचे मनोहर स्तंभों पर शृंखला और घण्टों का बहुत सुंदर रूपांकन हुआ है। ये स्तंभ मध्ययुगीन भारत के सर्वोत्कृष्ट स्तंभों में से हैं और अपने विशाल आंकार, भव्य अलंकरण और पारंपरिक रचना की गरिमा के कारण ये महत्वपूर्ण हैं। इसका मुख पूर्व की ओर है। वर्तमान में इसका जो बाहरी ढाँचा बचा है वह यह दर्शाता है कि इसकी रूपरेखा पाश्वनाथ-मंदिर-जैसी ही थी किन्तु इसकी संकल्पना अधिक विशाल थी और विस्तार में यह पाश्वनाथ-मंदिर से लगभग दुगुना था। इस समय इस मंदिर के केवल अर्ध-मण्डप और महा-मण्डप ही शेष बचे रहे हैं। इनमें से प्रत्येक मण्डप चार-चार स्तंभों पर आधारित हैं और एक समतल तथा अलंकृत छत (चित्र १६५) को आधार दिये हुए हैं। पहले वह एक ठोस दीवार से घिरा हुआ था, अब महा-मण्डप और अर्ध-मण्डप को आधार देनेवाले कुछ ही अर्ध-स्तंभ शेष बचे हैं। ये अर्ध-स्तंभ बिलकुल सादे हैं और इनपर मात्र घट-पलब्द का साधारण-सा पारंपरिक अंकान है। इन्हें परिवेषित करनेवाली दीवार के साथ ही मंदिर की रूप-योजना के दो महत्वपूर्ण अंगों, अर्थात् अंतराल और गर्भगृह की प्रतीति उनकी अनुपस्थिति में भी होती है। इसके अतिरिक्त अदिशिष्ट भवन की लुप्त छत के स्थान पर अब एक समतल छत है। इससे यह भवन आकर्षक होते हुए भी एक विचित्र-सा स्थापत्य-अवशेष बनकर रह गया है।

उक्त मंदिर और पाश्वनाथ-मंदिर की रूपरेखा और संयोजना में जो समानता है वह यह जताती है कि इन दोनों मंदिरों के निर्माण-काल में बहुत अधिक अंतर नहीं रहा होगा। इन दोनों में से घण्टाई-मंदिर अधिक बड़ा है और कुछ अधिक विकसित है, अतः कुछ बाद के समय का है। इस बात की पुष्टि उसकी उत्कीर्णन-शैली और इस समय उपलब्ध मूर्तियों के अधिक पारंपरिक होने से तथा उसकी परवर्ती कला की भलक से भी होती है। इस मंदिर के जो दो भित्ति-आरेख हैं उनमें से एक पर जो 'स्वस्ति श्री साधुपाल' लिखा है, वह बाद में किसी तीर्थ-यात्री द्वारा बारहवीं शताब्दी में उत्कीर्ण कर दिया गया है। किन्तु दूसरा लेख जिसमें 'लेमिचन्द्र' लिखा है उसकी तिथि दसवीं शताब्दी का अंतिम भाग हो सकती है। मूर्तिकला और स्थापत्य-शैली के आधार पर भी इस मंदिर का निर्माण-काल दसवीं शताब्दी निर्धारित किया जा सकता है।

इस मंदिर के पास जो एक अभिलेख-युक्त बुद्ध-मूर्ति मिली थी (खजुराहो में केवल यही बौद्ध प्रतिमा पायी गयी है और अब वह स्थानीय संग्रहालय में प्रदर्शित है) उसके कारण कनिंघम ने पहले यह विचार व्यक्त किया कि यह एक बौद्ध मंदिर है किन्तु आगे चलकर उन्होंने यह मत त्याग दिया और

इसकी पहचान जैन मंदिर के रूप में की; और अब यही मत सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। अन्य स्थानीय जैन मंदिरों की ही भाँति, घण्टाई-मंदिर भी दिगंबर-संप्रदाय का था। यह उन सोलह भगव-प्रतीकों<sup>1</sup> (इवेतांबर संप्रदाय में चौदह होते हैं) से स्पष्ट है जो सरदल पर अंकित हैं तथा उन अनेक जैन नग्न प्रतिमाओं से भी सिद्ध होता है जिन्हें कनिष्ठम ने इस भवन के आसपास खोद निकाला था।<sup>2</sup> इन प्रतिमाओं में आदिनाथ की एक खण्डित मूर्ति थी जिसपर विक्रम संवत् ११४२ (१०८५ ई०) का एक लेख खुदा हुआ था। अब यह मूर्ति स्थानीय संग्रहालय में है।

दैसे तो देखने पर लगता है कि इस मंदिर की कोई जगती नहीं है; किन्तु ऊजुराहो के सभी मंदिर जगती पर बनाये गये हैं, इसलिए जान पड़ता है कि इस मंदिर की जगती भलबैं की नीचे दब गयी है।

भूमितल के ऊपर जो अधिष्ठान दिखाई पड़ता है वह दो सादे भिंडु-पट्टियों से बना जान पड़ता है और उनके ऊपर जाड्यकुंभ, कणिका, तथा अंतरपत्र हैं। उन्हें हीरक-प्रतिरूपों से युक्त आलों से अलंकृत किया गया है। इनके पास्त्र में अर्ध-स्तंभ हैं। ये पास्त्रनाथ-मंदिर जैसे हैं। पट्टिकाओं का अलंकरण बेल-बूटेदार हृदयाकार फूलों से किया गया है। पट्टिका का ऊपरी भाग जगती की ऊँचाई तक है।

अर्द्ध-मण्डप चार स्तंभों की चतुर्ज्ञी पर आधारित है। ये स्तंभ एक अलंकृत कुभिका पर खड़े हैं जो एक उपरीठ पर आश्रित है। यह उपरीठ अष्टकोणीय है तथा इसपर पुष्पगुच्छ, कमलदल तथा बल्लरियों के अलंकरण हैं। कुभिका पर सुर, कुंभ, कलश, सादा अंतरपत्र एवं कपोत, जो कुड़ओं से अलंकृत हैं, के गोटे हैं। इसके स्तंभों के मध्यभाग नीचे अष्टकोणीय, बीच में बोडशकोणीय तथा ऊपर वर्तुलाकार हैं। बोडशकोणीय भाग के ऊपर एक अष्टकोणीय मध्यबंध है जिसका अलंकरण कीर्तिमुखों से निकली मालाओं के अंतर्गत पाशों से किया गया है। इन पाशों में विद्याधर परिवेष्टित हैं जिन्हें अंजलि-मुद्रा में या मालाएँ लिये हुए या वाद्य-यंत्र बजाते हुए अंकित किया गया है। मध्यबंध की ऊपरी पट्टी की सज्जा उभरे लुमाओं से की गयी है। इस मध्यबंध से एक दीप बाहर निकला हुआ है और उसके निचले भाग पर एक भूत दृष्टिगोचर होता है। चारों स्तंभों में से प्रत्येक स्तंभ के आधार पर भी दीपाधार बाहर निकले हुए हैं।

प्रत्येक स्तंभ के वर्तुलाकार भाग में चार मध्यबंध हैं जिसमें से सबसे नीचे का मध्यबंध वर्तुलाकार है और उसका विस्तृत अलंकरण बड़े-बड़े माल्यपाशों तथा लंबी शृंखला और घण्टिकादाले ऐसे प्रतिरूपों द्वारा किया गया है जिनके पास्त्र में मालाएँ तथा पताकाएँ हैं; और कहीं-कहीं जिनका स्थान कीर्तिमुखों के मुखों से निकलकर झूलते हुए कमलनालों ने ले लिया है। माल्यपाशों में विद्याधर, तपस्ची,

1 [यही आशय भगवान की माता के सोलह स्वर्णों से है।]

2 कर्णिनम (ए). आर्योलीजिकल सर्वे अर्टफ इण्डिया, रिपोर्ट, II. 1871. शिमला. पृ 43.

मिथुन, या व्याल अंकित हैं। दूसरा बंध अष्टकोणीय है। उसमें कीतिमुखों से निचले माल्यपाशों अपेक्षाकृत छोटे हैं और प्रत्येक पाश से आरोही-युक्त व्याल-गुगल हैं। तीसरा बंध वर्तुलाकार है। उसकी सज्जा या तो पुष्पगुच्छ से की गयी है या उत्कीर्ण शिक्कोणों से। और उसमें अलंकृत अप्सरा-स्तंभों के लिए छोटे आकार के बाहर उभरे हुए चार भूत-टोडे दृष्टिगोचर होते हैं। चौथे, या सबसे ऊपर के, बंध में दो अष्टकोणीय पट्टिकाएँ हैं। इनमें से निचली पट्टी अर्ध-कमल-पुष्पोंवाले माल्यपाशों से अलंकृत है और ऊपर की पट्टिका वर्तुलाकार गुच्छों से। प्रत्येक स्तंभ के ऊपर एक वर्तुलाकार स्तंभ-शीर्ष है जिसमें धारीदार आमलक और पद्म अंकित हैं। स्तंभ-शीर्ष पर भूत-टोडे हैं जिनके बीच-बीच में श्रद्धालु नाग अंकित हैं। सभी भूतों के पेट में छेदकर कोटर बनाये गये हैं, ताकि उनमें अप्सरा-टोडे लगाये जा सकें। टोडों पर एक सरदल है जिसके तीन खसके हैं, जिनमें से नीचे के दो का अलंकरण कमल के बेल-बूटों और कीतिमुखों द्वारा किया गया है। उसके सबसे ऊपर का भाग सादा ही छोड़ दिया गया है। सरदल पर एक-चित्र-बल्लरी है जिसके शोभायात्रा-दृश्यों में अधिकांशतः भवत, संगीतकार, नृत्य करनेवालों, तथा कहीं-कहीं यात्रा में सम्मिलित हाथियों का अंकन किया गया है। उत्तर और दक्षिण भागों में चित्र-बल्लरी के मध्य भाग में तीर्थकर की प्रतिमा अंकित है। चित्र-बल्लरी के ऊपर एक अलंकृत किन्तु समतल छत है जिसे अलंकृत आयताकार फलकों में विभाजित किया गया है और उनके किनारों की सज्जा उत्कीर्ण कमलपुष्पों से की गयी है। फलकों की बाहरी पंक्तियों में नरेक और गायक हैं, जिनके पाश्व में मिथुन हैं। फलकों की आंतरिक पंक्ति में बेल-बूटेदार अलंकृतियाँ हैं। भीतरी छत के मध्य में लगभग एक वर्गमीटर के स्थान का अलंकरण तीन गजतालु खसकों द्वारा किया गया है। दो बाहरी खसकों में प्रत्येक और तीन गजतालु दिखाये गये हैं।

अर्ध-मण्डप के बाद महा-मण्डप आता है। संभवतः उसके चारों ओर दीवारें रही होंगी। जो भी हो, यह महा-मण्डप पादर्वताथ-मंदिर के महा-मण्डप से इस बात में भिन्न है कि इसमें सामने की ओर एक आढ़ी पंक्ति में तीन चतुष्किर्ण हैं। इन चतुष्किर्णों की भीतरी छत जो अब बिलकुल साढ़ी है, पहले अलंकृत रही होगी। दीवार की चतुष्की, जो आसपास की चतुष्किर्णों से बड़ी है, का निर्माण अर्ध-मण्डप के दो परिचमी स्तंभों तथा महा-मण्डप के द्वार के पादर्व के उन दो भित्तियों को लेकर बनी है जिनकी आधार-वेदी पर एक दूसरे की ओर अभिमुख दो सशस्त्र द्वारपाल दिखाई देते हैं। द्वारपालों ने करण्ड-मुकुट पहन रखा है और उनके हाथ में एक मदा है जो अब टूट गयी है। प्रत्येक द्वारपाल के पीछे एक चतुष्पद अंकित है जो सिंह से मिलता-जुलता है। अर्ध-स्तंभ भद्रक-प्रकार के हैं (आकृति में छोटोर किन्तु प्रत्येक कोने में तीन कोण), किन्तु वे बिलकुल सादे हैं; मात्र स्तंभ के मध्य भाग के ऊपरी और निचले भागों पर घट-पल्लव का पारंपरिक उत्कीर्णन किया गया है। वे एक उपपीठ पर बने हैं जिसपर कमल-पंखुडियों का साधारण-सा अलंकरण है किन्तु यह मूल उपपीठ है या नहीं—यह अनिश्चित है। उनके आधारों (कुभिकाओं) में खुर, कुंभ और कपोतों की अलंकृतियाँ हैं। स्तंभों के मध्य भाग पर एक सादा और छोटा उच्चालक खण्ड है जिसके ऊपर एक सादा शीर्षभाग है, जिसमें कर्णिका और पद्म दिखाये गये हैं। शीर्षभाग पर मरणोस-युक्त सादे

टोडे टिके हुए हैं जिसकी रूपरेखा तीखी गोलाई लिये हुए हैं। टोडों के ऊपर एक सरदल है जिसपर बेल-बूटों का अलंकरण और ग्रास-पट्टिका है। सरदल एक सादे कपोत को अधार देता है जिसके ऊपर अलंकृत शिकोणों की पट्टी है। चूंकि भिन्न-स्तंभों के मध्य भाग का अलंकरण किया गया है और छोरों को (जो भिन्न प्रकार के पत्थरों से बने हैं) सादा ही रखा गया है अतः ऐसा जान पड़ता है कि पाश्व-चतुष्कियों को दीवारों से आच्छादित करने की योजना रही होगी। इस तथ्य की पुष्टि इससे भी होती है कि छोरों को, जो हल्के पीले रंग के बलुआ पत्थर के बने हैं, एकदम सादा रखा गया है। ये अलंकृत आधारों पर बने हैं और उनपर उच्चालक खण्ड, शीर्षभाग और टोडे हैं, जो शैली में अर्ध-स्तंभों के विलकुल समान हैं। उनपर द्वारपालों की आकृतियाँ बनी हुई हैं।

द्वार-मार्ग के पीछे के अर्ध-स्तंभ ग्रेनाहट के बने हैं किन्तु वे बलुआ पत्थर के आधारों पर टिके हैं। जो भी हो, एक अर्ध-स्तंभ में उपरी भी ग्रेनाहट का बना हुआ है। क्योंकि दोनों अर्ध-स्तंभों की संयोजना कुछ ही भिन्न है, अतः यह जान पड़ता है कि ये बाद में जोड़े गये हैं।

द्वार-मार्ग की सात शाखाएँ हैं। पहली शाखा का अलंकरण गुच्छाकार रचना से, दूसरी और छठी का व्यालों से, तीसरी और पाँचवीं का नृत्य करते एवं संगीत-चाद्य बजाते हुए गणों से किया गया है। चौथी, जिसे एक स्तंभ-शाखा माना जाता है, पर एक शीर्षभाग है जिसमें कणिका और पद्म बने हैं। सातवीं शाखा, जो द्वार-मार्ग का कटावदार वेष्टन करती है, की सज्जा लहरदार बेल-बूटों से की गयी है तथा उसके पाश्व में एक खड़ी चित्र-वस्त्री है जिसमें गणों को नृत्य करते हुए अधिवा संगीत-चाद्य बजाते हुए दिखाया गया है। पहली तीन शाखाएँ ऊपर की ओर से ले जायी गयी हैं, और चौथी या स्तंभ-शाखा पर एक सरदल है जिसके मध्य में गरुड़ पर आसीन अष्टमुजी घक्रेहवरी देवी की मूर्ति अंकित है। उसके हाथों में फल, बाण, चार चक्र, धनुष और शंख हैं। ठीक दाहिने और बायें किनारों के आलों में तीर्थकर-प्रतिमाएँ आसीन हैं। सरदल का जो अंतर्वर्ती भाग है उसमें ठीक दाहिने नदग्रहों की आसीन प्रतिमाएँ हैं। सरदल के अंतर्वर्ती भाग में ठीक दाहिनी और नवग्रहों की आसीन प्रतिमाएँ और ठीक बायीं और द्विमुजाओं एवं दृष्टभशीर्ष वाले आसीन देवताओं की एक-सी आठ आकृतियाँ बनायी गयी हैं। इनके हाथ अभय-मुद्रा में हैं और उनमें जल-कुंभ हैं। ये अष्ट-वसु जान पड़ते हैं।

सरदल की ऊपरी चित्र-वस्त्री में गर्भाधान के समय तीर्थकर की माता द्वारा स्वप्न में देखे गये सोलह मंगल-प्रतीक चित्रित किये गये हैं। ये प्रतीक कमलदलों पर बनाये गये हैं। वे इस प्रकार हैं : ऐरावत हाथी (२) वृषभ, (३) प्रचण्ड सिंह, (४) श्री देवी (५) एक कीर्तिमुख को वेष्टित करती पुष्पमाला, (६) पूर्ण चंद्रमा, जिसके मध्य में खरणोश की आकृति है, (७) उद्दित होता हुआ सूर्य जिसमें मध्य में सूर्य-देवता है, (८) मीन युगल, (९) दो कलश, (१०) तालाब और उसमें एक कुचुला, (११) क्षुब्ध सागर, (१२) सिंहासन, (१३) विमान, (१४) नागेन्द्र भवन में बैठे हुए नग-दंपति, (१५) रत्नराशि, तथा (१६) आसीन मुद्रा में अग्नि जिसके

कंधों से ज्वालाएँ निकल रही हैं। सातवीं शाखा के ऊपर मध्य भाग में एक पट्टी है जो बीच में अंकित की गयी है। सरदलों के तीनों आलों के ऊपर चत्य-तीरणों के उद्गम या त्रिकोण-शीर्ष हैं। ये तोरण ऐसे त्रित्य स्तूपाकर शिखर से पृष्ठानुपृष्ठ हैं जिसके ऊपर चंद्रिका और आमलक हैं। द्वार-मार्ग के आलंबन पर प्रचलित नदी-देवियों का चित्रण किया गया है। गंगा दाहिनी और तथा यमुना बायीं और अंकित हैं तथा उसके पार्श्व में एक चमरबारिणी है। प्रत्येक द्वार-शाखा पर एक द्वारपाल का अंकन किया गया है जिसके हाथ में कमलपुष्प और गंदा है। किरीट-मुकुट पहने गदाधारी द्वारपाल का चित्रण द्वार-मार्ग के परिवेष्टन के नीचे भी किया गया है। संदारक (देहरी) के बीच के बाहर निकले हुए भाग पर कमल-बूटों का अंकन है। और उसके दोनों ओर एक-एक द्विभुजी सरस्वती की शाङ्कुति है। पार्श्ववर्ती आलों में छह जल-देवता अंकित हैं, जिनमें से प्रत्येक करि-मकर पर आसीन है और उसके हाथ में कलश है। नदी-देवियों के नीचे गज-शर्दूल निर्मित हैं तथा बाह्य द्वारपालों के नीचे नृत्य-संगीत के दृश्य अंकित किये गये हैं।

महा-मण्डप की केंद्रीय भीतरी छत चार स्तंभों की चतुष्की पर उठायी गयी है। ये स्तंभ अर्ध-मण्डप के स्तंभों-जैसे ही हैं। अंतर केवल इतना ही है कि वे सादे उपरीठ पर अवस्थित हैं, उनपर एक सादे सरदल का निर्माण किया गया है जबकि इस सरदल पर एक-जैसी अलंकृति के तीन खसके हैं एवं उनपर भी तीन खसके और हैं। इनमें से प्रथम को प्रतिच्छेदी पाशों द्वारा सजाया गया है; दूसरे का अलंकरण उत्कीर्ण त्रिकोणों के द्वारा किया गया है; तथा तीसरे को सादा ही छोड़ दिया गया है। अंतिम खसके पर एक समतल भीतरी छत आवारित है जो मध्य भाग में ऐसे कमलपुष्प द्वारा अलंकृत है जिसके चारों ओर तीन किनारोंवाला एक वर्गकार खण्ड है। पूर्वी सरदल का भीतरी भाग बिलकुल सादा है किन्तु उसके बाहरी भाग पर बेल-बूटों का अंकन है। साथ ही, मध्यासीन तीर्थंकर के पार्श्व में आकाशगामी विद्याधर-मिथुन, हृदयाकार पुष्पों के गोटे, छिद्रित वर्गोंवाले भालरों से युक्त हीरक-अनुकृतियाँ, तथा कमल की पंखुड़ियों के एक कपोत का अलंकरण किया गया है, जिससे गगारक निकल रहे हैं।

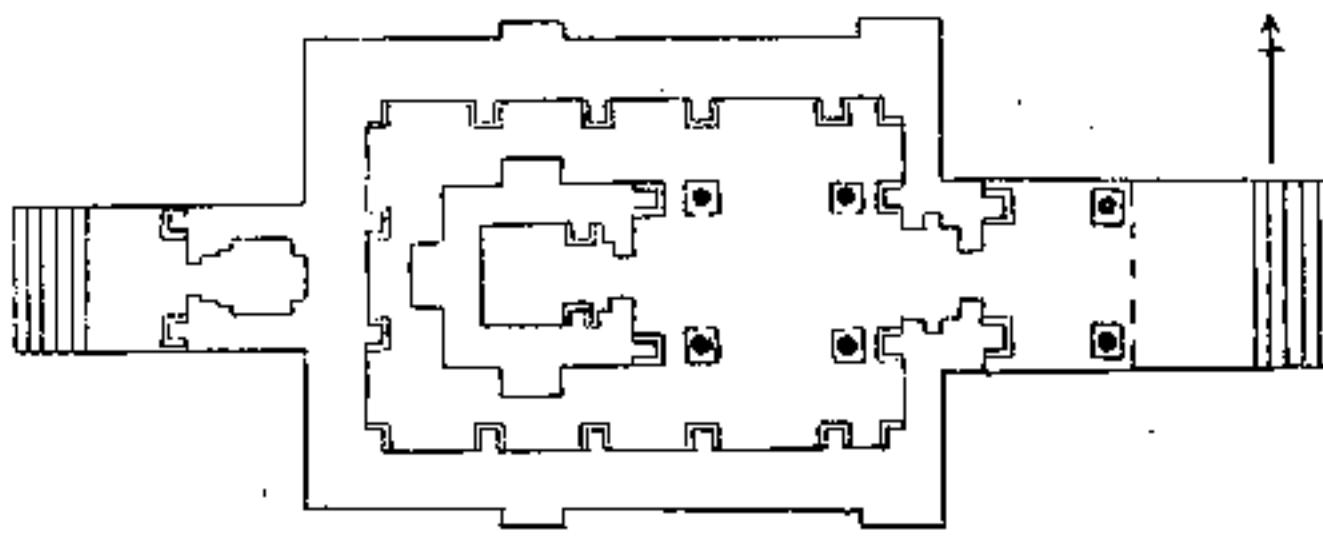
महा-मण्डप के स्तंभों में से प्रत्येक में तीन टोड़े दीपक रखने के लिए दृष्टिगोचर होते हैं। सब से ऊपर के टोड़ों पर, जो कर्णवत् बाहर निकले हुए हैं, कमल की पंखुड़ियों की अलंकृतियाँ की गयी हैं। बीच के टोड़ों पर भूत दशायि यमे हैं। सब से नीचे के टोड़े सादी पद्म-सज्जा-पट्टी से मिलते-जुलते हैं। अर्ध-मण्डप के चारों स्तंभों पर भी बीच के और सबसे नीचे के टोड़ों की पुनरावृत्ति की गयी है। यद्यपि इनके सबके ऊपर के भाग में प्रत्येक स्तंभ पर चार अपेक्षाकृत छोटे भूत-टोड़े दृष्टिगोचर होते हैं।

### पार्श्वनाथ-मंदिर

स्थानीय सभी जैन मंदिरों में, पार्श्वनाथ-मंदिर (चित्र १६६) सबसे अधिक सुरक्षित रह सका है और वह खजुराहो के सबसे सुंदर मंदिरों में से एक है। अपनी विशिष्ट रूपरेखा संबंधी वि शेषताओं

के कारण वह औरों से भिन्न है और कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण (रेखाचित्र 22)। यद्यपि वह एक सांधार-प्रासाद है, तथापि उसमें छज्जेदार वातायनों से युक्त वक्रभागों, जो स्थानीय सांधार-मंदिरों की विशेषता है, का अभाव है और विन्यास में यह मंदिर आयताकार है और उसके दोनों लघु पाश्वों में से प्रत्येक पर अक्षीय प्रक्षेप है। पूर्व में जो प्रक्षेप है उससे मुख-मण्डप निर्मित होता है। पश्चिमी प्रक्षेप में गर्भगृह के पृष्ठभाग से संलग्न एक देवालय है (चित्र १६७) जो वास्तव में एक नयी बात है।

मंदिर में प्रवेश का मार्ग चतुष्कोणाले एक अत्यधिक अलंकृत छोटे मुख-मण्डप से होकर है। मंदिर के भीतरी भाग में एक मण्डप, अंतराल और गर्भगृह हैं जो सब-के-सब एक आयताकार दीवार द्वारा परिवेष्टित हैं। मण्डप की दीवार को भीतर की ओर से अर्ध-स्तंभों का आवार प्राप्त है तो बाहर की ओर से मूर्तियों की पट्टियों का, तथा साथ ही ऐसे जालीदार वातायनों का जिनके द्वारा भीतर की ओर श्वेषट प्रकाश आता है। मूर्ति-योजना के बाहरी अलंकरण में ये वातायन बाधक नहीं हैं। इसके अग्र-भागों (चित्र १६८) में उथले रथों (प्रक्षेपों) की एक शुंखला है जिनके बीच-बीच में संकीर्ण सलिलांतर (आले) हैं। इन प्रक्षेपों और आलों में जंघा पर मूर्तियों की तीन सुंदर पट्टियाँ हैं। नीचे की पंक्तियों की मूर्तियाँ सबसे बड़ी हैं और उनमें प्रक्षेपों पर देवी-देवताओं एवं अप्सराओं की तथा आलों में व्यालों



0 5 10 15 METRES  
0 9 16 32 FEET

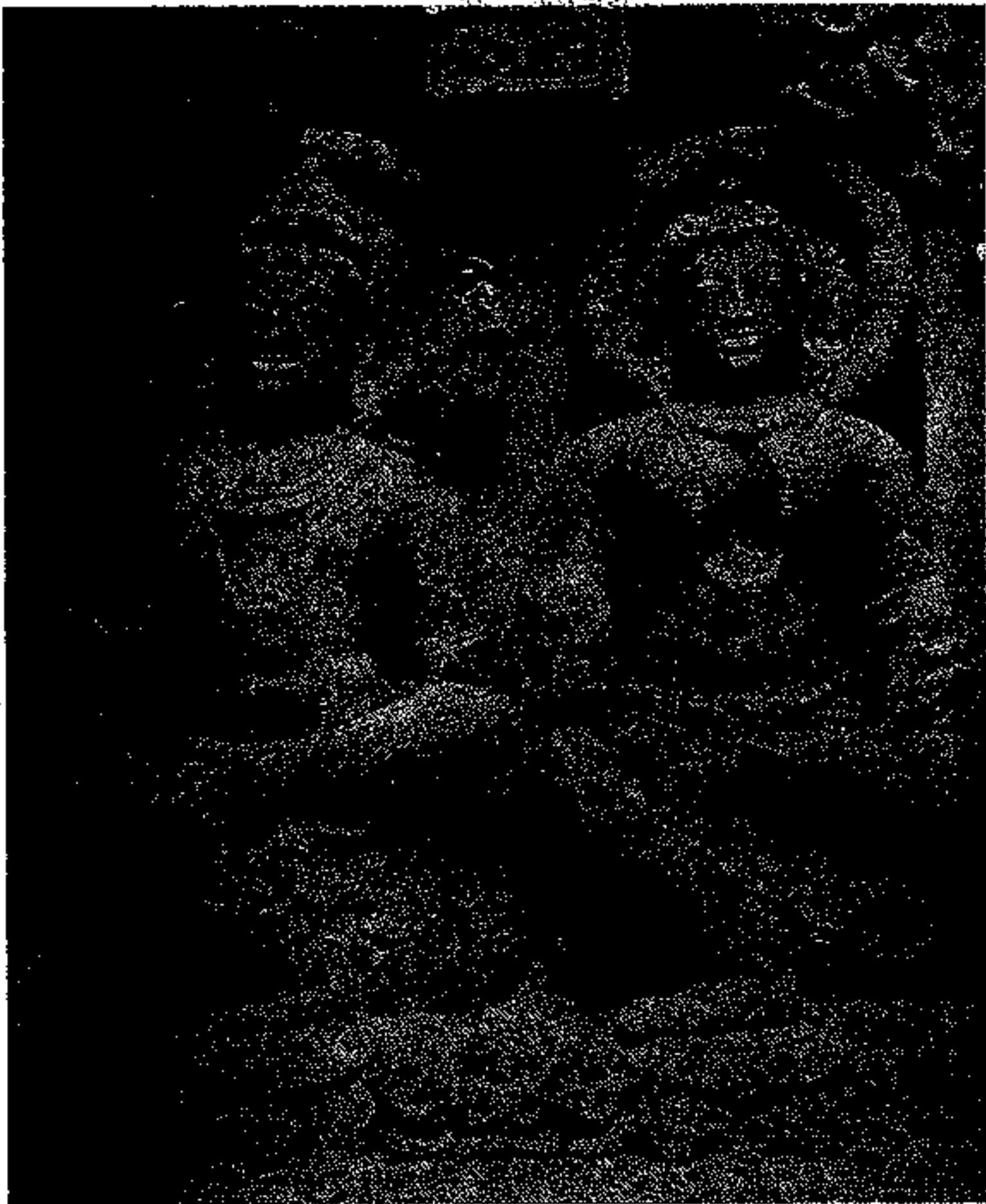
रेखाचित्र 22. खजुराहो : शांतिनाथ-मंदिर की रूपरेखा

की मूर्तियाँ बनी हैं। ऊपर की दो पंक्तियों की आकृतियाँ कमशः आकार में छोटी होती गयी हैं। बीच की पंक्ति में देवी-दंपति तथा सबसे ऊपर की पंक्ति में प्रक्षेपों तथा आलों में मूरुष रूप से विद्याधर-मिथुन अंकित किये गये हैं। अत्युत्तम सज्जा और सौंदर्यपूर्ण मूर्तियों की इन तीन पट्टियों द्वारा इन प्रक्षेपों एवं आलों को जो लालित्य प्रदान किया गया है उसके होते हुए भी शिखर से नीचे बाले मंदिर का अग्रभाग एक ठोस स्थूल दीवार के कारण नीरस-सा हो उठा है। यहाँ बाहरी उठान के उन गहरे दंतुरणों तथा छज्जेदार वातायनों के कलस्वरूप प्राप्त उस वास्तु-शिल्पीय उभार और छाया का अभाव है जो विकसित खजुराहो-शैली की अपनी विशेषता है।

मंदिर १२ मीटर ऊँची जगती पर बना है। उसकी मूल सज्जा-पट्टियाँ और उपलब्ध नहीं हैं। वेदी-वंध दो भिट्ठ-स्तरों के ऊपर टिका हुआ है। उसे दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है। निचले स्तर में जाड्यकुम्भ, कणिका, पट्टिका अंतर पत्र और कपोत हैं; ऊपरी श्रेणी में पारंपरिक सज्जा-पट्टियाँ हैं जिनके ऊपर एक वसंत-पट्टिका है। जंघा में कमशा छोटी होती गयी मूर्तियों की तीव्र पंक्तियाँ हैं जिन्हें दो वांधना-सज्जा-पट्टियों से अलग किया गया है। उसके शिखर के प्रत्येक रथ-प्रधेष पर एक-एक वरण्डिका तथा तिलक अवस्थित है। गर्भगृह के सामने के मध्यवर्ती भद्र-प्रक्षेपों तथा मण्डप के भद्रों का समरेखण केंद्रीय रूप से नहीं किया गया है। पर आलों या जालीदार बातायनों की चार पंक्तियाँ हैं। गर्भगृह के ऊपर जो छत है वह बहुत ऊँचे उठे सप्तरथ-नागर-शिखर से निर्मित है। यह शिखर भी उह-शून्यों की दो वंकितियों तथा दो शृंगों, जिनमें कर्ण-शृंग भी सम्मिलित हैं, की तीन पंक्तियों का समूह है। अंतराल, मण्डप और मुख-मण्डप की वर्तमान छतें अधिकांशतः फिर से बनायी गयी हैं, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि वे सामान्य खजुराहो-प्रसार की ही थी।

मंदिर में प्रवेश के लिए एक चतुष्कोणी का साधारण आकार का, किन्तु अत्यधिक अलंकृत, मुख-मण्डप है। उसकी तोरण-सज्जा में अलंकरण और मूर्तियों का जो असाधारण प्राचुर्य है उसमें शाल-भजिका-स्तंभ और अप्सराओं तथा सहायक देवों की आकृतियाँ सम्मिलित हैं। इसकी भीतरी छत (नाभिच्छंद कोटि का क्षिप्त वितान) में खजुराहो के अन्य मंदिरों की तुलना में सबसे अधिक अलंकरण किया गया है। उसके अलंकृत लोलक की समाप्ति उड़ते हुए विद्याघर-तुगल की आकृतियों में होता है जो उकेरकर बनायी गयी हैं। मण्डप में प्रवेश का मार्ग उसके एक सप्तशाखा द्वार-मार्ग से होकर है जिसका अलंकरण हीरकों, पाटल-पुष्पों, गणों, व्यालों, मिथुनों, तेल-बूढ़ों के अतिरिक्त द्वार-स्तंभों पर बने सेवकों से युक्त गंगा और यमुना की आकृतियों द्वारा किया गया है। उसके सरदल पर नवग्रहों के अतिरिक्त दशभुजी मरुणासीन यक्षी चक्रेश्वरी ललाट-बिंब के रूप में तथा चतुर्भुजी आसीन सरस्वती उसके दो सीमांतरवर्ती आलों में से प्रत्येक में अंकित हैं। चक्रेश्वरी के दाढ़े हाथों में से एक वरद-मुद्रा में है तथा अन्य में असि, गदा, चक्र और वण्टिका है तथा बायें हाथों में चक्र-द्वाल, बाण, अंकुष और शंख हैं। सरस्वती की आकृतियों के चार हाथों में से तीन में पूजन करछी पुस्तक और जल-कलश हैं, द्वायी ओर की आकृति का वाहन हंस अंकित है। द्वार-मार्ग के प्रत्येक पाश्व में चार भुजाओंवाला एग जैन प्रतीहार उत्कीर्ण किया गया है जिसने किरीट-मुकुट पहन रखा है। उसके दो अवशिष्ट हाथों में से एक में पुस्तक और एक में गदा है।

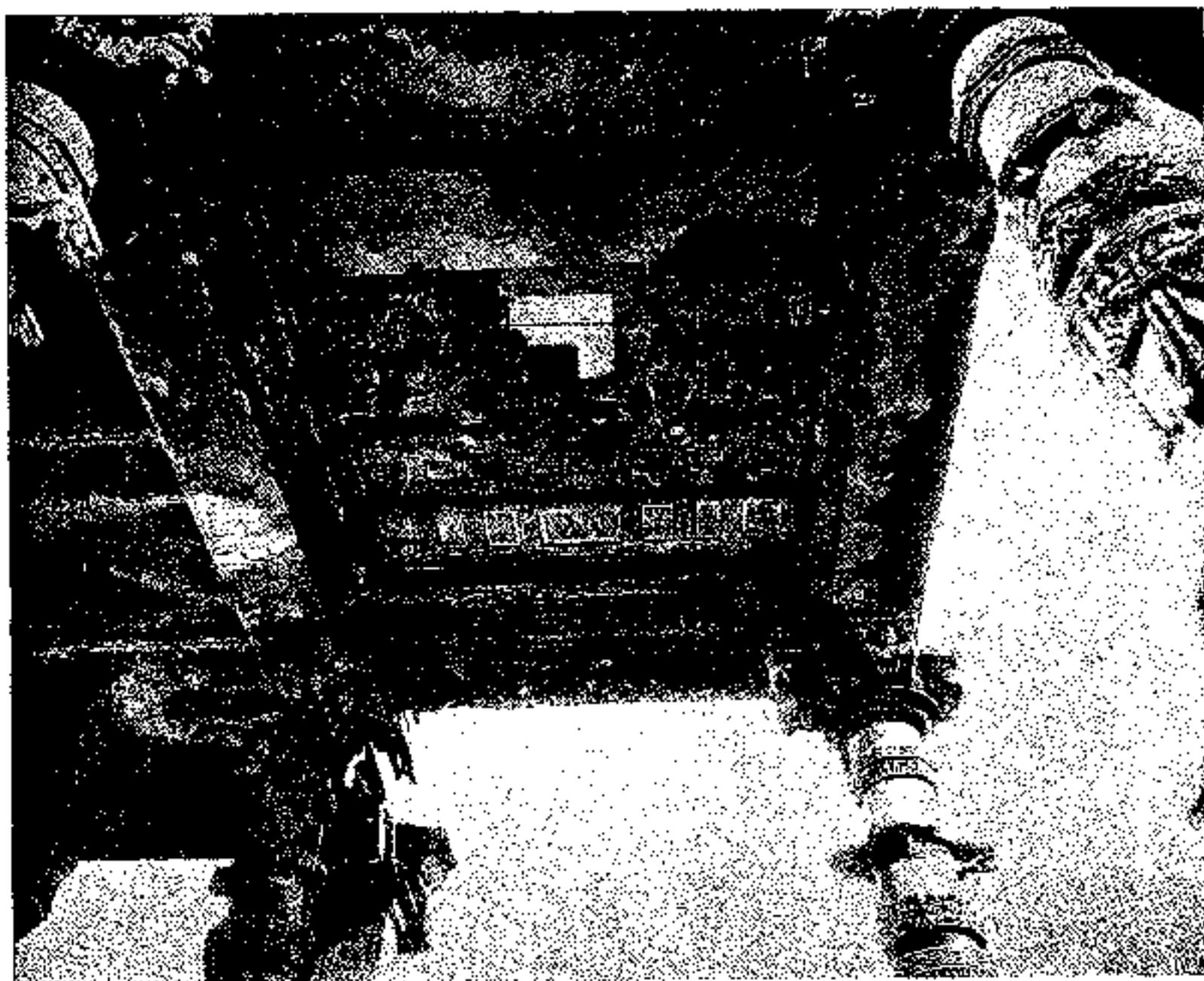
आवताकार मण्डप की छोस दीवारें हैं जिन्हें सोलह अर्ध-स्तंभ आधार प्रदान करते हैं। अर्ध-स्तंभों के बीच की खुली जगह का उपयोग दीवार के साथ-माथ लगायी गती वितृत चौकियों पर तीर्थकरों की दस प्रतिमाओं को प्रतिष्ठित कर किया गया है। यह इस मंदिर की एक और विशेषता है। अन्यथा इसका भीतरी भाग अन्य स्थानीय मंदिरों की भाँति ही निर्मित है। मण्डप में चार सामान्य केंद्रीय स्तंभ हैं जिनपर चार शालभजिका-अवलंबन हैं और तोरणों की एक वर्गीकार सज्जा निर्मित है जो नाभिच्छ प्रकार के क्षिप्त-वितान के रूप में बनायी गयी एक वर्गीकार भीतरी छत (चित्र १६६) को आधार



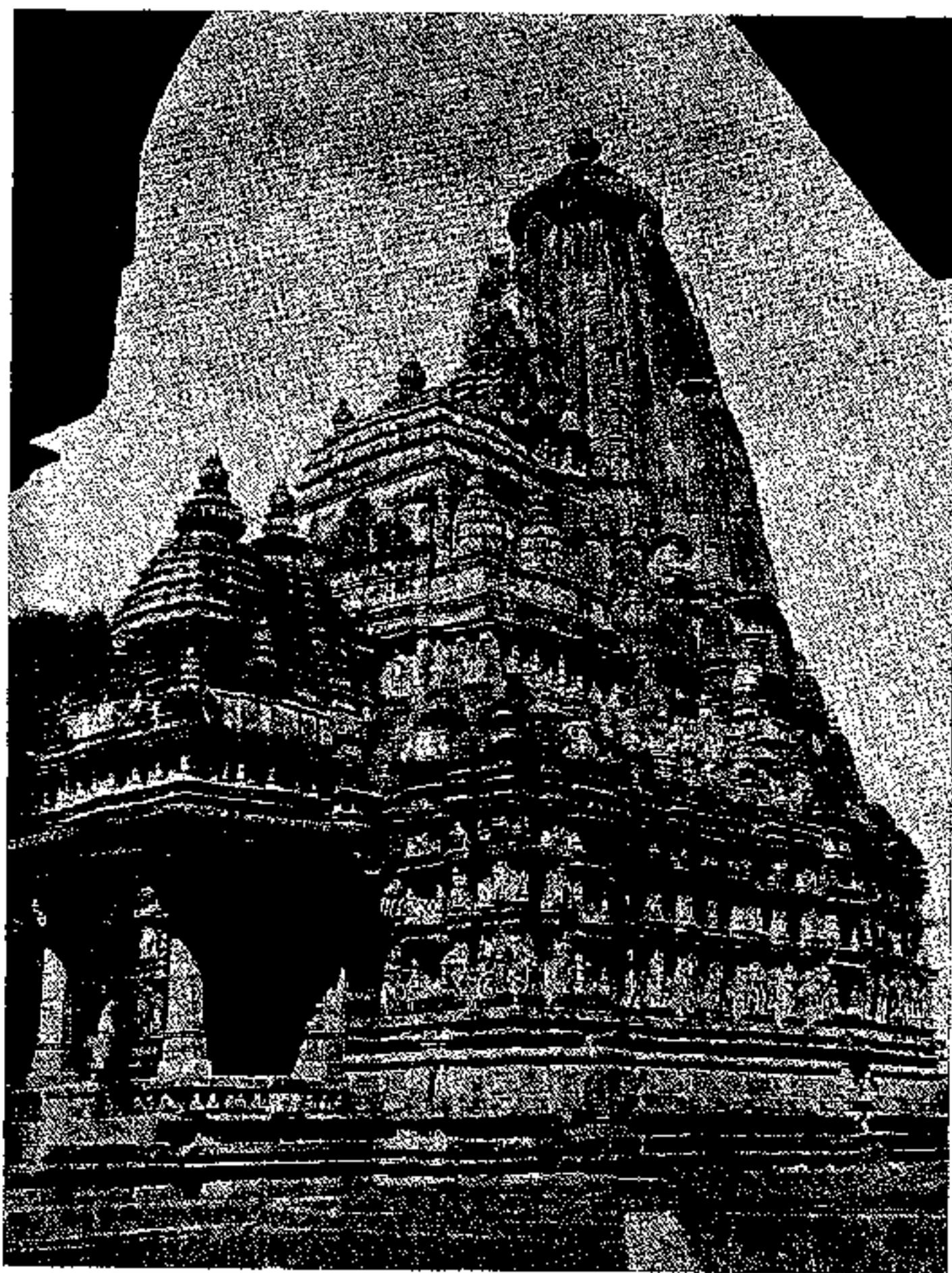
खजुराहो — शतिनाथ-मंदिर, तीर्थकर के भाता-पिता



खजुराहो — धर्मशाला मंदिर



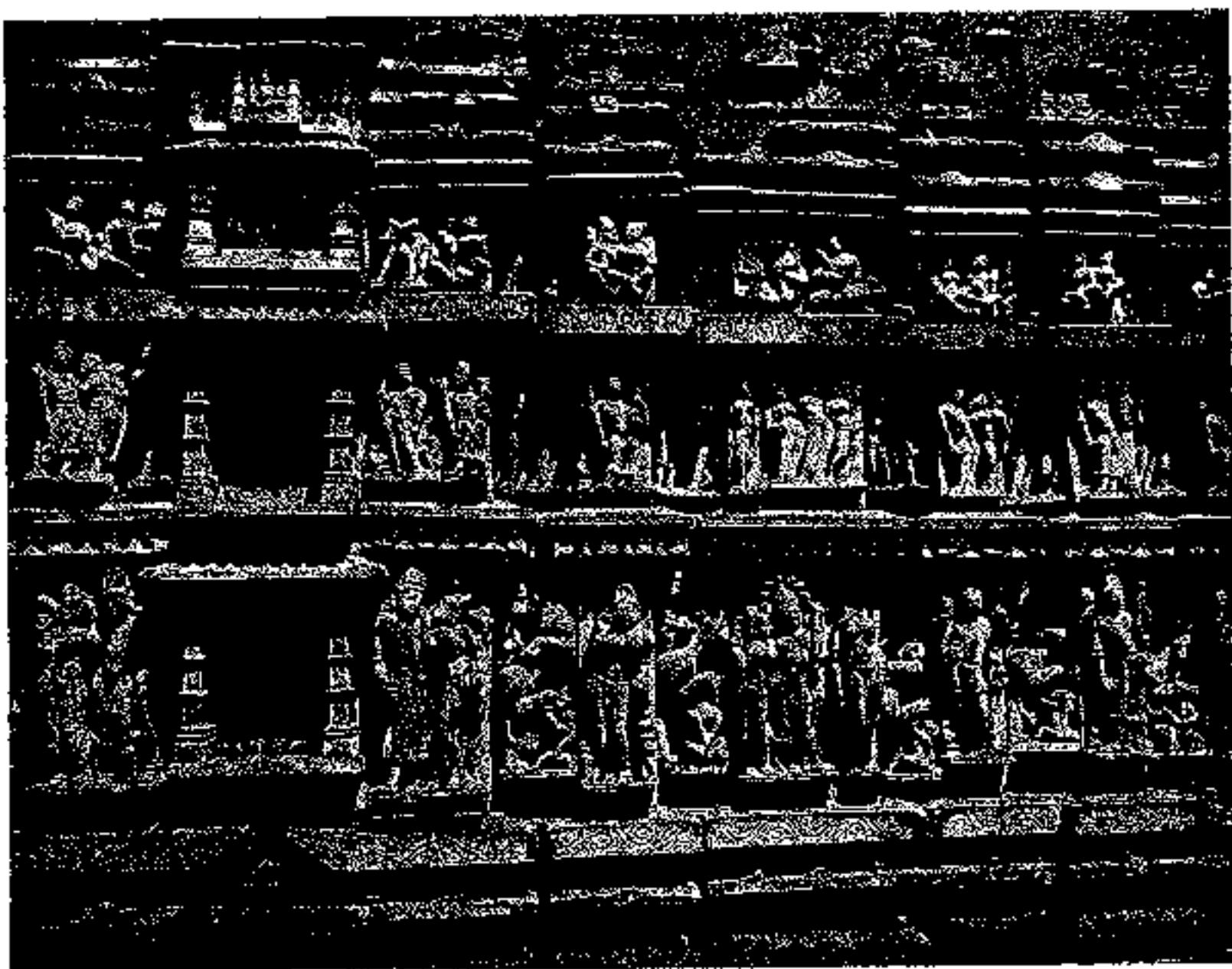
बन्दुराहो — धृष्टदीप मंदिर, गंगा नदी की छत



राजुराहो — पार्श्वनाथ-मंदिर



खजुराहो — पारश्वनाथ-मंदिर, पूर्णभात



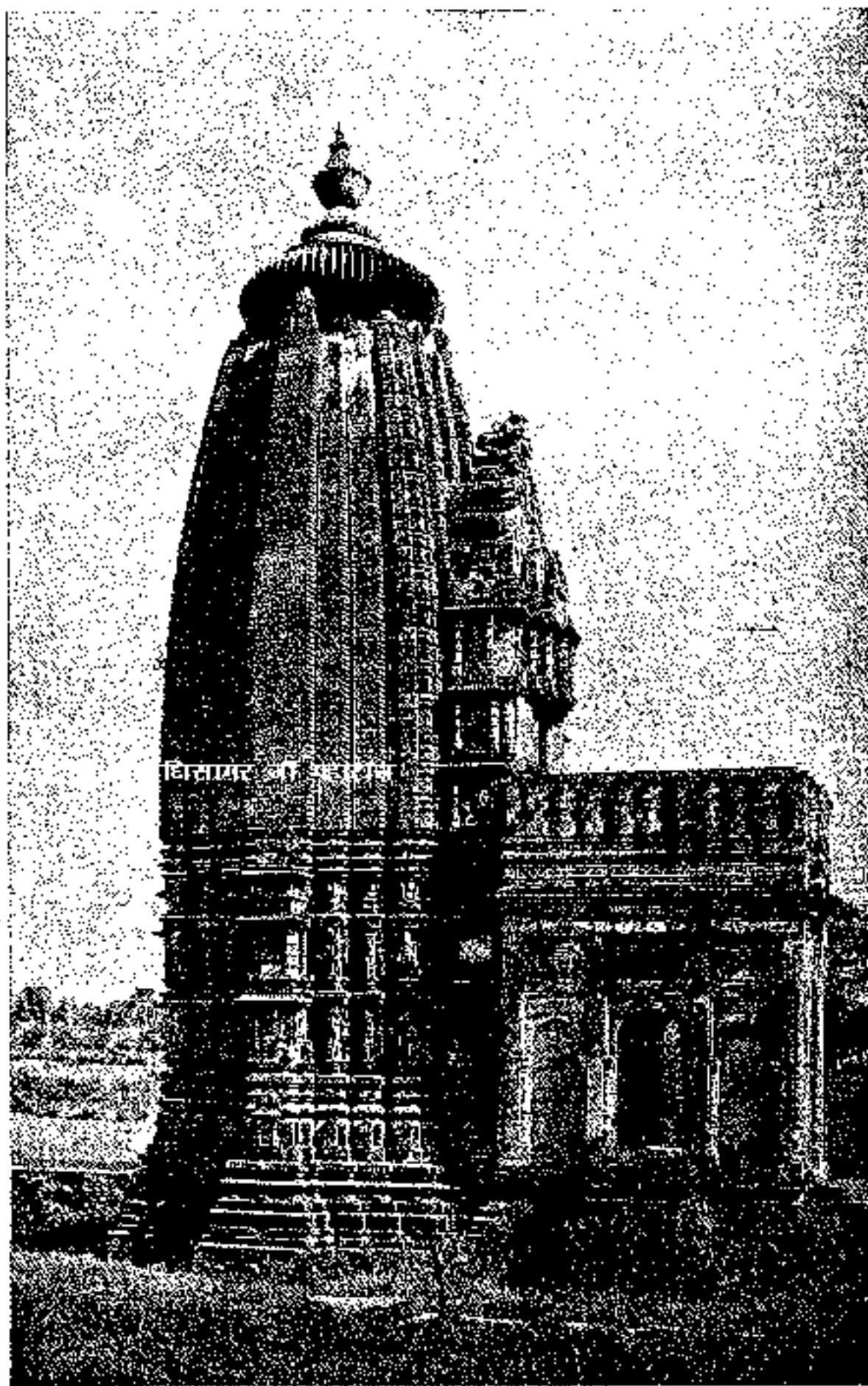
सजुराहो — परश्वनाथ-मंदिर, दिल्ली बहिर्भूति का एक भाग



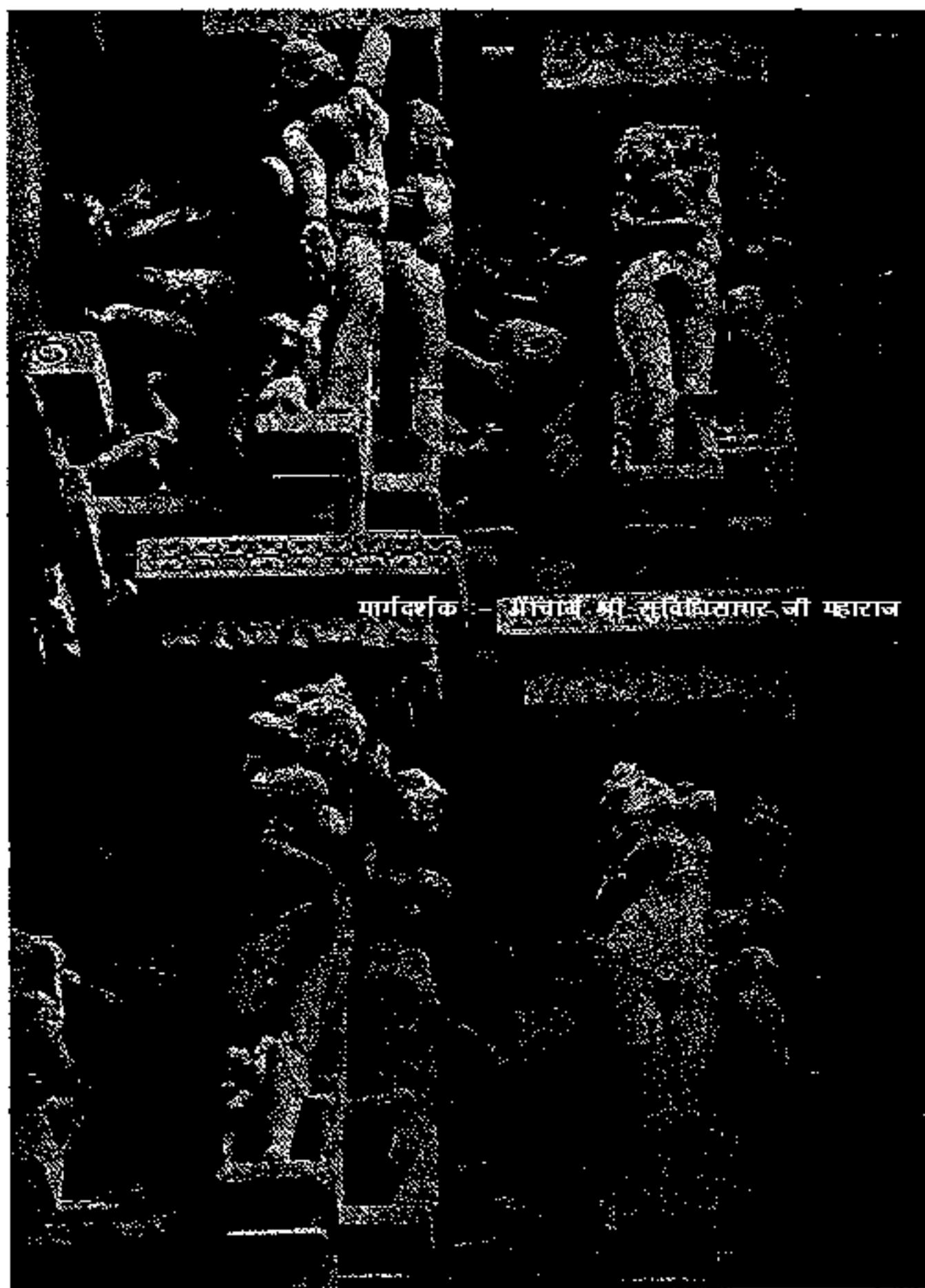
खजुराहो — वाश्वनाथ-मंदिर, पट्टण की छत



खजुराहो — पार्श्वनाथ-मंदिर, पुष्टवती मर्मगृह का प्रवेशद्वार



खजुराहो — प्रतर्दहनेश्वर मंदिर



खजुराहो — श्राविनीवार्मिदि, इक्षिणी बहिभिति का एक भाग



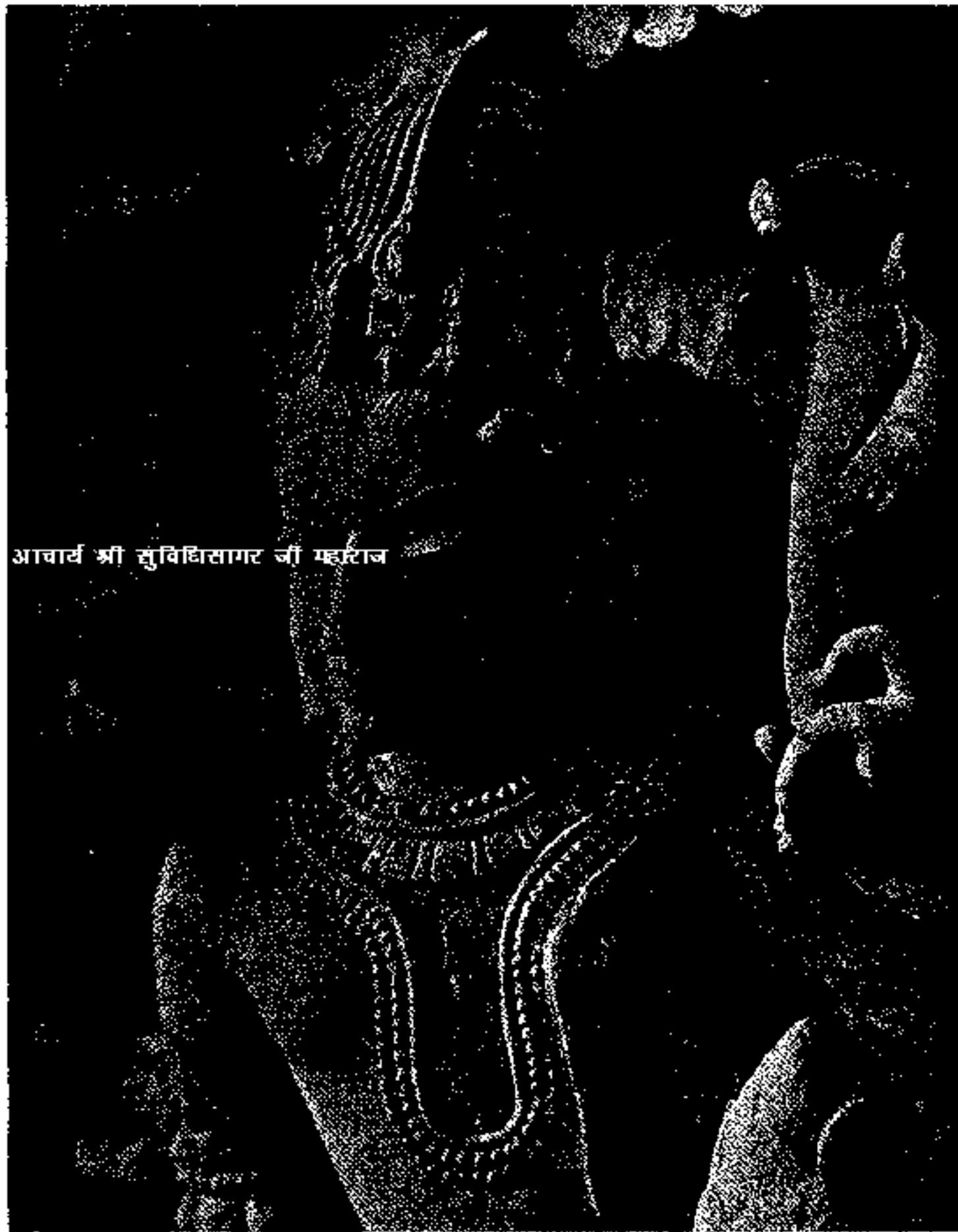
खजुराहो — पार्श्वनाथ-मंदिर, महामण्डप में चतुर्विशति पट्ट



(क) लजुराहो — पार्श्वनाथ-मंदिर, बहिभिति पर तारबती



(ख) लजुराहो — पार्श्वनाथ-मंदिर, बहिभिति पर देव-मूर्तियाँ

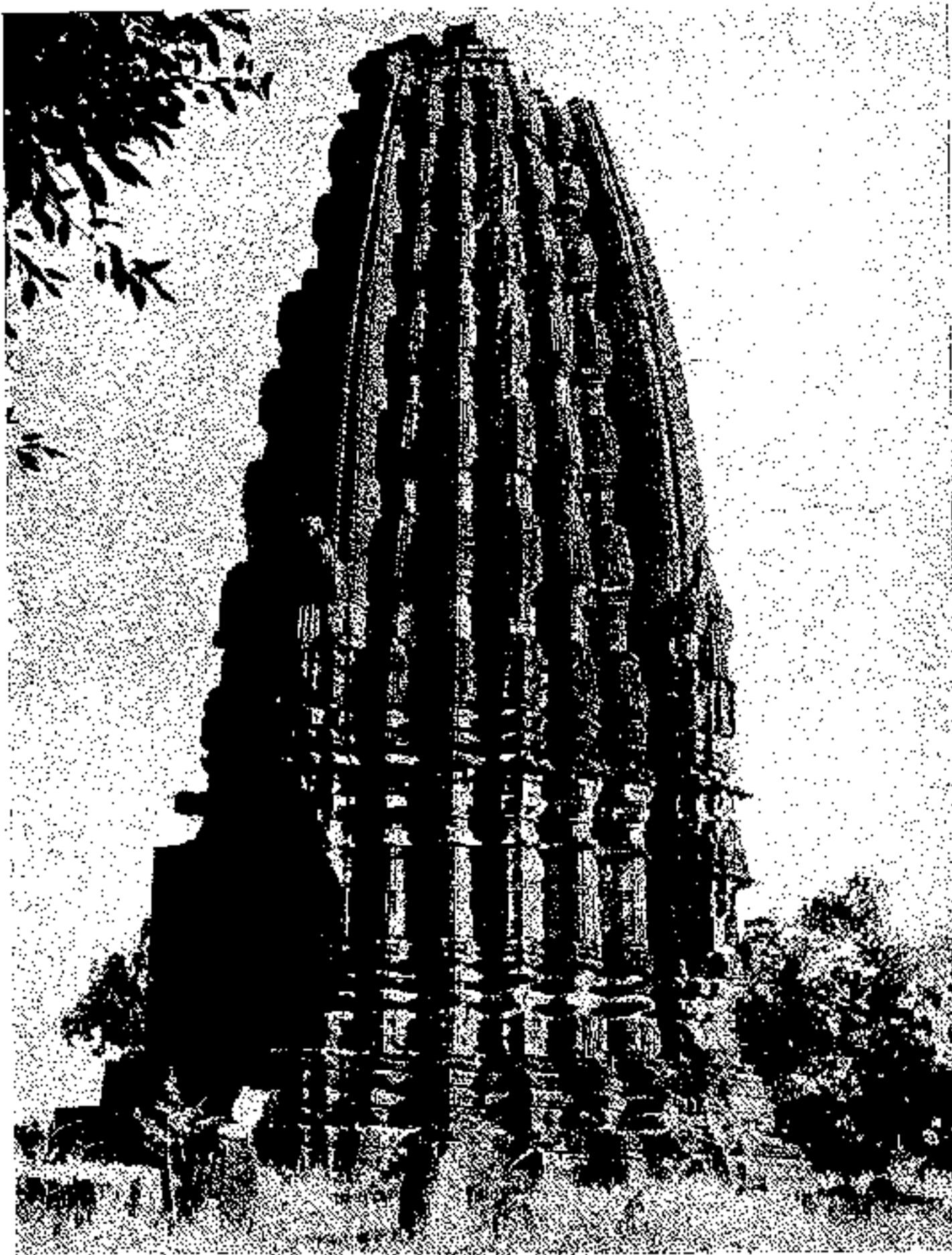


आचार्य श्री सुविद्धासागर जी महाराज

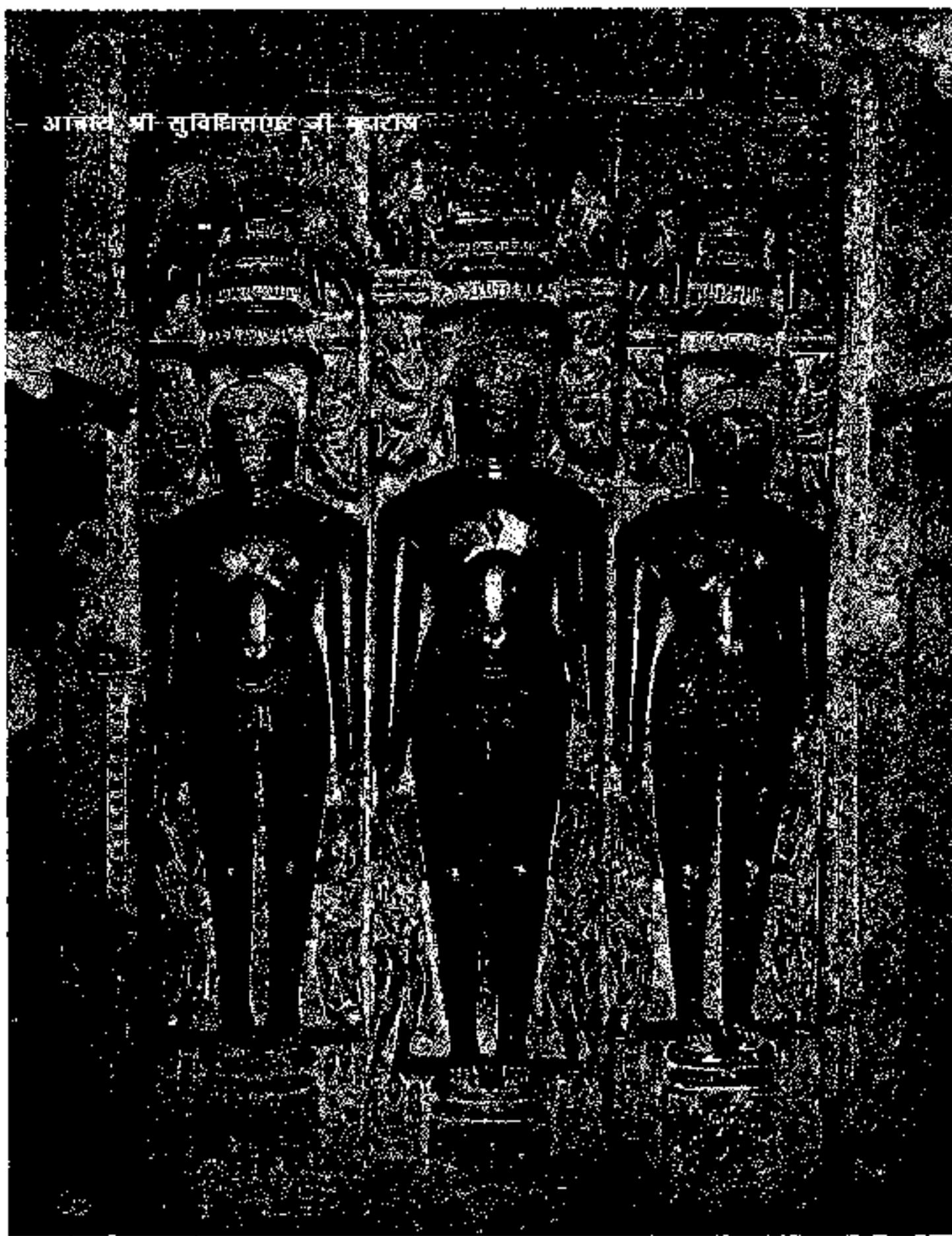
खजुराहो — पाइरेनाथ-द्वादिर, बहिभगि, शिव-मस्तक



बालुराही — पार्श्वनाथभवित्ति, बहिनिति पर गुरुलूपदरी



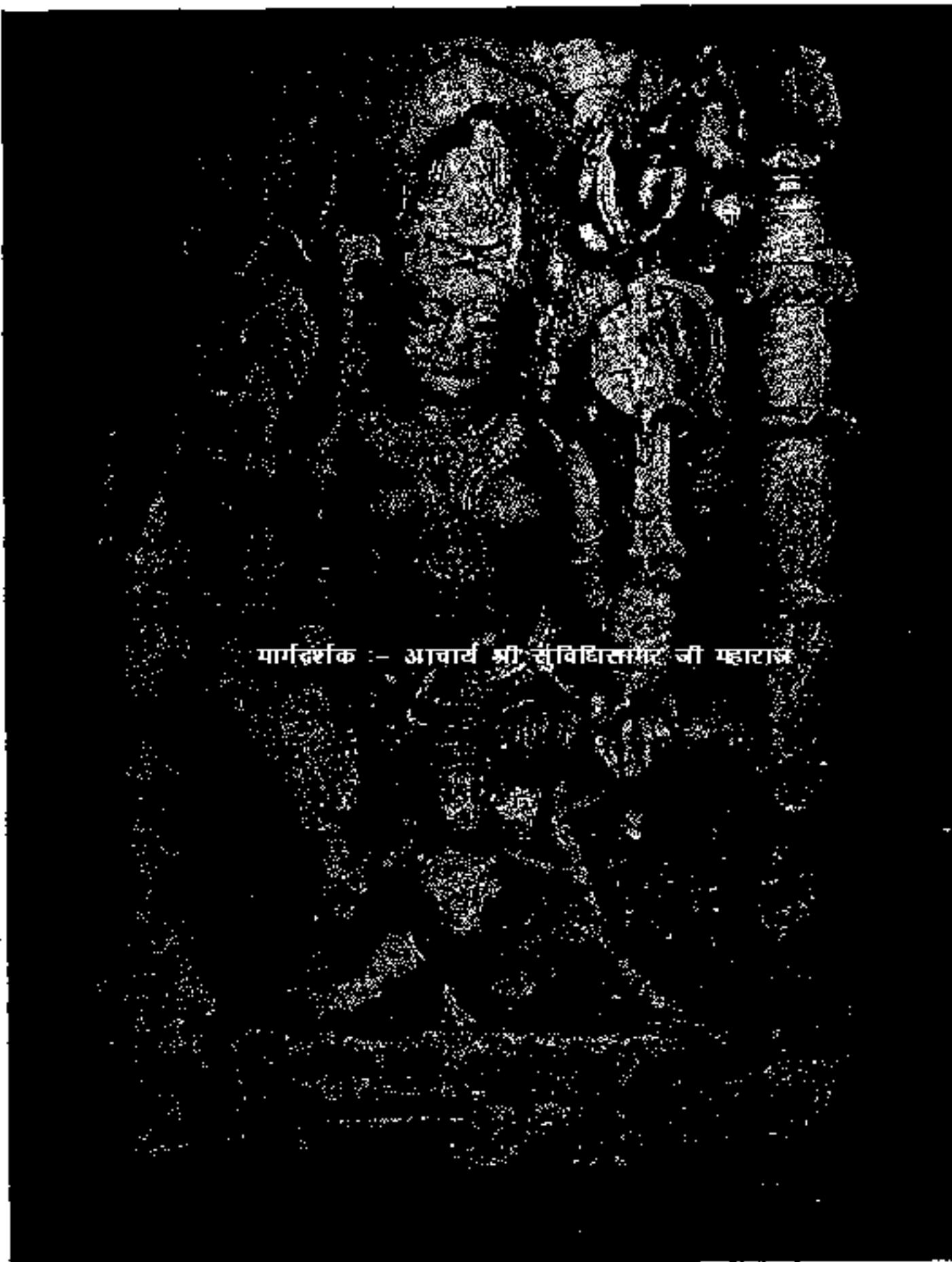
बारान — भगवन्-देवि-मंदिर.



श्रावण — माण्ड-देवल-मंदिर, गर्भगृह में शीर्षकरन-मूर्तियाँ



खोदपुर — नवगढ़-पट्टा



पार्श्वक :- आचार्य श्री चैतन्यमान्द जी महाराज

अहार संप्रहालय — यश्वी लक्ष्मेश्वरी

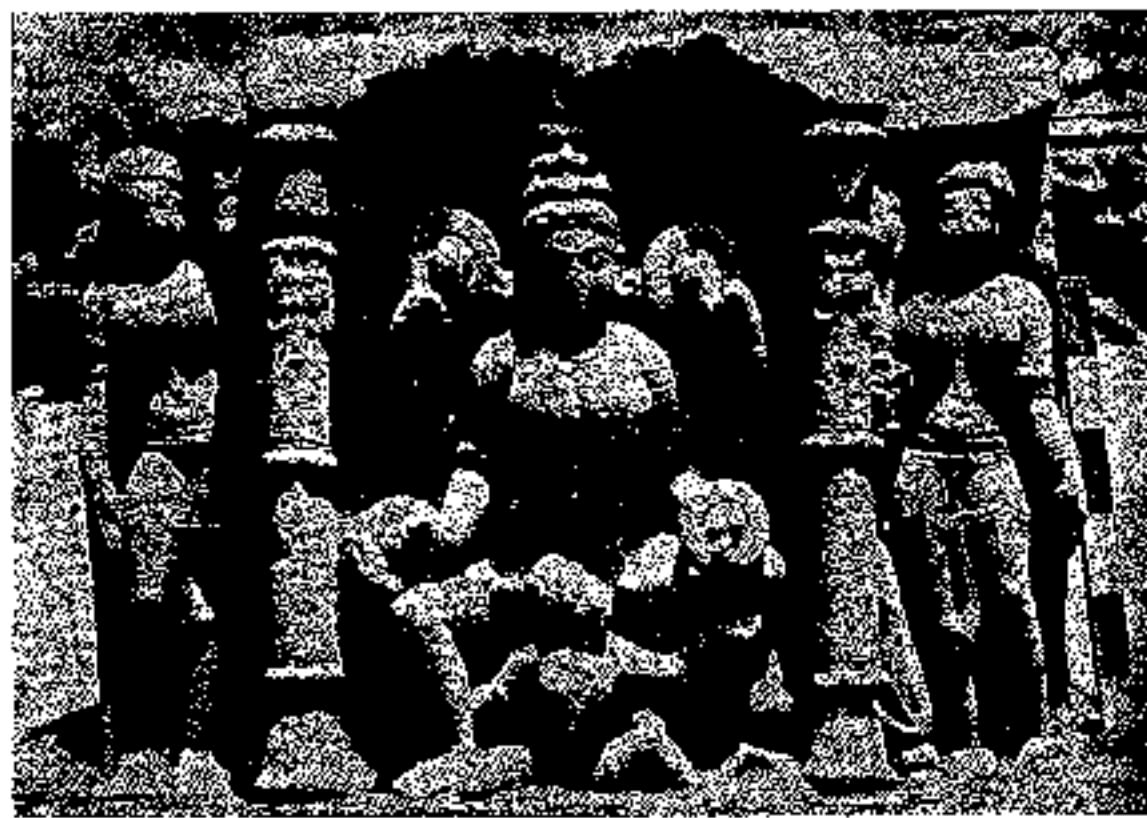


(क) लखनादोल — तीर्थकर मूर्ति



(ख) लखनादोल — तीर्थकर पार्श्वाध

पास्तु-दर्शक एवं नूरियाली (१८१० से १८६० ई.)



(क) गंधावल — दृश्य चक्रवर्णी



(ख) सोनता — पीतल-निशि तीर्थेकर मूर्ति का दर्शक

प्रदान करती है। गर्भगृह का एक पंचशाखा द्वार-मार्ग है जिसका अलंकरण बेल-बूटों, गणों तथा मिथुनों द्वारा तो किया ही गया है, साथ ही द्वार-स्तंभों पर सेवकों सहित गंगा और यमुना की आकृतियाँ भी अंकित हैं। द्वार-मार्ग पर दो तोरण-सज्जाएँ हैं जिनमें से एक पर नींगहों के अतिरिक्त ललाट-बिंब के रूप में आसीन-मुद्रा में एक तीर्थकर-प्रतिमा तथा सीमान्त आलों में से प्रत्येक में एक खड़ी हुई तीर्थकर-प्रतिमा अंकित है। ऊपर की तोरण-सज्जा के आलों में पाँच आसीन तीर्थकर-प्रतिमाएँ हैं और छह तीर्थकर कायोरत्सर्ग-मुद्रा में हैं। द्वार-मार्ग के प्रत्येक पार्श्व में किरीट-मुकुट पहने चार भुजाओंवाला जैन प्रतीहार अंकित है। दायीं ओर बाले प्रतीहार के दो अवशिष्ट हाथों में गदा और पद्म हैं और बायीं ओर बाले के हाथों में चक्र, रंख, कण्ठ और गदा है, भयारक पर एक विद्यादेवी-युगल भी उत्कीर्ण है।

गर्भगृह में काले संगमरमर की बनी पाइवनाथ की एक आवृनिक प्रतिमा है जिसकी प्रतिष्ठापना सन् १८६० में उसी प्राचीन और ललित-आधार-वेदी पर की गयी थी जिसका निर्माण पाण्डु बलुआ पत्थर आदि उसी प्रकार की सामग्री से हुआ था जिससे मंदिर और उसकी मूर्तियाँ निर्मित हैं। यह वेदी अपने परिकर और प्रभावली सहित पूरी की पूरी सुरक्षित है और यह संकेत देती है कि मूल प्रतिमा एक चतुर्विंशति-पट्ट थी जिसके मूलनायक आदिनाथ थे, जैसा कि उसके समुचित स्थान पर उत्कीर्ण वृषभ-लांछन (चिङ्ग) से स्पष्ट है।

इस मंदिर के पिछले देवालय, जो इसका पश्चिमी प्रक्षेप है, का मुख धिन्दम की ओर है और उसमें बंधा की मूर्ति-संवर्धनी वही संयोजना तथा वही वेदी-बंध की सज्जा-पट्टियाँ बाहर की ओर हैं। अंतर केवल इतना ही है कि दोनों चित्र-पट्टिकाओं की ऊंचाई कम है। इस देवालय का केवल गर्भगृह ही बचा है जिसमें प्रब्रेश के लिए पंचशाखा द्वार-मार्ग था, जिसका अलंकरण द्वार-स्तंभों पर सेवकों सहित गंगा और यमुना की आकृतियों के अतिरिक्त बेल-बूटों, गणों तथा मिथुनों द्वारा किया गया था (चित्र १७०)। उसके सरदल पर नींगहों के अतिरिक्त तीन आले हैं जिनमें से प्रत्येक में चतुर्भुजी सरस्वती की आसनस्थ प्रतिमा है। केंद्रीय और बायीं ओर की आकृति का एक हाथ वरद-मुद्रा में है और अन्य हाथों में कमलनाल, पुस्तक और जलकुम्भ हैं। दाहिनी आकृति के ऊपरी दो हाथों में कमलनाल और पुस्तक हैं तथा निचले दो हाथों में बीणा है; पार्श्व के दो चतुर्भुजी जैन प्रतीहारों में से दाहिने का सिर और हाथ नष्ट हो गये हैं; बायें प्रतीहार के दो अवशिष्ट बायें हाथों में पुस्तक और गदा हैं तथा वह किरीट-मुकुट पहने हुए हैं।

बाह्य भद्र-आलों में, जंघा की दो प्रमुख पंक्तियों में, तीर्थकरों की प्रतिमाएँ या अधिकतर जैन देवियों (यक्षियों या विद्यादेवियों) की मूर्तियाँ, तीसरी पंक्ति में नृत्य-चित्रावली और सबसे ऊपर की पंक्ति में चतुर्भुजी आसनस्थ कुवेर या सर्वानुभूति यक्ष की लघु मूर्तियाँ अंकित थीं। मण्डप के दक्षिणी अग्रभाग के मुख पर दो मुख्य भद्र-आलों में से प्रत्येक में चतुर्भुजी देवी की ललित त्रिभंग-मुद्रा में खड़ी मूर्ति है, जिसके आसपास पारंपरिक सेवक-वर्ग, भक्त तथा आकाशगामी विद्याधर अंकित हैं। इसके साथ ही स्तंभ के प्रत्येक कोने में खड़गासन-मुद्रा में तीर्थकरों की चार मूर्तियाँ भी प्रदर्शित हैं।

निचले आले में जो देवी है उसका दाहिना हाथ ही सुरक्षित है। वह वरद-मुद्रा में है और कमलनाल-युक्त है। उसका बाहर नष्ट हो गया है। ऊपर के आले की देवी के तीन अवशिष्ट हाथों में से एक वरद-मुद्रा में है और अन्य में कमलनाल और कमण्डल है। इसी प्रकार मण्डप के उत्तरी अग्रभाग के आलों में चतुर्भुजी लड़ी देवियाँ हैं। निचले आले की देवी के ऊपरी दो हाथों में बंद कमल है और अवशिष्ट तीसरे हाथ में शंख है। ऊपरी आले की देवी तीन सिरोंवाली है जिसके चारों हाथ और उनमें प्रदर्शित चल्लाएँ टूट गयी हैं। गर्भगृह के दक्षिणी अग्रभाग के दो मुख्य भद्र-आलों में जालीदार बातायन है किन्तु नीचे के आले में, जो वेदी-बंध की कलश-सज्जा-पट्टी से बाहर की ओर निकला हुआ है, षष्ठभुजी भरस्वती की ललितासन मूर्ति है जिसके दो हाथों में एक बीणा है और शेष चार हाथों में से एक वरद-मुद्रा में है तथा अन्य हाथों में नीलकमल, पुस्तक और कमण्डल हैं। वेदी-बंध के उत्तरी अग्रभाग बाले उसी प्रकार के आले में चतुर्भुजी देवी की ललितासन मूर्ति है जिसके ऊपरी दो अवशिष्ट हाथों में से प्रत्येक में एक कमलनाल है।

यह संदेहास्पद है कि देवालय के पीछे की ओर के दो दक्षिणी भद्र-आलों में अंकित चंद्रप्रभ की कायोत्सर्व-मुद्रा में सुंदर प्रतिमा तथा एक आसीन तीर्थकर-प्रतिमा मूल प्रतिमा है या नहीं। शुक्लासा को अलंकृत करनेवाली कुछ प्रतिमाएँ, जिनमें यक्षी अधिका की भी एक सुंदर आकृति है, स्पष्ट ही बाद में जोड़ दी गयी है। जो भी हो, इस यक्षी की एक सुंदर मूर्ति मण्डप-शिखर के दक्षिणी अग्रभाग की आधार-वेदी पर स्थित है जो उस कामुक जोड़े से बहुत दूर नहीं है, जिसकी शैली के केवल दो ही नमूने इस मंदिर में प्राप्त हैं। शिखर के आधार के साथ-साथ बने छोटे आलों में कुछ चित्र-बल्लरियाँ हैं जिनमें एक शुरु अपने शिष्यों को पढ़ाता हुआ चित्रित किया गया है तथा एक कथा-पट्ट है जिसमें हनुमान को अशोक-वाटिका में सीता से भेंट करते हुए अंकित किया गया है।

इस मंदिर के भीतरी भाग में दीवार के साथ रखी चौकियों में से लगभग आधी रिक्त हैं और शेष चौकियों पर तीर्थकरों की पारंपरिक मूर्तियों के अतिरिक्त सिंह पर आरूढ़ एक चतुर्भुजी यक्षी तथा तीर्थकर के माता-पिता की सुंदर प्रतिमाएँ हैं।

### आदिनाथ-मंदिर

पादर्वनाथ-मंदिर के ठीक उत्तर में स्थित यह मंदिर (चित्र १७१) लजुराहो स्थित जैन मंदिर-समूह में एक महत्वपूर्ण मंदिर है। यह निरंधार-प्रासाद-शैली का है। अब इसके केवल गर्भगृह और अंतराल ही अपनी छतों सहित शेष बचे हैं। उसके मण्डप और अर्ध-मण्डप बिलकुल ही नष्ट हो गये हैं तथा उत्तरके स्थान पर एक प्रवेश-कक्ष बना दिया गया है जो चूने की पलस्तर-युक्त चिनाई से बना है। उसके जो तोरण-युक्त ढार-भार्ग हैं और मुद्राकार भीतरी छतें हैं वे मूल भवन से बिलकुल मेल नहीं खाते। रूपरेखा और उठान दोनों ही दृष्टि से यह मंदिर सप्तरथ-शैली का है और उसके प्रत्येक भद्र से एक अतिरिक्त नासिका या प्रक्षेप दृष्टिगोचर होता है। अपनी मूर्ति-शैली (चित्र १७२) तथा सामान्य रूपरेखा एवं शंकन में यह मंदिर बामन-मंदिर से सबसे अधिक समानता रखता है।

वास्तव में, इस मंदिर और वामन-मंदिर में महत्वपूर्ण अंतर केवल जंघा की सबसे ऊपर की तीसरी पंक्ति के अलंकरण में है। वामन-मंदिर के आलों का अलंकरण हीरकों द्वारा किया गया है। जो भी ही, बर्तमान में सबसे ऊपर की पंक्ति में आकाशगामी उत्साही विद्याधरों की एक पट्टी अंकित है। ऐसी पट्टी पाश्वनाथ, जवारी, चतुर्भुज और दूलादेव-मंदिरों में भी पायी जाती है। फिर भी एक सीमा तक यह माना जा सकता है कि निर्माण-तिथि की दृष्टि से यह मंदिर अन्य किसी स्थानीय मंदिर की अपेक्षा वामन-मंदिर के अधिक निकट है। क्योंकि इसका शिखर इतना चिपटा और भारी नहीं है जितना कि वामन-मंदिर का और इसकी निर्मिति अधिक संतुलित है, अतः यह जान पड़ता है कि यह मंदिर कुछ अधिक विकसित है और वामन-मंदिर के पश्चात् बना है।

यह मंदिर एक मीटर ऊँची साधारण आयाम की जगती पर बना है। जगती के मूल गोटे नष्ट हो चुके हैं किंतु उसके अग्रभाग पूरे फिर से बना दिये गये हैं।

अधिष्ठान के गोटे भिट्ठ-स्तर पर बने हैं जिनमें निम्नलिखित सम्मिलित हैं : (१) एक सादा स्तर (खर-शिला); (२) हीरकों से अलंकृत एक स्तर जो छोटे अर्ध-स्तंभों से निर्मित है (तुलना कीजिए—दूलादेव-मंदिर के इसी प्रकार के गोटों से); (३) सादा जाह्यकुंभ; और (४) एक प्रक्षिप्त मध्यबंध जिसका अलंकरण कमल-पंखुडियों से किया गया है। भिट्ठ के ऊपर पीठ की सज्जा-पट्टियाँ हैं जिनमें सम्मिलित हैं : (१) जाह्यकुंभ, (२) कण्ठिका, और (३) ग्रास-पट्टिका। ग्रास-पट्टिका वेदी-स्तर को सूचित करती है—यह तथ्य गर्भगृह के पानी के निकास के लिए उसके उत्तरी अग्रभाग में बनायी गयी मकर-प्रणाली से स्पष्ट है। ग्रास-पट्टिका पर वेदी-बंध-सज्जा-पट्टियाँ बनी हैं। इनमें सम्मिलित हैं : (१) खुर, (२) आलों में हीरकों से अलंकृत कुंभ, (३) कलश, (४) कपोत, और (५) प्रक्षिप्त पट्टिका, जिसका अलंकरण हीरकों तथा पाटलाकार अलंकृतियों से एकांतर-क्रम में किया गया है।

जंघा में मूर्तियों की तीन पंक्तियाँ हैं। ऊपर की पंक्ति आकार में कुछ छोटी है। नीचे की दो पंक्तियों में देवी-देवताओं का अंकन है जिनमें पारी-पारी से, प्रक्षेपों पर अप्सराओं की तथा भीतर धौसे भागों में व्यालों की आकृतियाँ हैं। सबसे ऊपर की पंक्ति में प्रक्षेपों पर विद्याधरों की तथा भीतर धौसे भागों में विद्याधर-मिथुनों की आकृतियाँ अंकित हैं। विद्याधर की आकृतियों में प्रबल सक्रियता विशेष रूप से परिलक्षित होती है। उन्हें पुष्पमालाएँ ले जाते हुए या संगीत-वाद्य बजाते हुए या शस्त्र चलाते हुए अंकित किया गया है। अंतराल के अग्रभागों तथा गर्भगृह के भंडों में चार आले दिखाई देते हैं जिनमें से सबसे निचला आला तलगृह की कुंभ-सज्जा-पट्टी पर है और अन्य तीन उसी स्तर पर हैं जिसपर मूर्तियों से बुक्त पट्टियाँ हैं। सबसे ऊपर का आला खजुराहो के मंदिर में पाये जाने वाले छज्जेदार वातायन की पूर्ण प्रतिकृति ही है और उसमें तीन खड़ी हुई आकृतियाँ हैं। नीचे के तीन आलों में जैन मूर्तियाँ अंकित हैं।

पहली और मध्य पंक्तियों के बीच की बांधना की सज्जा-पट्टी ग्रास-पट्टिका को प्रदर्शित करती है जिसके ऊपर एक प्रक्षिप्त पट्टिका है। मध्य और सबसे ऊपर की पंक्तियों के बीच की बांधना-सज्जा-

पट्टी में शास्त्र-पट्टिका है जिसके ऊपर एक प्रक्षिप्त कलश है। सबसे ऊपर की पंक्ति में ऊपर की सज्जा-पट्टियाँ भरणी के समान प्रयुक्ता की गयी हैं जिसमें आमलक तथा धारीदार पद्म सम्मिलित हैं। इसके ऊपर कपोत पर सज्जा-पट्टियों की दो पंक्तियाँ हैं जिनमें से ऊपर की पट्टी एक सुस्पष्ट अंतराल द्वारा शिखर से पृथक् की गयी है।

इस मंदिर का शिखर सप्तरथ है। वह षोडश-भद्र है, जो भूमि-आमलकों से प्रकट है। प्रत्येक आमलक के ऊपर कपोत है। कर्ण-रथों में एक खड़ी पट्टी है। इस पूरी पट्टी में चैत्य आले हैं जिनमें से निचले में एक हीरक-गोटा है। सभी रथ-शिखर मुख्य परिधि-रेखा से आगे निकले हुए हैं। अध्यवर्ती एवं पाश्ववर्ती रथों के ऊपर कमशः कीर्तिमुख एक अर्ध-कालिमुख बने हुए हैं। कर्ण-रथों के ऊपर एक लघु स्तूपाकार शिखर है जिसमें दो पीढ़े, चंद्रिकाएँ तथा आमलक हैं। इस परिधि के ऊपर एक बड़े आकार का धारीदार आमलक, दो चंद्रिकाएँ, एक छोटा आमलक, चंद्रिका और कलश हैं। कलश के ऊपर का अंतिम पुष्पांकन हाल ही में जोड़ा गया जान पड़ता है।

अंतराल की छत तीन आलों की एक शृंखला से आच्छादित दिखाई देती है। इतके ऊपर एक त्रिकोण-शीर्ष (उद्गम) है। इससे ऊपर की ओर तीन क्रमिक स्तरों में शाला-शिखर हैं। हर स्तर के ऊपरी भाग को कमल-पंसुड़ियों से सजाया गया है और उसके पाश्वों को रत्न-पट्ट से। सामने से देखने पर हमें सात आलों की एक सुस्पष्ट पंक्ति दिखाई देती है। बीच के आले में एक खड़ी हुई यक्षी की आकृति है तथा उसके पाश्व के आलों में सहायक देवी-देवताओं की आकृतियाँ हैं। आलों के ऊपर त्रिकोण-शीर्षों की तीन आरोही पंक्तियाँ हैं जिनमें से सर्वोपरि पंक्ति सबसे अधिक चौड़ी है तथा आलों की संगूण पंक्ति के ऊपर उठती जाती है। उसके आधार के पाश्व में प्रत्येक ओर एक लघु स्तूपाकार शिखर है जिसमें चार पीढ़े, चंद्रिका और आमलक हैं। इसे हीरक-गोटों को प्रदर्शित करनेवाले एक आले के ऊपर ले जाया गया है। सबसे ऊपर के त्रिकोण-शीर्ष में चैत्य-तोरणों की तीन पंक्तियाँ हैं। नीचे की दो पंक्तियाँ, जिनमें केवल उत्तरी अर्ध-भाग ही शेष बचा है, केवल अर्ध-तोरण ही प्रदर्शित करती हैं। इनमें से प्रत्येक पर तोरण-पाशों में मकर-मुख हैं। इनमें बीच में दो अर्ध-स्तंभ भी हैं। अर्ध-तोरणों की तीसरी पंक्ति के ऊपर एक तोरण है जिसके एक कीर्ति-मुख के मुख से तीन शृंखलाएँ लटकी हुई हैं। उनमें से बीच की शृंखला में एक घण्टिका है जिसके दोनों ओर पाश्व में कमल-कलिका है। शेष शृंखलाएँ उन मकरों के मुख तक जाती हैं जो अर्ध-तोरणों की ऊपरी पंक्ति में अंकित हैं। सबसे ऊपर के पूर्ण तोरण के दोनों ओर पाश्व में पिछले पैरों पर खड़ा हुआ व्याल भी है, तथा उसपर एक चौकोर शिखांत है जिसके ऊपर एक ऐसे सिंह की आकृति है जो एक हाथी पर झपट रहा है। इस अंकन के साथ ही शुकनासिका समाप्त होती है। सिंह की आकृति एक शिला पर टिकी हुई है जो शिखांत के ऊपर है। अर्ध-तोरण के पाश्व में भी स्तूपाकार शिखर-शीर्ष है जिसमें धारीदार चंद्रिका, आमलक और चंद्रिका है।

गर्भगृह का द्वार-भार्ग सात शाखाओंवाला है। पहली शाखा का अलंकरण पञ्च-लता द्वारा किया गया है तथा उसके पाश्व में मंदार-माला है जिसने नीचे जाकर नाचाकृतियों का रूप धारण कर लिया

है। आकृतियाँ अब विकृत हो गयी हैं। दूसरी और चौथी शाखाओं में गणों को नृत्य करते हुए या संगीत-वाद्य बजाते हुए चित्रित किया गया है। तीसरी शाखा पर, जिसका उपयोग स्तंभ-शाखा के रूप में किया गया है, आठ वक्षियाँ उल्कीण की गयी हैं। ठीक दायें द्वार-पथ में नीचे से ऊपर की ओर निम्नलिखित का अंकन किया गया है : (१) चतुर्भूजी देवी जिसका एक हाथ अभय अभय-मुद्रा में है और अन्य हाथों में कुण्डलित कमलनाल, जलकुंभ है, वाहन नहीं है। (२) चतुर्भूजी देवी जो एक वस्तु (अब लुप्त) शुद्धा, पुस्तक और फल लिये हुए है। नीचे हिरण्य-जैसे वाहन का अंकन है। (३) चतुर्भूजी देवी जिसका हाथ अभय-मुद्रा में है और जो पाश, कुण्डलित कमलनाल और एक पदार्थ (अब लुप्त) लिये हुए है तथा पक्षी-वाहन पर आरुड़ है। (४) चतुर्भूजी देवी जिसका हाथ अभय-मुद्रा में है और जो शुद्धा, पुस्तक और जलकुंभ लिये हुए है। उसका वृषभ-वाहन नीचे अंकित है। ठीक दायें द्वार-पथ में नीचे से ऊपर की ओर निम्नलिखित का अंकन किया गया है : (१) चतुर्भूजी देवी जिसके दो अवशिष्ट हाथों में कुण्डलित कमलनाल और शंख हैं, नीचे मकर-वाहन अंकित है। (२) चतुर्भूजी देवी जिसके सभी चिह्न टूट गये हैं किन्तु शुक-वाहन पूरा का पूरा सुरक्षित है। (३) चतुर्भूजी देवी जो तीन अवशिष्ट हाथों में कुंतल कमलनाल, पुस्तक और एक फल लिये हुए है, उसके पशु-वाहन का सिर अब नहीं है। और अंत में, (४) चतुर्भूजी देवी है जिसका हाथ अभय-मुद्रा में है और जो कुंतल कमलनाल, पुस्तक और जलकुंभ लिये हुए है; नीचे वृषभ-वाहन का अंकन है। पाँचवीं शाखा का अलंकरण पारी-पारी से श्रीवत्स के अंकन और पुष्टगुच्छ-रचना द्वारा हुआ है। छठी शाखा का, जो द्वार-मार्ग का प्रचण्ड वेष्टन है, अलंकरण नीचे अंकित एक व्याल के मुख से निकली एवं स्थूल रूप से उकेरी गयी पञ्च-लताओं द्वारा किया गया है। अंतिम या सातवीं शाखा का अलंकरण एक विशेष प्रकार की बर्तुलाकर गुच्छ-रचना द्वारा किया गया है। प्रथम शाखा और पाँचवीं की संदार-माला सरदल तक ले जायी गयी है। द्वार-मार्ग का सरदल स्तंभ-शाखाओं पर टिका हुआ है जिनके आलों में पाँच देवियों की प्रतिमाएँ अंकित हैं। बीच के और अंतिम आलों में आसीन देवियाँ चित्रित हैं; इनमें से प्रत्येक चतुर्भूज भूत पर अवलंबित है। बीच के आले के पाइवों में स्थित आलों में देवियों की खड़ी हुई मूर्तियाँ हैं। बीच के आले में चतुर्भूजी चक्रेश्वरी अंकित है जिसका हाथ अभय-मुद्रा में है और वह गदा, पुस्तक और शंख लिये हुए है। वह गरुड़ पर आसीन है और किरीट-मुकुट पहने हुए है। ठीक दाहिने छोर के आले में अंबिका यक्षी की मूर्ति है जो आग्र-गुच्छ, कुंतल कमलनाल, कुंतल कमल-नाल सहित पुस्तक और एक बालक को लिये हुए है; वह सिंह पर आरुड़ है। ठीक दायें सिरे के आले में पद्मावती यक्षी है जो सर्व-फणाकली के नीचे एक कच्छप पर आसीन है। उसका हाथ अभय-मुद्रा में है और वह पाश, कमल-कलिका और जल-कुंभ लिये हुए है। सरदल के पाँचों आलों के ऊपर उद्गम है। द्वार-मार्ग के आधार पर गंगा और यमुना अंकित हैं जिनके प्रत्येक और स्त्री-सेविकाएँ हैं। द्वार-पथ पर अंकित सेवक एक दूसरे के सामने अंकित हैं तथा उनके पास जल-कुंभ है। दाहिनी आकृति के पीछे मकर चित्रित है तो बायीं आकृति के पीछे कच्छप। नदी-देवियों और उनकी सेविकाओं की आकृतियाँ बुरी तरह विकृत हो गयी हैं। यही हाल उन चार द्वारपालों का हुआ है जो दोनों ओर दो-दो बने हुए हैं। ये द्वारधाल कमशः द्वार-मार्ग के वेष्टन तथा द्वार-मार्ग के पाइवं के अर्ब-स्तंभों के नीचे बने हुए हैं। देहरी के ऋजुरेखीय केंद्रीय

प्रक्षेप पर एक सुंदर कमल-लता बनी हुई है जिसके पाश्व में सेविकाएँ अंकित हैं। सेविकाओं के परे परंपरागत चार जल-देवता हैं। उनमें से प्रत्येक के पास जल-कुंभ है और वह करि-सकर पर आसीन है। स्तंभ-शाखाओं के नीचे के आलों में चतुर्भुजी श्रीदेवी की, तथा पद्मासन में बैठी हुई एवं अपने ऊपरी अवशिष्ट दाहिने हाथ में कमल-कलिका धारण किये हुए चतुर्भुजी लक्ष्मी की आकृति है जिसके आसन के नीचे कञ्जप है। सातवीं शाखा के नीचे के आलों में कुबेर की मूर्तियाँ अंकित हैं जिनका एक हाथ अभय-मुद्रा में है और अन्य हाथों में वे परशु, कुतल कमलनाल और एक भग्न वस्तु लिये हुए हैं। उसके आसन के नीचे तीन घट अंकित हैं जो निधियों के प्रतीक हैं।

गर्भगृह के द्वार-मार्ग के पाश्ववर्ती अर्ध-स्तंभ चौकोर हैं। वे एक ऐसे उपर्याठ पर बने हुए हैं जिसका अलंकरण वर्तुलाकार गुच्छ-रचना एवं कमल-पंखुड़ियों से किया गया है। इनके ऊपर एक अलंकृत श्रावार (कुभिका) है जिसमें खूर, उद्गम से सज्जित कुंभ, कलश और कपोत-युक्त सज्जा-पट्टियाँ हैं। स्तंभावली के निचले भाग में चतुर्भुजी द्वारपाल की मूर्ति है। उसके बीच के भाग का अलंकरण निम्नलिखित से किया गया है : (१) कीर्तिमुख के मुख से निकलनेवाली लहरदार पत्र-लताएँ, (२) हीरक-आकृतियाँ, (३) घट-पल्लव। इससे ऊपर एक प्रक्षिप्त पट्टिका है जिसके ऊपर एक उच्चालक खण्ड है जिसमें घट-पल्लव अंकित है। ऊपर के स्तंभ-शीर्ष पर आमलक और पद्म द्वारा अलंकृति की गयी है। स्तंभ-शीर्ष पर भूत-टोडे टिके हुए हैं जिनपर कोनों में भवित-विभोर नाग बने हैं। टोडे सरदलों को सहारा देते हैं जिनके तीन खसकों का अलंकरण निम्नलिखित से किया गया है : (१) सोलह मंगल-प्रतीक जिन्हें गर्भ-धारण के समय महावीर की माता ने स्वप्न में देखा था, (२) वर्तुलाकार गुच्छ-रचना जो पारी-कम से हीरक-आकृतियों के साथ बनायी गयी है, और (३) ग्रास-पट्टिका। सरदलों के ऊपर की अधिरचना इस समय उपलब्ध नहीं है और उसका जीर्ण-द्वार हाल ही में चूना-पलस्तर द्वारा किया गया है।

गर्भगृह जिन अर्ध-स्तंभों पर टिका हुआ है उसमें आयताकार सादी स्तंभावली है। जो भी हो, स्तंभावलियों के ऊपरी और निचले भागों में बीच के अर्ध-स्तंभों पर घट-पल्लव अंकित हैं। ये स्तंभावलियाँ सामान्य रूपरेखा के उपर्याठ और कुभिका पर टिकी हुई हैं। इन सभी अर्द्ध-स्तंभों पर स्तंभ-शीर्ष हैं जिनके ऊपर एक पट्टिका है जिसपर बेल-बूटे अंकित हैं। बीच के अर्ध-स्तंभों पर भूत-टोडे हैं। पिछले अर्ध-स्तंभ सादी वक्र-रेखा-युक्त हैं, जिनके ऊपरी भाग पर बलय है। सरदल सादा है, उसके दो खसके हैं और वह एक कपोत को सहारा देता है। जिसपर एक समतल छत है, जिसका अलंकरण एक बड़े कमल-पुष्प द्वारा किया गया है। इस पुष्प की एक चौकोर खण्ड में आवृत उकेरी गयी संकेद्वी पंखुड़ियों की चार पत्तियाँ हैं। इस खण्ड के कोने कीर्तिमुखों से अलंकृत हैं। गर्भगृह की शूर्वी भीतरी छत समतल और सादी है।

इस मंदिर में आदिनाथ की प्राचीन प्रतिमा के स्थान पर आदिनाथ की एक नई मूर्ति प्रस्तुति है। प्राचीन प्रतिमा की केवल चौकी ही शेष रह पायी है। यह मंदिर आदिनाथ का ही था

यह तथ्य इस बात से प्रमाणित होता है कि गर्भगृह के द्वारन्मार्ग के सरदल पर यक्षी चक्रेश्वरी की मूर्ति अंकित है।

अंतराल के ऊपर शुकनासिका के उत्तरी और दक्षिणी अग्र-भागों में से प्रत्येक पर तीन-तीन आले दबे हैं जिनमें देवी की आकृतियाँ हैं। ये तीन आले और अंतराल के दो आले मिलकर उत्तरी और दक्षिणी दोनों अग्र-भागों के पाँच आलों की एक खड़ी पंक्ति का निर्माण करते हैं। शुकनासिका के पूर्वी या अग्र-भाग पर सात आलों की एक आड़ी पंक्ति है जिनमें देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ हैं।

अधिकांश आलों में वक्षियों की प्रतिमाएँ हैं क्योंकि उन सभी के शीर्ष पर पद्मासन में तीर्थ-कर-मूर्तियाँ हैं। सामान्यतया यक्षियों की आठ भुजाएँ अंकित की गयी हैं और उनके साथ ही उनके वाहन भी दर्शये गये हैं किन्तु उनमें से अधिकांश के हाथ और अन्य लक्षण विकृत हो गये हैं। इन यक्षी-प्रतिमाओं का ठीक ढंग से परिरक्षण नहीं किया गया। यद्यपि उनके वाहन विद्यमान हैं, फिर भी उनकी पहचान कर पाना कठिन है, विशेषकर उस परिस्थिति में जबकि कोई क्रम नहीं अपनाया गया हो।

दिक्पालों तथा उनके अपने वाहनों का अंकन यथोचित स्थान पर प्रथम पंक्ति के कोनों में किया गया है। कुवेर का वाहन नहीं है। निर्झृति की, जिसे प्रथमः नन्न चित्रित किया जाता है, आकृति यहाँ प्रचलित वेशभूषा और अलंकारों से युक्त अन्य देवताओं की भाँति बनायी गयी है; एक द्वान को उसके वाहन के रूप में अंकित किया गया है।

दिक्पालों को अनिवार्य रूप से आङ्गादित करनेवाले वृषभ-शीर्ष अष्टवसुओं को वृषभ-वाहन से युक्त चित्रित किया गया है। उनके हाथ वरद-मुद्रा में हैं और वे कुतल कमल-नाल एवं कुतल कमलनाल सहित जलकुंभ लिये हुए हैं। दूसरे प्रकार के अंकन में एक हाथ वरद-मुद्रा में है तथा अन्य हाथ में परशु, कुतल कमलनाल और जलकुंभ हैं।

### चंदेलपुगीम कला

खजुराहो के अन्य मंदिरों के समान जैन मंदिरों की मूर्तिकला को पाँच मुख्य वर्गों में बांटा जा सकता है। प्रथम वर्ग में आराध्य मूर्तियाँ हैं जो लगभग चारों ओर कोरकर बनायी गयी हैं। वे रीतिबद्ध हैं और आसीन या समर्भग-रूप में खड़ी होती हैं। इनकी प्रभावली विशाल है तथा इनके पीछे सज्जा-पट्ट है जिसका अलंकरण परिकर देवी-देवताओं की आकृतियों के द्वारा किया गया है (चित्र १७३)। क्योंकि ये प्रतिमाएँ वास्तिक ग्रंथों द्वारा प्रतिमादित नियमों, सूत्रों तथा विहित अनुपातों, चिह्नों और लक्षणों का पूर्णरूपेण पालन करते हुए बनायी गयी हैं इसलिए इनका सौदर्यत्मक पक्ष उपेक्षित-सा रहा है।

दूसरे वर्ग की मूर्तियाँ विद्यादेवियों, शासन-देवताओं (यथों तथा यक्षियों), अन्य देवी-देवताओं तथा आवरण-देवताओं की हैं (चित्र १७४ क, ख, और १७५)। वे आलों में अंकित हैं या उनकी आकृतियाँ मंदिर की दीवारों के साथ हैं। वे या तो उकेरकर बनायी गयी हैं या पूर्ण अथवा मध्यम उद्भूति के रूप में हैं। देवताओं, जिनमें दिवमाल भी हैं, की ये आकृतियाँ कम रीतिवद्ध हैं एवं अधिक स्वतंत्रतापूर्वक बनायी गयी हैं। सामान्यतया वे त्रिभंग-मुद्रा में लड़ी हैं या ललितासन में आसीन हैं। मानव-आकृतियों से भिन्न रूप में उनकी पहचान उनके विशिष्ट शिरोभूषा (जटा, किरीट या करण्ड-मुकुट) या उनके बाहून या विशेष चिह्नों, जिन्हें वे सामान्यतः अपने दो से अधिक हाथों में धारण करते हैं, से होती है। अधिकतर देवता भी वही वेश धारण किये हुए हैं और वे ही अलंकार पहने हैं जो कि मानव-आकृतियाँ। मानवों से अलग उनकी पहचान उनके वक्षस्थल पर हीरक (यह चिह्न बैसा ही है जैसा कि विष्णु के वक्षस्थल पर कौस्तुभ-मणि और तीर्थकर की प्रतिमाओं पर श्रीवत्स-बांछन या चिह्न) तथा एक लंबी माला से होती है, जो विष्णु की धैजयंती माला से मिलती-जुलती है। ये चिह्न खजुराहो के देवताओं के परिचय-चिह्न हैं।

तीसरी श्रेणी में वे अप्सराएँ और सुर-सुंदरियाँ आती हैं (चित्र १७६) जिनकी सबसे सुंदर और सर्वाधिक मूर्तियाँ या तो उकेरकर या पूर्ण या मध्यम उद्भूति के रूप में, जंघा पर के छोटे आलों में तथा स्तंभों पर या भीतरी छत के टोडों पर या मंदिर के भीतरी भाग के अर्ध-स्तंभों के बीच के अंतरालों पर बनायी गयी हैं। सुर-सुंदरियों को सर्वत्र सुंदर और पूर्णयीवता अप्सराओं के रूप में अंकित किया गया है। वे सुंदरतम रूप और वस्त्र धारण किये हुए हैं। एवं लुभावने हाव-भाव तथा सीदर्य से युक्त हैं। अप्सराओं के रूप में उन्हें अंजलि-मुद्रा में या अन्य किसी मुद्रा में दर्शाया गया है, या देवताओं को चढ़ाने के लिए कमल-पुष्प, दर्पण, जलकुम्भ, वस्त्रालंकार, आभूषण आदि ले जाते हुए अंकित किया गया है। किन्तु इन मुद्राओं से भी अधिक उन्हें मानवीय चिल्स-वृत्तियों, संवेगों तथा त्रिया-कलाओं में प्रस्तुत किया गया है और प्रायः उन्हें पारंपरिक नायिकाओं से भिन्न रूप में पहचान पाना कठिन होता है। इस प्रकार की अप्सराएँ वस्त्र उतारती हुई, जमुहाई लेती हुई, पीठ खुजलाती हुई, अपने स्तनों को छूती हुई, अपने बीले बालों से पानी निचोड़ती हुई, काँटा निकालती हुई, बच्चे को खेलाती हुई, तोतों और बंदरों जैसे पालतू प्राणियों से खेलती हुई, पत्र लिखती हुई, बीणा या बंशी बजाती हुई, दीवारों पर चित्र बनाती हुई या अनेक प्रकार से अपने को सजाती हुई (परों में आलता या आँखों में काजल आदि लगाती हुई) दर्शायी गयी हैं।

चौथी श्रेणी में वे लौकिक मूर्तियाँ आती हैं जो जीवन के विविध वर्ग से संबंधित हैं। इनमें घरेलू जीवन के दृश्य, जैसे मुरु और शिष्य, नर्तकियाँ और संगीतकार, तथा अत्यरिक्त मात्रा में कामुक जोड़ों का समूह सम्मिलित है।

पाँचवीं या अंतिम श्रेणी में पशुओं की आकृतियाँ आती हैं। इनमें व्यास (चित्र १७६) सम्मिलित है जो एक वैतालिक और पौराणिक पशु है। वह मुख्य रूप से सिंहोंवाला सिंह है, जिसकी पीठ पर एक मानव सवार है एवं एक प्रतिपक्षी योद्धा उसपर पीछे से आक्रमण कर रहा है। इस मूलभूत

प्रकार की अनेक आकृतियाँ आदिनाथ-मंदिर में हैं जिनमें इनके सिर हाथी, मनुष्य, लोता, भालू, आदि के हैं। व्याल की आकृति सामान्यतया जंधा के कटावों में बनायी गयी है किन्तु वह शुकनासिका और भीतरी भाग में भी दृष्टिगोचर होती है। अप्सराओं की भाँति, वह सर्वाधिक विशिष्ट एवं लोकप्रिय सूति-विषय है और उसका बड़ा गहरा प्रतीकार्थ है।

खजुराहो की जैन मूर्तिकला ने प्राचीन नान्दन से बहुगुणता एवं विविध रूप से मध्ययुगीन है। क्योंकि खजुराहो मध्य-भारत के बीचों-बीच स्थित है, जिसपर पूर्व और पश्चिम की कला का प्रभाव पड़ा है, इस कारण खजुराहो की सूति-कला में पूर्व की संवेदनशीलता तथा पश्चिम की अधीरतापूर्ण किन्तु मृदुलताहीन कला का सुखद संयोजन है। यद्यपि इस कला की तुलना भव्यता, अनुभूति की गहनता एवं कलाकार के आंतरिक अनुभव की अभिव्यक्ति को ध्यान में रखते हुए गुप्तकालीन कला की उत्कृष्टता से नहीं की जा सकती, तथापि उसमें मानवीय सजीवता का आश्चर्य-कारी स्पंदन है। इन मूर्तियों की विशालता एवं स्पंदनशीलता से हम चकित रह जाते हैं। लगता है कि वे दीवार की सतह से पूर्णकृतियों में या पूर्ण उभार में मूर्ति-सौंदर्य के मनोहर गीत की भाँति हमारे समक्ष उत्तर आती हैं।

**मूर्ति-निर्माण में यहीं साधारणता:** उस गति की कमी है जो पूर्व-मध्य युग की मूर्तियों की विशेषता है। वैसे कल्पक आवाम तो पर्याप्त है किन्तु रूढिकद्वारा है, जो यह सूचित करता है कि कल्पक दृष्टि क्षीण हो गयी है। **पूर्णतः:** उकेरी गयी और मूर्ति को रूप देतेवाली कल्पकता का स्थान तीक्ष्ण उपातों और तीक्ष्ण कोणों ने ले लिया है; एवं अनुप्रस्थों, ऊर्ध्वाधिर रेखाओं और कणों पर बल दिया गया है। फिर भी यह कला अपने समसामयिक कला-शैलियों से मानवीय मनोभावों और अभिरूचियों के सजीव अंकन में अधिक उत्कृष्ट है। इनकी अभिव्यक्ति प्रायः इंगितों तथा आकृच्छनों के माध्यम से सूक्ष्म किन्तु उद्देश्यपूर्ण ऐंट्रिक उद्दीपना के द्वारा की गयी है। भाव-विलासपूर्ण सुकुमारता तथा मुक्त कामोदीपक हाव-भाव इसका मुख्य स्वर है, और यहीं वात इस कला को समसामयिक अन्य कला-शैलियों से पृथक् करती है।

### परमार प्रदेश — झज्जू

भालवा के मध्य भाग में स्थित झज्जू, जो पश्चिम निमाड़ जिले में है, स्थापत्य की परमार-शैली का एक प्रसिद्ध केंद्र है। बारहवीं शताब्दी में इस नगर में कुमारपाल-चरण की एक सुंदर चालुक्य-शैली में जैन मंदिर का निर्माण किया गया था। यह मंदिर, जो स्थानीय रूप से चौबारा-डेरा-२ के रूप में प्रसिद्ध है, नगर के ऊपरी छोर पर एक प्राकृतिक पहाड़ी पर स्थित है। मंदिर का मुख उत्तर की ओर है और उसकी संयोजना में गर्भगृह, अंतराल, गूढ़-मण्डप, जो पार्श्विक अर्ध-मण्डपों से युक्त है, त्रिक्षण-मण्डप और मुख-चतुर्थी सम्मिलित हैं। गूढ़-मण्डप में चार द्वार-भाग हैं जिनमें से दो पार्श्विक द्वार-भाग एक-एक अर्ध-मण्डप में खुलते हैं।

जगती की सज्जा-पट्टियाँ और नष्ट हो चुकी हैं। उपरीठ में दो अलंकृत सज्जा-पट्टियाँ, जो दो सादी पट्टियों पर टिकी हैं, सम्मिलित हैं और सामान्य पीठ को आधार प्रदान करती हैं। इस पीठ में जाड़यकुभ, कणिका और ग्रास-पट्टी की सज्जा-पट्टियाँ हैं जिनके ऊपर गजथर और नरथर बने हुए हैं। नरथर में अनेक प्रकार की कथाएँ वित्रित हैं जो पौराणिक एवं लौकिक हैं। इन कथाओं में समुद्र-मंथन, युद्ध, नृत्य-संगीत एवं कामुक-गुगलों के दृश्य हैं। नरथर जगती के स्तर को सूचित करता है तथा वह वेदी-बंध की अलंकृत सज्जा-पट्टियों को आधार प्रदान करता है, जिनके ऊपर मंचिका, जंधा, उद्गम, भरणी, कपोत और कूट-छादा निर्मित हैं। ये सब चौलुक्य-शैली के कुमारपाल-बरण की विशेषताएँ हैं। वेदी-बंध की कुंभ-सज्जा-पट्टी का अलंकरण आलों द्वारा किया गया है, जिनमें जैन यक्षियों तथा विद्यादेवियों की आकृतियाँ हैं।

गर्भगृह के ऊपर का शिखर, जो कूट-छादा के ऊपर बना हुआ था, अब नष्ट हो चुका है किन्तु उसके खण्डित अवशेषों से यह स्पष्ट है कि वह बाहरी शताब्दी की चौलुक्य-शैली का था।

गर्भगृह की योजना पंचरथ है। उसके छँकेद्रीय रथ के तीन मुख हैं तथा शेष के केवल दो ही। जंधा-प्रक्षेपों के सभी मुखों का अलंकरण आकृतियों द्वारा किया गया था। केंद्रीय प्रक्षेप के दोनों ओर स्पष्टतः एक-एक आला है जिसमें किसी समय जैन देवताओं की मूर्तियाँ थीं, पर जो अब उपलब्ध नहीं हैं। केने के रथों में दिव्यालों की मूर्तियाँ अंकित हैं। अन्य शेष रथों का अलंकरण जैन देवताओं या अप्सराओं की मूर्तियों द्वारा किया गया है। अप्सराओं में भरोड़ और आकुचन देखने को मिलते हैं जो बाहरी शताब्दी की अपनी विशेषता हैं।

मंदिर में प्रवेश तीन अर्ध-मण्डपों से होकर है। सभी अर्ध-मण्डप एक जैसे थे और वे चार अलंकृत स्तंभों पर टिके हुए थे। इनकी छत पर नाभिच्छंद-प्रकार का क्षिप्त-वितान था। मंदिर में प्रवेश के लिए उत्तरी मण्डप ही प्रमुख मार्ग था।

त्रिक-मण्डप में छह स्तंभ और इतने ही अर्ध-स्तंभ हैं। चार स्तंभ अर्ध-मण्डप के स्तंभों-जैसे हैं। त्रिक-मण्डप के शेष दो स्तंभों का अलंकरण ऊपरी अष्टकोणीय खण्ड के सूतियुक्त आलों द्वारा किया गया है जो गुजरात के कुछ विकसित मंदिरों की विशेषता है।

गूढ़-मण्डप बहुत बड़ा अष्टकोणीय है। यह आठ स्तंभों पर टिका हुआ है। इन स्तंभों पर वर्तुलाकार भीतरी छत, क्षिप्त-वितान है जो सभा-मार्ग-प्रकार का है और एक स्पष्ट पद्मशिला में परिणत होता है। भीतरी छत के निचले भाग से सोलह भूत प्रक्षिप्त हैं, जिनसे संभवतः उन सोलह विद्यादेवियों को आधार मिलता रहा होगा जो अब उपलब्ध नहीं हैं।

गूढ़-मण्डप के चारों द्वार-मार्ग पंचशास्त्र-प्रकार के हैं। इनपर पत्र-लता, स्तंभ-शाखा, हीरुक और पाटल-रचना तथा पद्म-पत्र-लता उत्कीर्ण हैं। तोरण-सज्जा में पाँच आले हैं जिनमें जैन यक्षियों की

आकृतियाँ हैं। गर्भगृह का द्वार-मार्ग गूढ़-मण्डप के द्वार-मार्ग से शंकन में विशेष रूप से पूर्णतः मिलता-जुलता है। गर्भगृह छोटा एवं सादा है जिसका नंबर २.४४ मीटर-वर्ग है। उसपर एक कदलिका-शूक्त भीतरी सादी छत है। विक्रम संवत् १२४२ (११८५ ई०) की आंतिनाथ की प्रतिमा, जो गर्भगृह में प्रतिष्ठित मूलनाथक की प्रतिमा थी, अब हंदीर संग्रहालय में है। गर्भगृह में अब केवल उसकी चौकी ही अवशिष्ट है।

एक दूसरा जैन धर्मिर जिसे स्थानीय रूप से खालेश्वर कहा जाता है, ऊपर बण्ठि चौबारा डेरा-२ मंदिर से अपनी योजना में लगभग समान ही है। इस मंदिर का यथेष्ट जीर्णोद्धार किया गया है और वहाँ अब भी पूजा होती है। उसका नामर-शिखर कुछ सुरक्षित है तथा अब भी देखा जा सकता है।

शैली की दृष्टि से उन स्थित दोनों ही जैन मंदिर बारहवीं शताब्दी के हैं। वहाँ एक ओर चौबारा डेरा-२ कुमारपाल-चरण की चौलुक्य-शैली का है वहीं दूसरी ओर खालेश्वर-मंदिर में स्थापत्य की परमार तथा चौलुक्य दोनों ही शैलियों का मिश्रण है।

### कलचुरि क्षेत्र—आरंग

चंदेलों तथा परमारों की ही भाँति, कलचुरि धर चेदि भी ब्राह्मण संप्रदायों के अनुयायी थे। फिर भी, वे जैन धर्म को उदार संरक्षण प्रदान करते थे क्योंकि उनकी प्रजा का एक प्रभावशाली वर्ग जैन धर्मविलंबी था। मध्य भारत के अन्य प्रदेशों की भाँति, महाकोसल में भी जैन मूर्तियों एवं मंदिरों के विस्तृत अवशेष पाये जाते हैं जो कला और स्थापत्य की चेदि-शैली की उत्कृष्टता के समभागी हैं। जबलपुर जिले में दसवीं से बारहवीं शताब्दियों की अनेक तीर्थकर-प्रतिमाएँ पायी गयी हैं। तेवर (प्रियुरी) का स्थल, जो चेदि-राजधानी था, कुछ उत्कृष्ट तीर्थकर-प्रतिमाओं के लिए विशेष रूप से विख्यात है। शहडोल जिले के सोहागपुर में या उसके आसपास जैन मंदिर विद्वमान थे—इस तथ्य की पुष्टि सोहागपुर<sup>1</sup> स्थित ठाकुर के महल में संगृहीत अनेक जैन मूर्तियों से होती है जिनमें शासन-देवताओं की मूर्तियाँ भी सम्मिलित हैं। महाकोसल के सिरपुर, मलहार, धनपुर, रत्नपुर और पदमपुर से भी तीर्थकरों की प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं।

रायपुर जिले में स्थित आरंग जैन कला और स्थापत्य का एक प्रसिद्ध केंद्र था। वहाँ लगभग भारहवीं-बारहवीं शताब्दियों की अनेक जैन प्रतिमाएँ बिखरी मिली हैं और मन्नावस्था में एक जैन मंदिर भी मिला है जो कि भाण्ड-देवल के नाम से विख्यात है (चित्र १७७)। इसकी तिथि भारहवीं शताब्दी निर्धारित की जा सकती है। यह मंदिर भूमिज-देवालय का सर्वाधिक पूर्वीय उदाहरण है तथा

1. बैनजी (आर डी) हृष्ण वाँक वियुरी एण्ड वेवर बौन्सुमेन्स, भेमायर्स ऑफ दि आर्क वॉलीजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, 23. 1931. कलकत्ता. प. 100 तथा चित्र 41.

प्रादेशिक कलचुरि-शैली में स्थापत्य के भूमिज-प्रकार को रूप देने के लिए महत्वपूर्ण है। मंदिर का मुख पश्चिम की ओर है और अब उसका केवल गर्भगृह ही सुरक्षित बचा है जिसके आगे संकीर्ण अंतराल है। अब उसके भूषण या मुख-भूषण के अवशेष नहीं बचे हैं। योजना में गर्भगृह तारकाङ्क्षित है। उसके छह भद्र (खसके) हैं, जो कुछ अपवाह जैसा है। उसपर तीन आड़ी पंक्तियोंवाला पाँच तलों का भूमिज-शिखर है। गर्भगृह एक ऊंचे पीठ पर स्थित है तथा उसमें गजधर, अश्वधर और नरधर दृष्टिगोचर होते हैं जिनके ऊपर जाइयकुंभ, कणिका एवं ग्रास-पट्टी की सज्जा-एट्रियाँ हैं। पीठ से ऊपर के अधिष्ठान में सामान्य गोटे हैं किन्तु उन्हें बेल-बूटों तथा ज्यामितीय अंकनों से अत्यधिक अलंकृत किया गया है। कलश-गोटे का अलंकरण जैन देवी-देवताओं की आकृतियों से युक्त आलों द्वारा किया गया है। ऊपर की जंघा का विशेष अलंकरण किया गया है और उसपर प्रेक्षेपों तथा भीतर घंसे अंतरालों में मूर्तियों की दो पंक्तियाँ उत्कीर्ण हैं। प्रक्षेपों में देवी-देवताओं और अप्सराओं की आकृतियाँ हैं। अंतरालों में कामुक जोड़ों, व्यालों, अप्सराओं तथा विविध कथा-वस्तुओं का चित्रण है। जंघा के छहों अंतरालों के मुख अग्र-भागों को, जो यथेष्ट चौड़े हैं, आलों से आच्छादित किया गया है जिनमें आसीन जैन दिव्य पुरुष अंकित हैं। इनमें नीचे की पंक्ति में कुछ यक्षियाँ या विद्यादेवियाँ अंकित हैं तो ऊपर की पंक्ति में कुछ यक्ष। शिखर की सज्जा कुछ आलों द्वारा की गयी है जिनमें निचले भाग में आसीन यक्षियों या विद्यादेवियों की आकृतियाँ हैं और ऊपर के भाग में अलंकृतियों की दो तीन पंक्तियाँ हैं जिनमें तीर्थकर-आकृतियाँ भी उत्कीर्ण हैं। गर्भगृह कुछ निम्न स्तर पर है और उसमें शातिनाथ, कुंशुनाथ तथा अर्णनाथ की काले पत्थर की तीन दिगंबर जैन प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हैं। उन्हें उनके अपने चिह्नों से पहचाना जा सकता है (चित्र १७८)। ग्यारहवीं शताब्दी की कलचुरि-शैली की सर्वोत्तम परंपरा में उत्कीर्ण उन सजीव मूर्तियों की तुलना में, जो मंदिर पर दिखाई देती हैं, तीर्थकरों की ये प्रतिष्ठित मूर्तियाँ कठोर और निष्प्रण जान पड़ती हैं तथा स्पष्टतः ये एक या दो शताब्दी पश्चात् निर्मित की गयी हैं।

कृष्णदेव<sup>1</sup>

1 इस अध्याय में लेखक ने जैन स्मारकों के केवल तीन ही समूहों—खजुराहो, ऊन और आरंग—को अपने लेख का विषय बनाया है, यद्यपि उनसे यह अनुशेष किया गया था कि विक्रम अवधि में वे पूरे मध्य भारत का अपने लेख में समावेश करें।

दुर्भाग्य से उन्हें इस कामी को पूरा करने के लिए और अधिक समय दे सकना संभव नहीं हुआ, जैसा कि वे चाहते थे (उन्हें बहुत दिनों पूर्व सुझाव दी गयी थी)। इसका परिणाम यह हुआ है कि वह सर्वेक्षण बहुत-कुछ अवूरा रह गया है और इस क्षेत्र में उनके विस्तृत ज्ञान के लाभ से हम बंचित रह गये हैं।

यह ठीक है कि उक्त प्रदेश और अवधि के इस समय उपलब्ध जैन मंदिर संख्या में लक्षित नहीं हैं, फिर भी उक्त प्रदेश और अवधि की अनेक जैन मूर्तियाँ समूह-रूप में वा अलग-अलग सर्वेक्षणीय पड़ी हैं। इन मूर्तियों

से यह तो अवश्य ही सूचित होता है कि वे जहाँ पायी गयी हैं वहाँ प्राप्ति-काल से भी पहले से वे विद्यमान रही हैं। इस प्रकार के अधिक महत्वपूर्ण केंद्र इतने अधिक हैं कि उनका विस्तार से वर्णन नहीं किया जा सकता। जो भी हो, कच्छपवात क्षेत्र में शिवपुरी का उल्लेख किया जा सकता है। वहाँ से प्राप्त मूर्तियों को एक संग्रहालय में एकत्र किया गया है, उसकी चर्चा तीसरे भाग में की जायेगी। उत्तर में ललितपुर जिले में चौकपुर है जहाँ बहुत-सी मूर्तियाँ प्राप्त हैं; जिले में एक, नरणामुखिला, दा लिल यहाँ दिया गया है (चित्र 179)। टीकमगढ़ जिले में अहार में संगृहीत चक्रेश्वरी देवी की एक मूर्ति उसी क्षेत्र से प्राप्त धरपते प्रकार की एक अनोखी मध्ययुगीन निधि है।

जिन मूर्तियों पर तिथि का निर्देश है उनमें जबलपुर जिले के बहुरी-बद नामक स्थान की लगभग पाँच सौटर ऊंची तीर्थकर शांतिनाथ की एक कायोत्सर्ग विशाल प्रतिमा है। यह मूर्ति कलचुरि शासक गयाकर्ण के शासनकाल की है और उसपर मंदिर में उसकी प्रतिष्ठा की तिथि का उल्लेख है। इस अवसर का उपयोग कलचुरि क्षेत्र के सिवानी जिले के लखनादीन नामक स्थान से प्राप्त तीर्थकरों की दो मूर्तियों के चित्र (चित्र 181 क और ख) प्रकाशित करने के लिए किया जा रहा है। पश्चिम में कुछ और हुरी पर परमार प्रदेश में स्थित देवास जिसे के गंधारस कायक स्थान से अन्य जैन व्रतिमाओं के साथ प्राप्त चक्रेश्वरी-मूर्ति का चित्र भी यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है (चित्र 182 क) यद्यपि वह कुछ काल पहले की हो सकती है; देखिए प्रथम भाग में पृष्ठ 177 एवं चित्र 98 ख।

भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, केंद्रीय मण्डल, भोपाल के उपनिरीक्षक पुरातत्त्वविद् श्री बी० एल० नागर्चं ने संपादक का ध्यान पूर्वी निमाड़ जिले के मांचाला नामक स्थान से प्राप्त 14 सेण्टीमीटर ऊंची और हाल ही में प्राप्त एक पीतल की मूर्ति (चित्र 182 ख) की ओर आकृषित किया है। एक आसनस्थ तीर्थकर की केंद्रीय आङ्गुष्ठि कोटर में नहीं है; अन्यथा विश्वावरों, एक यज्ञ, एक पुरुष चमरधारी और श्रद्धालु नरनारी से युक्त यह एक संपूर्ण मूर्ति है। उसके पुष्टभाग पर चिकित्स संवत् 1241 (1184 ई०) का एक अभिलेख है—संपादक।]



## पश्चिम भारत

### चौलुक्य-मंदिर<sup>1</sup>

चौलुक्य (सोलंकी) स्थापत्य उत्तर भारत को सबसे समृद्ध ऐसी प्रावेशिक शैली का प्रति-निधित्व करता है जिसकी अपनी स्पष्ट विशेषताएँ हैं। चौलुक्य वंश के शक्तिशाली शासकों के समृद्धि-पूर्ण शासनकाल में पश्चिमी भारत में, मंदिर-निर्माण में सबसे अधिक प्रगति हुई क्योंकि इस चौलुक्य-शैली को इन शासकों का आश्रय प्राप्त था।

चौलुक्य-शैली के मंदिर में वे सभी आवश्यक अंग पाये जाते हैं जो किसी उत्तर-भारतीय मंदिर में देखने को मिलते हैं। उसके विन्यास में गर्भगृह, गूढ़-मण्डप और मुख-मण्डप होते हैं जो बाहर और भीतर एक-दूसरे से जुड़े होते हैं। इनकी सामने की दीवारों का तारतम्य अनेक ऐसे खाँचों या कटावों द्वारा ही टूटता है जो कम से बाहर निकले हुए या अंदर धौंसे हुए होते हैं। इनके फल-स्वरूप एक ऐसा चित्र-विचित्र रूपांकन हमारे सामने आता है जिसमें प्रकाश और छाया का अंतर दर्शाया गया है। कुछ बड़े मंदिरों में, उसी रेखा में, एक ऐसा सभा-मण्डप भी और जोड़ दिया गया होता है जिसके सम्मुख भाग में तोरण का निर्माण किया गया हो। ऐसे मंदिरों की संख्या बहुत कम है जिनमें सभा-मण्डप के एक से अधिक तल्ले हों। जहाँ तक रूप-योजना का प्रश्न है, चौलुक्य-शैली के मंदिर में पीठ, बेदी-बंध और जंधा—जिन्हें सामूहिक रूप से मण्डोवर, वरण्डिका और शिखर कहा जाता है—जैसे सभी सामान्य भाग पाये जाते हैं और ये सभी भाग, जिनमें सज्जा-वस्तुएँ तथा सजावटी अलंकरण समिलित हैं, परंपरा द्वारा एक निश्चित क्रम में निर्मित किये गये होते हैं। इस शैली के एक विशिष्ट मंदिर में जाड़्यकुंभ, कर्णिका और ग्रास-पट्टी के पीठ की सज्जा-वस्तुएँ ऐसे गजथर और नरथर द्वारा महत्वाभिलाषी संकल्पनाओं में आच्छादित हैं जिनके बीच अश्वथर का निर्माण किया गया होता है। पारंपरिक बेदी-बंध-सज्जा के ऊपर जंधा होती है जिसका अलंकरण बाहर निकली हुई देवी-देवताओं और अप्सराओं तथा भीतर की ओर बतायी गयी अप्सराओं, व्यालों या तपस्वियों की मूर्तियों के द्वारा किया गया है। जंधा की आच्छादनकारी सज्जा-वस्तुएँ एवं अलंकरण तथा वरण्डिका जिसमें उद्गम, भरणी, कपोत और पुष्प-कण्ठ समिलित हैं, एक निश्चित नमूने के अनुरूप हैं। एक सुस्पष्ट कूट-

1 इस निबन्ध को लिखने में लेखक को श्री एम. ए. डाकी से उदार सहायता प्राप्त हुई है।

छाया वरण्डिका को उस शिखर से पृथक् करती है जो अक्स में राजस्थानी मंदिरों की भाँति होता है। एक सुनिमित मंदिर के मण्डप पर छत की एक ऐसी विभेदक रचना दिखाई देती है जिसे संवरण कहा जाता है और जिसकी स्तूपाकार रचना में कर्णवत् छोटी-छोटी छतें होती हैं जिनके ऊपर घण्टे बने होते हैं।

चौलुक्य-मंदिर की भीतरी व्यवस्था में भी कुछ अपनी विशेषताएँ दिखाई देती हैं। उनके मण्डपों की बनावट परिस्तंभीय है और उनके स्तंभों पर एक निश्चित क्रमानुसार आकृतियों तथा अन्य सज्जा-रचना द्वारा विशेष अलंकरण किया गया है। मण्डपों में स्तंभों का एक अष्टकोणीय विन्यास दिखाई देता है और इनसे बड़ी संकल्पनाओं में प्रमुख स्तंभों के आर-पार अलंकृत तोरणों की दोषना की गयी है। मण्डप की गुंबदाकार छत का प्राधार ऐसी तोरण-सज्जा का एक अष्टकोणीय ढाँचा है जो स्तंभों पर टिकी है और जिसके कम होते जानेवाले सकेंद्रिक बलय अंत में जाकर एक अति सुंदर केंद्रीय लोलक (पद्मशिला) का निर्माण करते हैं।

मण्डप के वक्रभाग और मुख-मण्डप की सज्जा अलंकृत वेदिकाओं से की गयी है। इस प्रकार बाह्य सज्जा की दृष्टि से चौलुक्य-मंदिर सामान्यतः उत्तरी प्रदेशों के मंदिरों के समान हैं किन्तु अपने भीतरी भाग के प्रचुर अलंकरण और अत्यंत सुंदर बनावट में वे अद्वितीय हैं।

विकसित चौलुक्य-शैली के जैन मंदिर में एक गर्भगृह, पाश्विक वक्रभाग-युक्त, एक गूढ़-मण्डप, छह या नौ चौकियोंवाला एक स्तंभ-युक्त मुख-मण्डप तथा सामने की ओर एक परिस्तंभीय नृत्य-मण्डप होते हैं। ये सब एक चतुष्कोण में होते हैं जिसके आसपास देवकुलिकाएँ होती हैं, जिनके सामने भ्रमती के एक या कभी-कभी दो खण्डक होते हैं। स्तंभ-युक्त मुख-मण्डप का छह या नौ खण्डकों में विस्तार तथा उसके आसपास भ्रमती-युक्त देवकुलिकाओं का सम्मिलित किया जाता—ये दोनों ही परिकल्पनाएँ चौलुक्य-निर्माण-शैली में जैन धर्मविलंबियों का विशेष योगदान हैं।

इस बात के साहित्यिक प्रमाण मिलते हैं कि गुजरात में आठवीं शताब्दी से ही जैन मंदिरों का निर्माण होता रहा है। कहा जाता है कि बनराज चापोल्कट ने बनराज-विहार नामक पंचसार-पाश्वेनाथ-मंदिर और उसके मंत्री विलय ने, जो विमल का पूर्वज था, एक शृष्टभनाथ-मंदिर पाटन अन्तिलवाड़ में विद्याधर गच्छ के लिए ७४२ ई० के कुछ ही समय बाद बनवाये थे। जो भी हो, इन मंदिरों के अवशेष नहीं मिलते।

पश्चिमी भारत में इस समय जो सबसे प्राचीन जैन मंदिर है, वह है दण्डनायक विमल द्वारा १०३२ ई० में आबू<sup>1</sup> पर बनवाया गया आदिनाथ का संगमरमर का प्रसिद्ध मंदिर, जो विमल-वसही के नाम से प्रसिद्ध है (चित्र १८३ से १८८)। यह एक संयोग की बात है कि वह चौलुक्य-शैली के प्राचीन

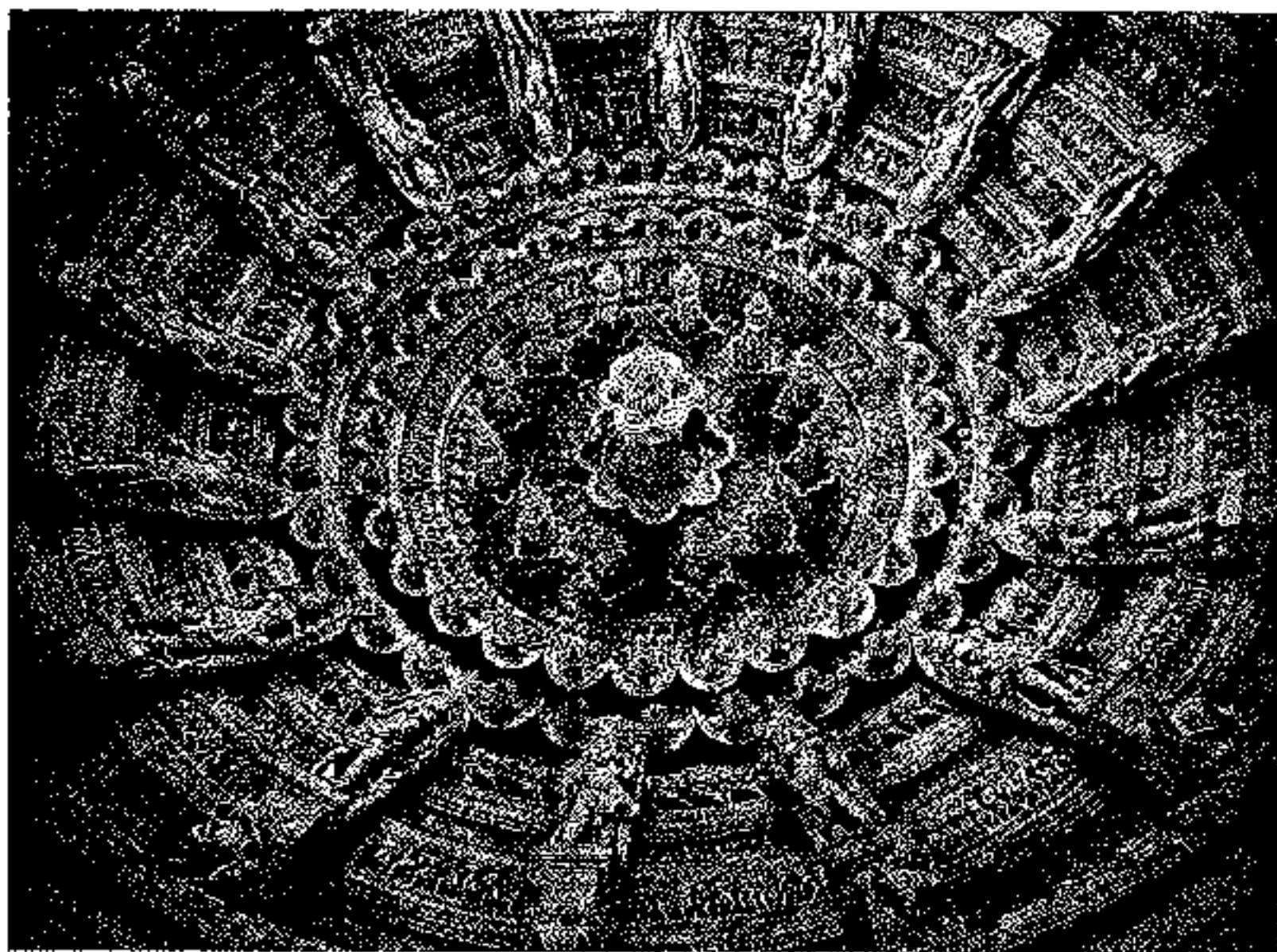
1. प्रशासन की दृष्टि से यद्यपि मात्राण्ड आबू अब राजस्थान में है तब्दि मंदिर-स्थापत्य की दृष्टि से वह गुजरात का ही भाग है।

नमूनों में से एक है। केवल उसके गर्भगृह, गूढ़-मण्डप और त्रिक-मण्डप (जिसे लोग नवचीकी कहते हैं) ही मूल भाग हैं। उसके शेष भाग बारहवीं शताब्दी में जोड़े गये हैं। उसके त्रिक-मण्डप का अत्यंत सुंदर अलंकरण किया गया है। इस मण्डप के स्तंभ मोडेरा स्थित सूर्य-मंदिर से बहुत मिलते हैं। यही स्थिति उसकी क्षिप्त-प्रकार की एक छत की है। उसके दो खट्टक गुजरात में अपने ढंग के सबसे प्राचीन खट्टक हैं।

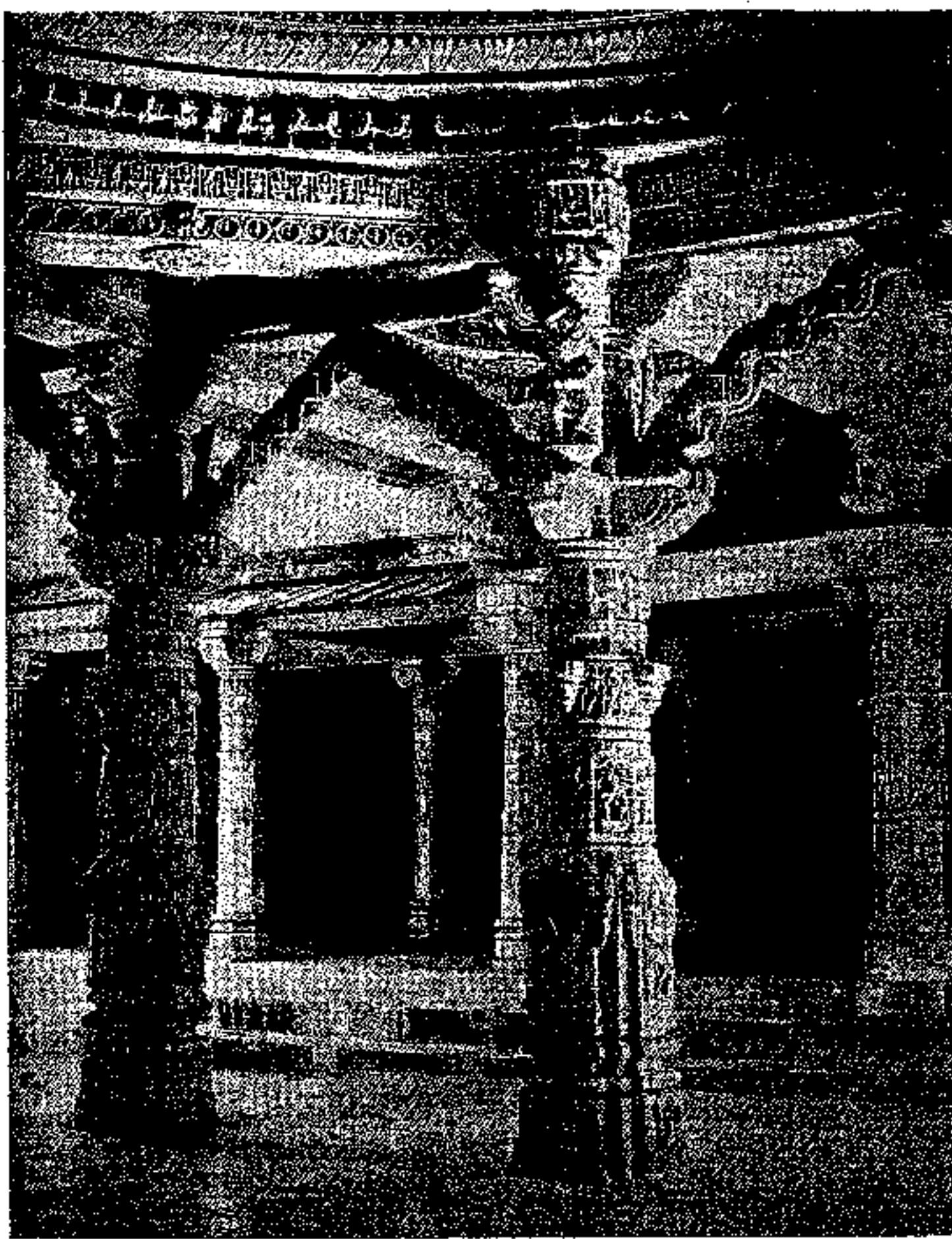
इसी शैली का एक और जैन मंदिर महावीर का संघमरमर-निर्मित मंदिर है जो १०६२ ई० में कुमरिया (प्राचीन आरासण) में बनाया गया था जहाँ एक शैव मंदिर के अतिरिक्त चार अन्य जैन मंदिर भी विद्यमान हैं। एक विस्तृत जगती पर निर्मित इस मंदिर में हैं—गर्भगृह, गूढ़-मण्डप, त्रिक-मण्डप, रंग-मण्डप जिसके दोनों ओर आठ देवकुलिकाएँ हैं और जिसके सामने तीन देवलियाँ तथा एक बलाणक हैं। ये सब एक प्राकार के भीतर हैं। जगती के पूर्वी सिरे पर एक छोटे आकार के समवसरण की रचना है जिसपर संवरण-छत है। गर्भगृह के ऊपर इकीस अण्डकों का एक सुंदर शिखर है। गूढ़-मण्डप संवरण-छत से युक्त है जो साठेर के शैव मंदिर से मिलती-जुलती है। मंदिर का भीतरी भाग बहुत सुंदर ढंग से अलंकृत है और अनुपात तथा संकल्पना-एकलत में आबू के विमल-मंदिर से भी बहु-चढ़कर है। त्रिक-मण्डप अपने अनुपात और सूक्ष्म सौंदर्य के कारण बेजोड़ है। उस की दो केंद्रीय छतें तो स्थापत्य की अनुपम कृतियाँ हैं।

कुमरिया स्थित शांतिनाथ-मंदिर, जिसे लगभग १०८२ ई० का कहा जा सकता है, के विव्यास और रचना में कुछ फेर-बदल के साथ महावीर-मंदिर का अनुकरण किया गया है। यह एक संपूर्ण चतुर्विशति जिनालय है, जिसमें पूर्व और पश्चिम, दोनों दिशाओं में आठ देवकुलिकाएँ हैं तथा रंग-मण्डप के प्रवेश-स्थल के दोनों ओर चार देवलियाँ हैं। महावीर-मंदिर से इसमें अंतर यह है कि उसका मंदिर में त्रिक में तीन चतुष्कथाँ और एक प्राम्भीक हैं जबकि इस मंदिर के त्रिक में छह चतुष्कथाँ हैं और इसके खट्टकों का बहुत सुंदर अलंकरण किया गया है। जगती के दक्षिण-पश्चिमी कोने में एक छोटा पूजास्थल है जिसमें चतुर्मुख नंदीश्वर-द्वीप की रचना है। गूढ़-मण्डप में महावीर के मंदिर की अपेक्षा सादी संवरणा है और उसमें अवशेषी फाँसना के चिह्न भी नहीं हैं।

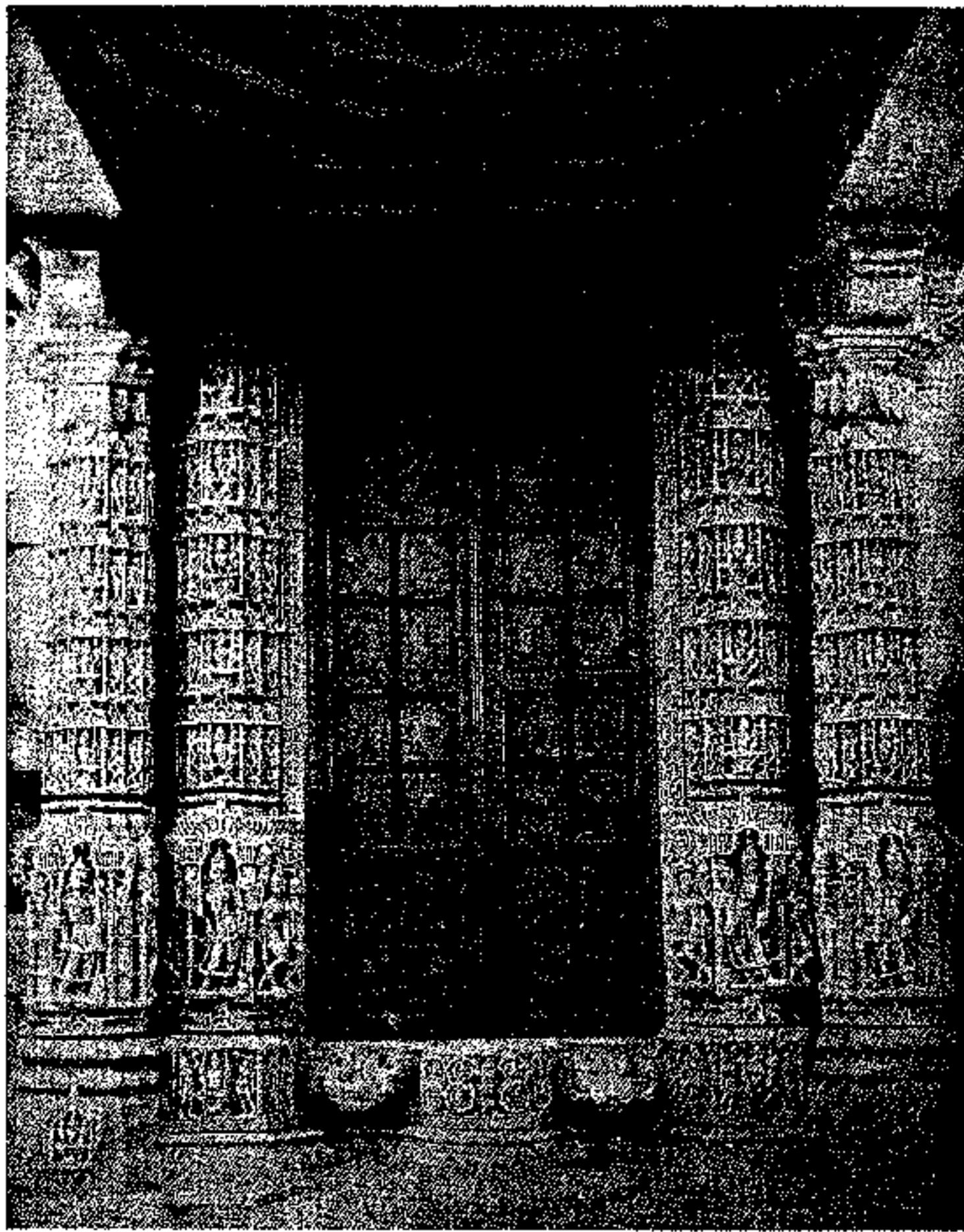
उच्चत मंदिर से परवर्ती काल का कुमरिया स्थित पार्श्वनाथ-मंदिर है जो कि सिद्धराज जय-सिंह (१०६४-११४४ ई०) के शासनकाल का है। यह महावीर और शांतिनाथ-मंदिरों की अपेक्षा कुछ बड़ा है। इसका मुख भी उत्तर की ओर है तथा उसमें रंग-मण्डप के पूर्व और पश्चिम में भी देवकुलिकाएँ हैं तथा इसी प्रकार प्रवेश-द्वार के दोनों ओर तीन देवकुलिकाएँ हैं। इस मंदिर में सोपान-मार्ग के ऊपर एक नाल-मण्डप है, जो बाद में जोड़ा गया है। इसमें रंग-मण्डप और त्रिक-मण्डप तथा बीच की दो देवकुलिकाओं के सामने के स्तंभों को बड़ी उत्तमतापूर्वक अलंकृत किया गया है। त्रिक-मण्डप का विव्यास महावीर-मंदिर जैसा ही है किन्तु उसके दो स्तंभ एक अति सुंदर तोरण को आधार देते हैं। इस मंदिर के सबसे प्राचीन शिलालेख के आधार पर इस मंदिर का काल ११०५ ई० निर्धारित किया जा सकता है।



पाताल ग्रादू --- लिमल-कसही मंदिर, रंग-मण्डप की छत



भारण्ट श्रावू — विमल-क्षेत्री मंदिर, रमेश्वरम के सर्वशो पर हीरंग



नाउण्ट अट्टू — विमल-वेसही मंदिर का एक प्रवेशद्वार



(क) माउण्ट आबू — विमल-कसही मंदिर, मुखमण्डप  
की छत में कालिया-दग्धन



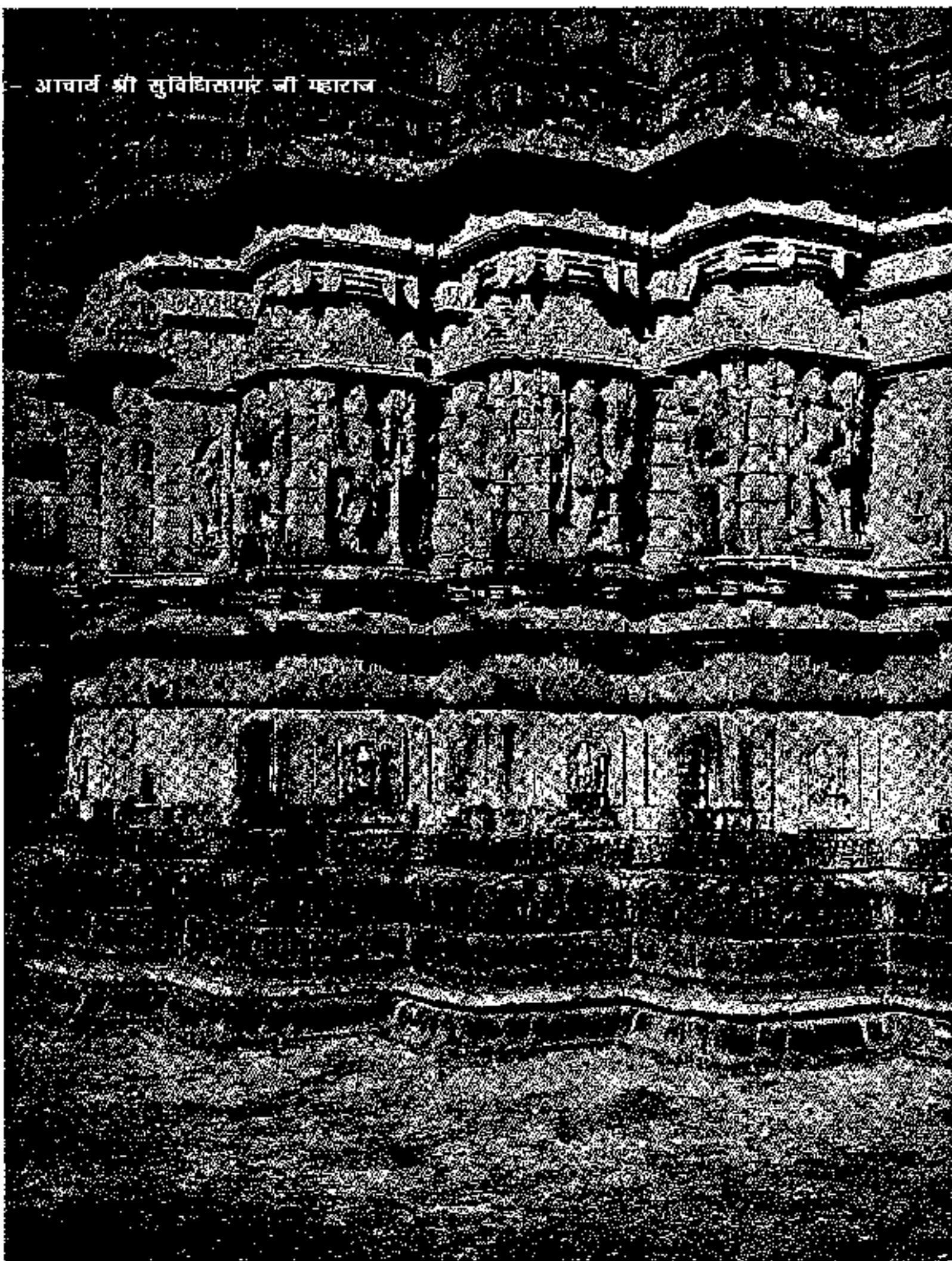
(ख) माउण्ट आबू — विमल-कसही मंदिर, मुखमण्डप  
की छत में नरसिंह



(क) माउण्ट आबू — विमल-बलजी मंदिर, महेश्वर की स्तुपी पर यथी अविका



(ख) माउण्ट आबू — विमल-बलजी मंदिर, रंगमण्डप की स्तुपी पर यथी मूर्ति

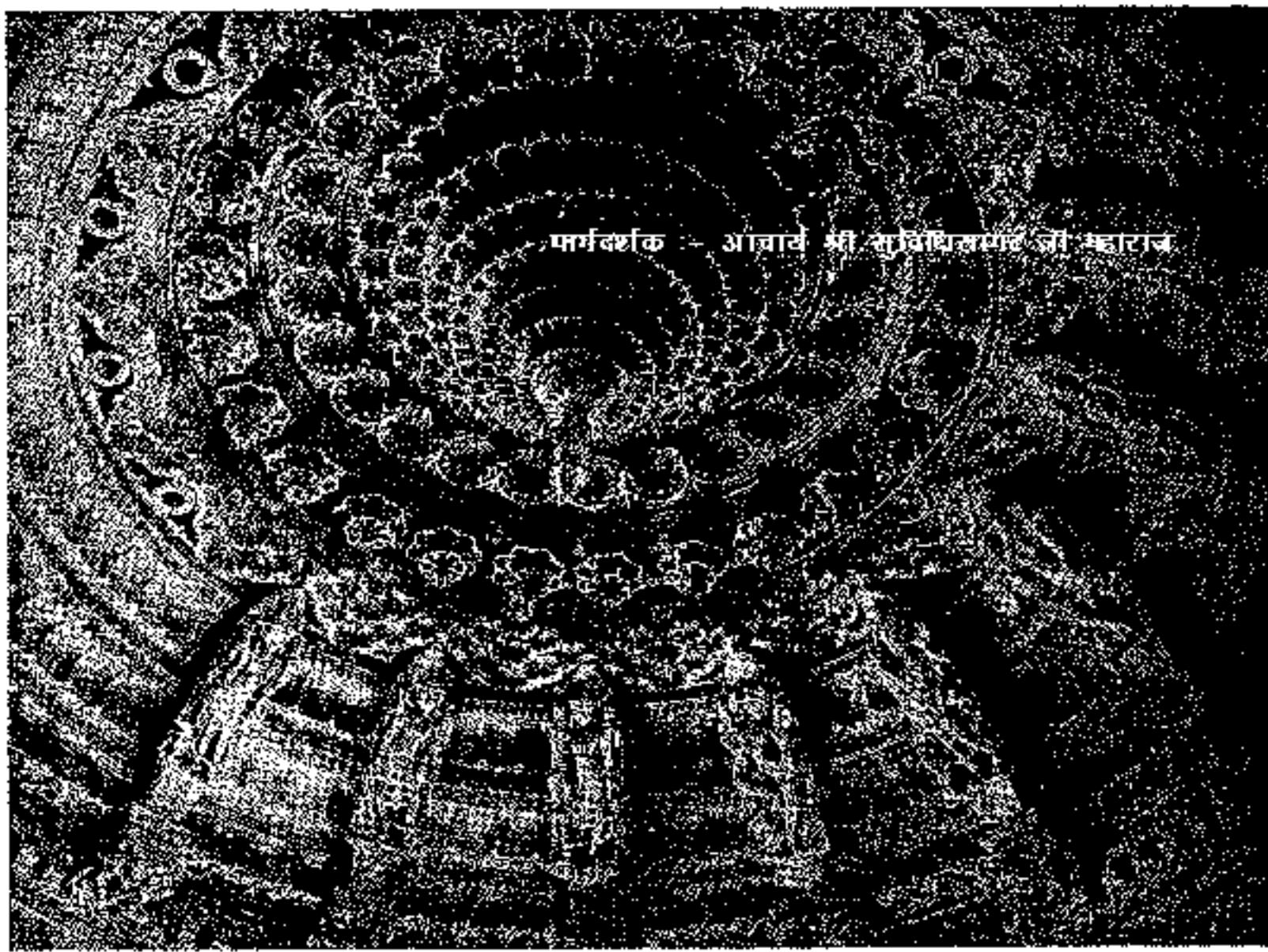


कुमारिचा — नेविलाशन-दिव, वहिर्भग का आधिक दृश्य

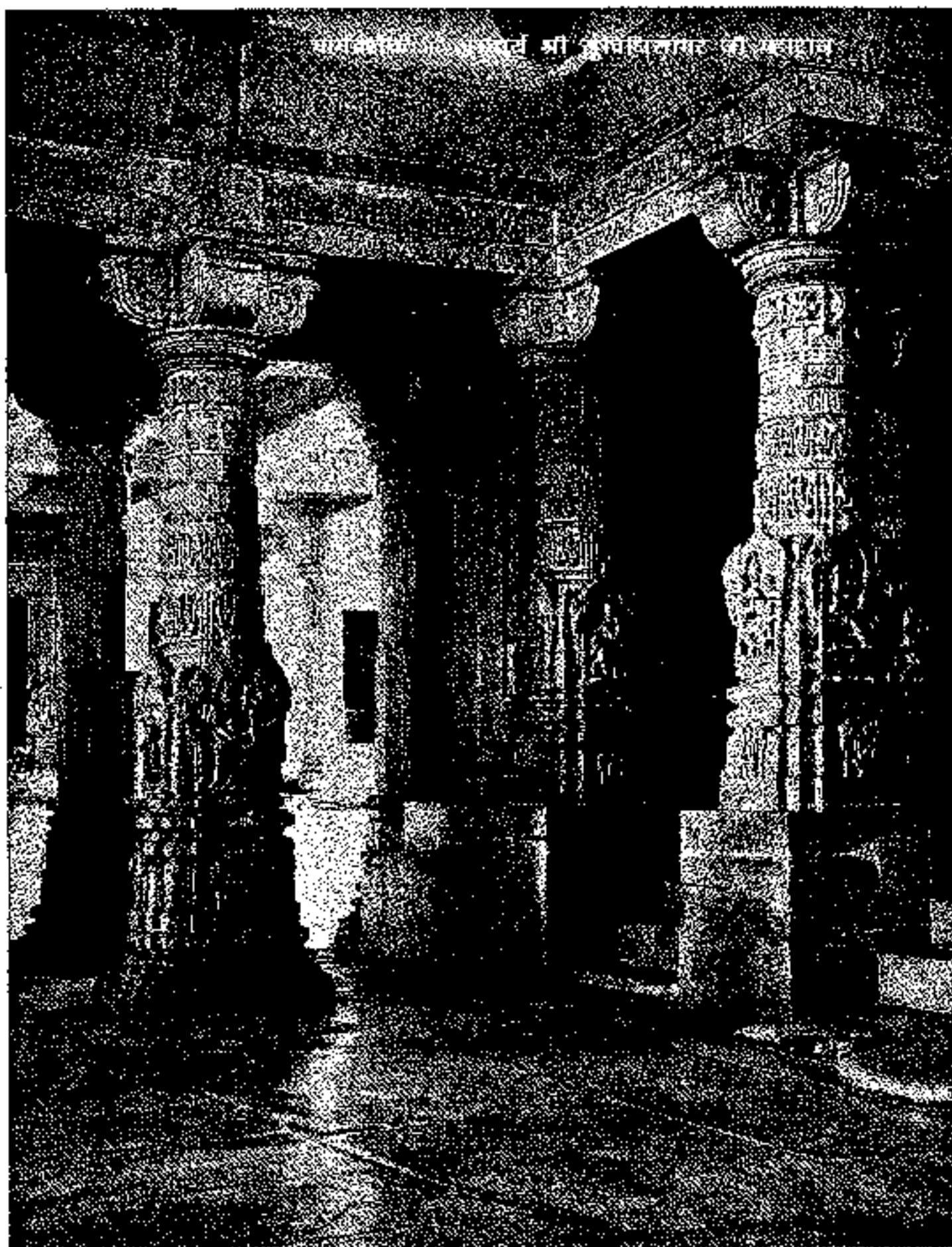


राक्ष — आचार्य शुविद्विजागर जी महाराज

मातृष्ट शावु — विध्वंसही अंदिर, मुखमण्डप



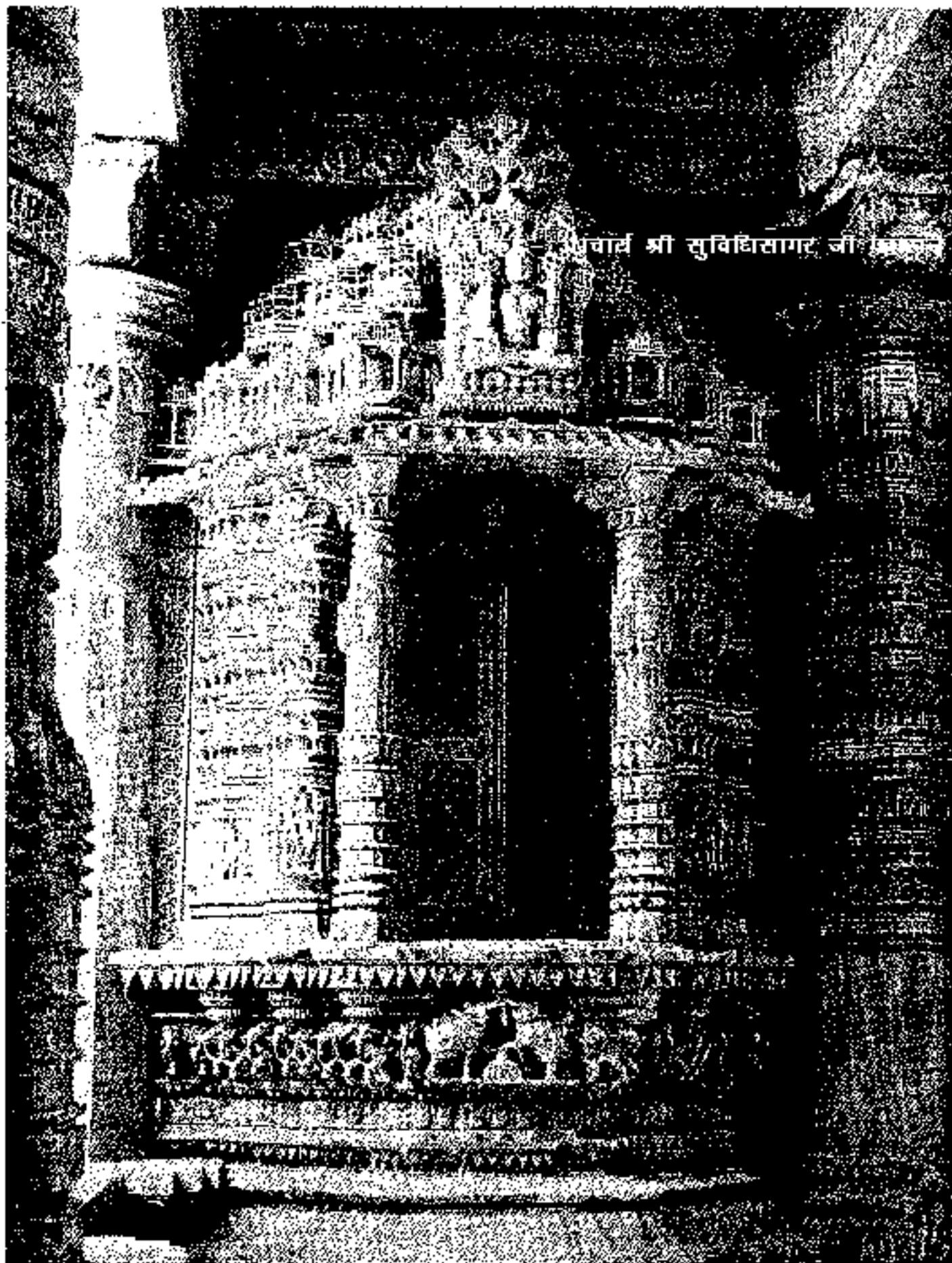
माउण्ट आबू — लूण-वस्त्रही मंदिर, रेखमण्डप की छत



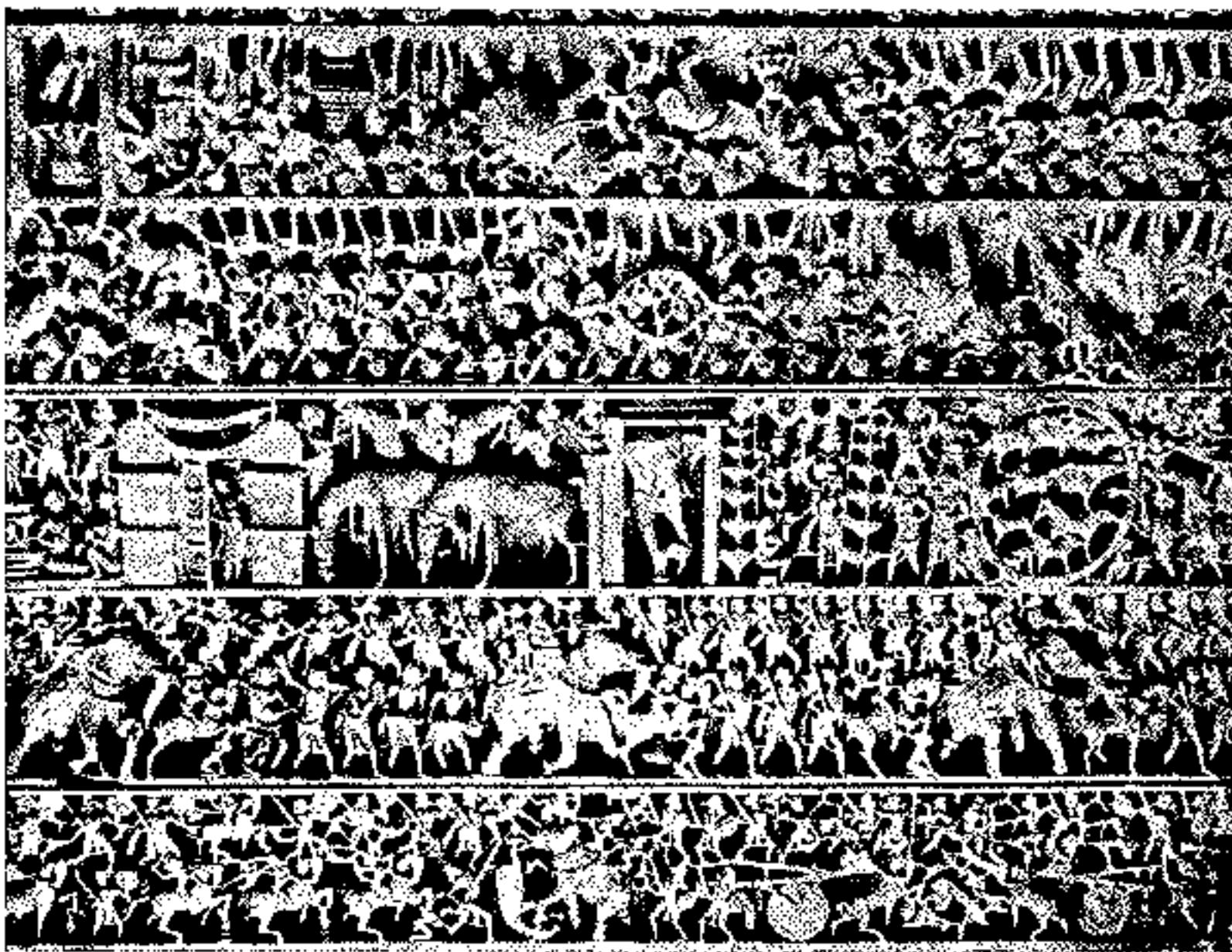
माउण्ड आरू — सूर्य-वसही मंदिर, नवजौकी के स्तंभ

वास्तु-स्मारक एवं सूर्तिकला 1000 से 1300 ई०

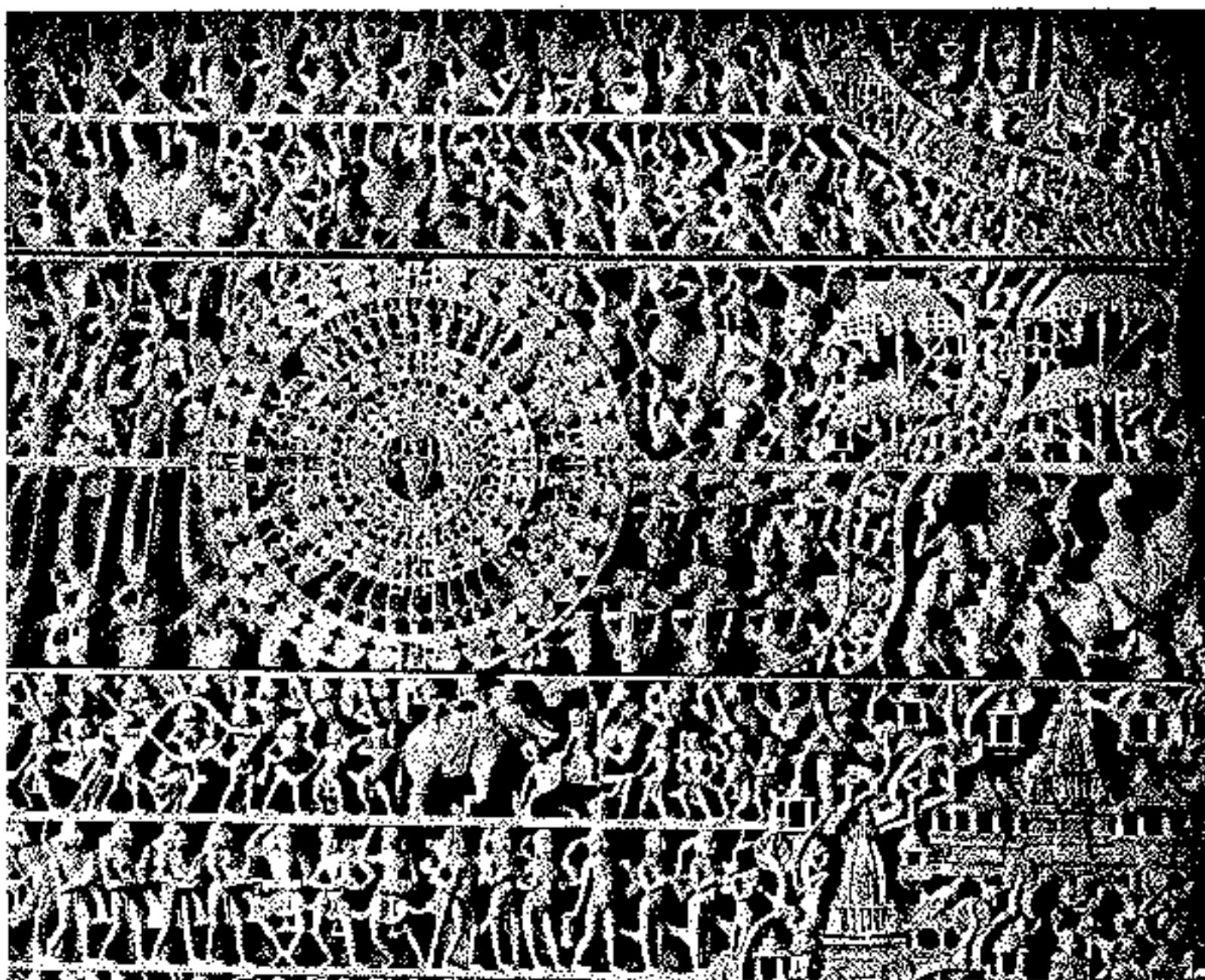
[ भाग 5



भाडण्ट आबू — लूण-वरही मंदिर, लाझा



भाऊङ आवू — खुण्ड-वस्त्री मंदिर, कीषि की चत पर अरिष्टनेनि के जीवन के दृश्यांकन



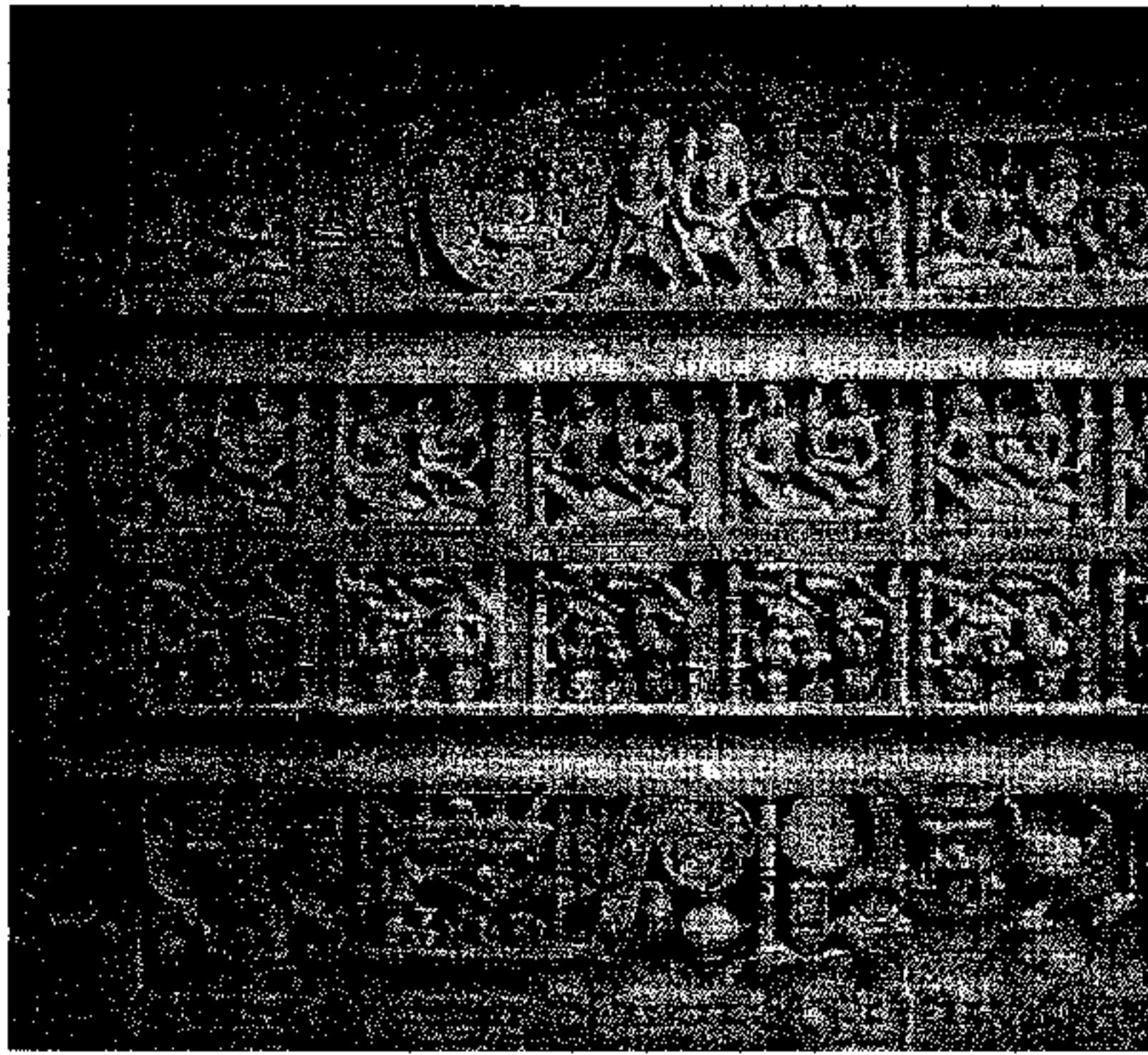
गरुड़ आबू — लूण-कस्तही मंदिर, वीथि की छत पर समवसरण, शारिका तथा  
गिरन्तर लीर्य के दर्शकिन



(क) माउण्ट ज़ाबू — विस्त-वस्त्री मंदिर, सभा-मण्डप  
की छत पर विद्यादेवी मण्डनी



(ख) माउण्ट ज़ाबू — विमल-वस्त्री मंदिर, सभा-मण्डप की छत  
पर विद्यादेवी महागत्पत्नी



कुम्भारिया — महावीर-मंदिर, शीर्षकरों के भाता-पिता और पार्वदेवता के जीवन-दृश्य



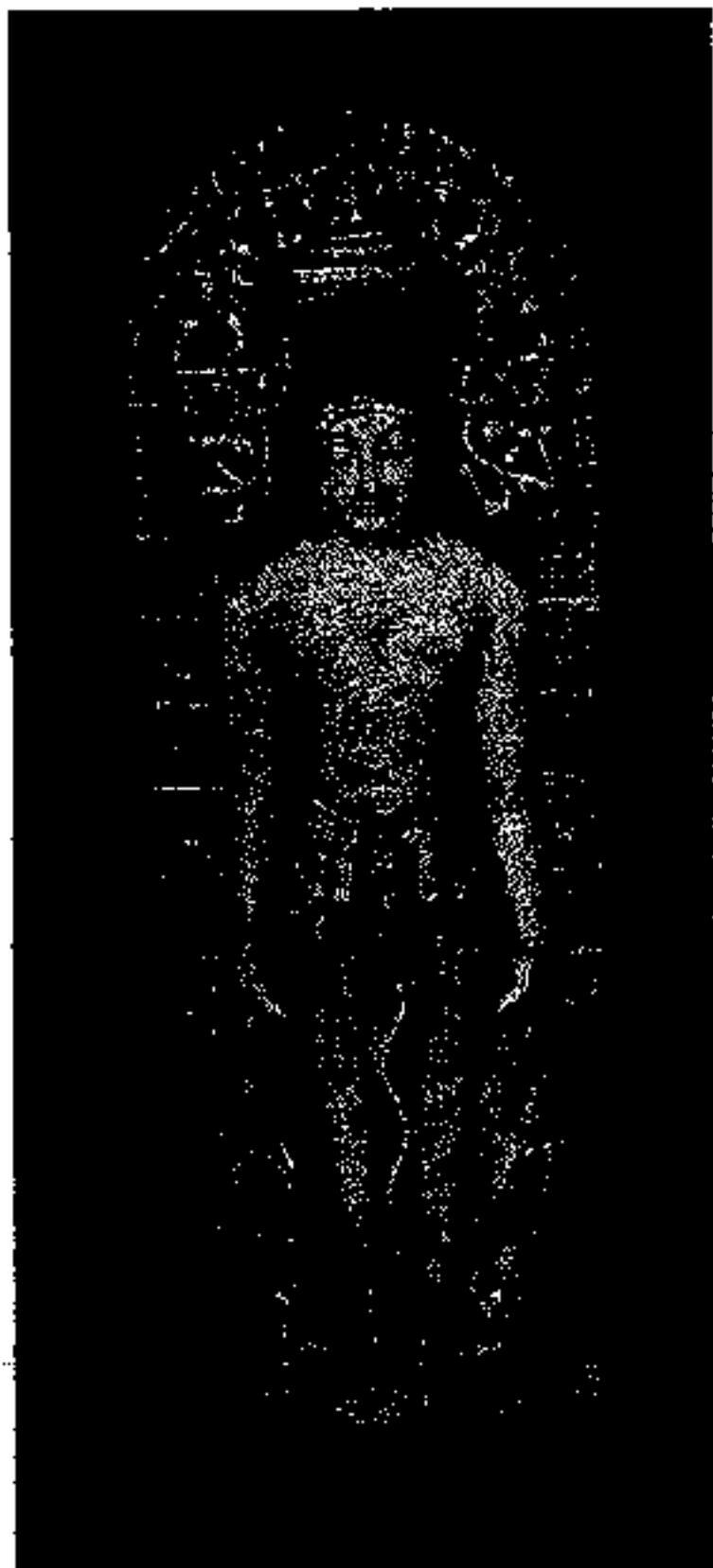
पार्गदर्शक — आचार्य श्री सुभिष्मिसागर जी महाराज

साउण्ट श्रावू — दिमल-बसही मंदिर, एक छत पर महाविद्वा बजानुषी का शंकन

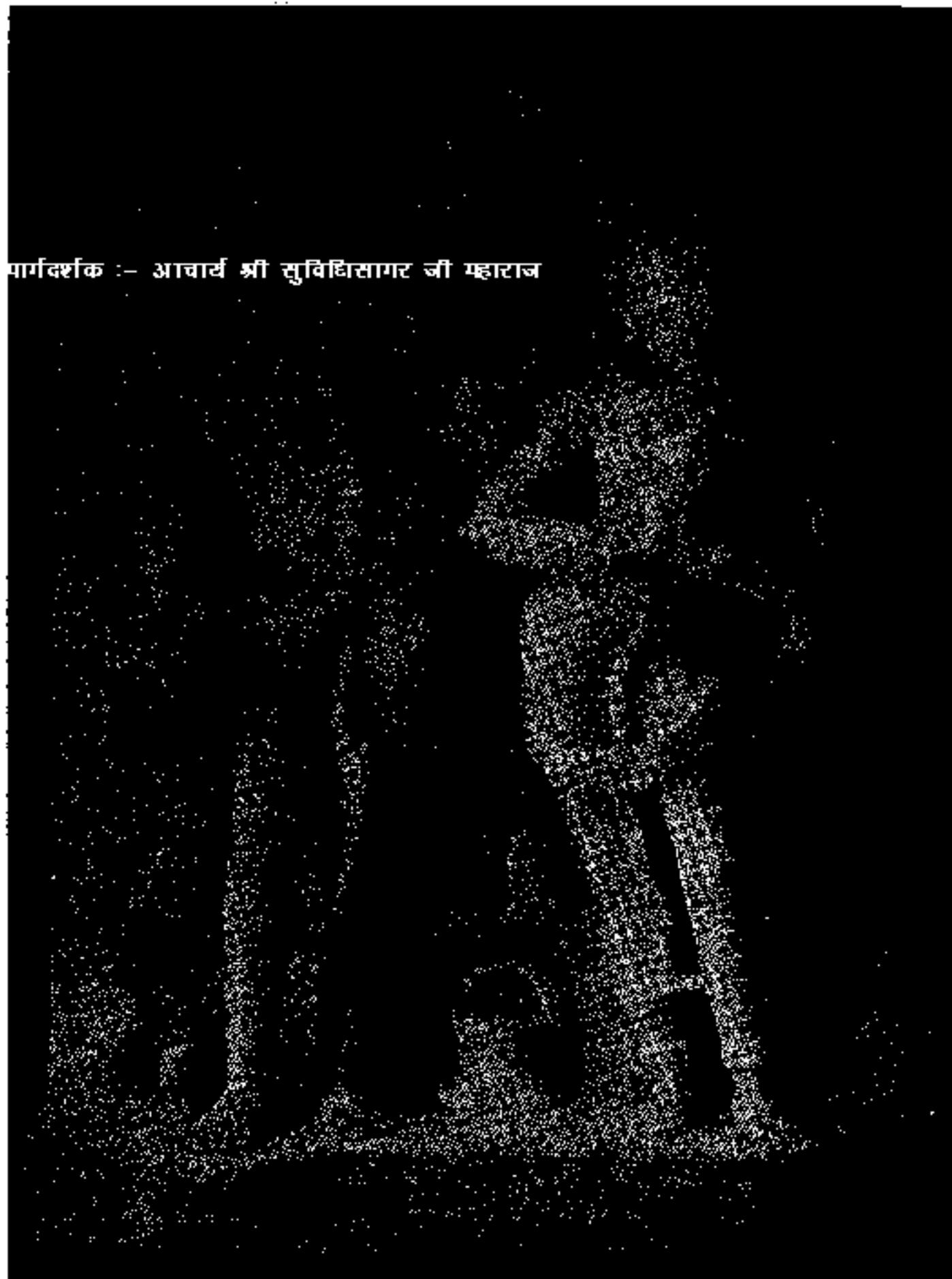


चार्य श्री सुविधासागर जी महाराज

(क) माउण्ट आबू — विमल-कसही मंदिर, ब्रह्मरत्न मूर्ति



(ख) डरावन — हीराकुर मूर्ति (प्रिया अर्पण चेल्स संग्रहालय)



पार्दिशक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समाज — एक हाती-दमति

वास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला 1000 से 1300 ई०

भाग 5



वरायन — सालडेश



माउण्ट अबू — लूण-वस्त्री मंदिर, हरिहरसागर में खस्तुपाल श्रीर उसकी पत्निदो



धाद — तीर्थकर की कांस्य-सूर्ति

सन् १११६ में दण्डनायक कपर्दिन ने पाटन में एक जैन मंदिर का निर्माण कराया। उसके मंत्री उदयन ने सीमंघर का एक मंदिर धोलका में बनवाया था जिसकी प्रतिष्ठा वादिदेव-सूरि ने की थी। उदयन ने खंभात में उदयन-विहार का भी निर्माण कराया था। श्रेष्ठी धवल ने भी धोलका में ११३७ ईसवी में मुनि-सुवत-मंदिर बनवाया था।

हेमचंद्र के द्वयाश्रय-काव्य में यह वर्णित है कि सिद्धराज नरेश ने सिद्धपुर में महावीर के एक मंदिर का निर्माण कराया था जिसका उल्लेख सोमप्रभाचार्य के कुमारपाल-प्रतिष्ठोध में सिद्ध-विहार के रूप में हुआ है। सन् ११४२ में वादिदेव-सूरि द्वारा प्रतिष्ठित यह मंदिर एक चतुर्मुख मंदिर था जो राय-विहार के नाम से भी प्रसिद्ध था तथा वही आगे चलकर रणकपुर के प्रसिद्ध धरणी-विहार के लिए अनुकरण की वस्तु बना।

सिद्धराज के शासनकाल के उत्तरार्द्ध में निर्मित कुभरिया स्थित नेमिनाथ-मंदिर में पूर्णतः अलंकृत तलघर और जंधा हैं (चित्र १८६)। त्रिक-मण्डप, जिसमें दस चतुष्किंचित् और तीन सोषान-कम हैं, आबू के नमूनों से मिलता-जुलता है। रंग-मण्डप में दो तले हैं और उसके अनुपात आकर्षक हैं। रंग-मण्डप, त्रिक-मण्डप और नाल-मण्डप के स्तंभ बहुत अलंकृत हैं और वे आबू स्थित विमल-वसही के रंग-मण्डप के स्तंभों-जैसे हैं।

सिद्धराज के शासनकाल के उत्तरार्द्ध में निर्मित सेजफ़पुर स्थित एक छोटी-सा जैन मंदिर, जिसमें गर्भगृह, गूढ़-मण्डप और त्रिक-मण्डप थे, एक अलंकृत और सुंदर अनुपात में निर्मित भवन था किन्तु हाल ही के वर्षों में वह लगभग ध्वस्त हो गया है।

दण्डनायक सज्जन द्वारा बनाया गया गिरनार पर्वत पर स्थित नेमिनाथ-मंदिर भी इसी काल का एक सांधार-प्रासाद है जिसमें छज्जा-युक्त जालीदार लिङ्कियाँ हैं। उसके तलघर में कुछ ही सज्जा-वस्तुएँ हैं और मंदिर के आकार को देखते हुए उसकी जंधा भी बहुत छोटी है। गूढ़-मण्डप देवालय से थोड़ा बड़ा है किन्तु देवालय का पलस्तर बहुत निम्न कोटि का है, उसके त्रिक-मण्डप के स्थान से आगे चलकर एक मण्डप बनाया गया है, जिसके द्वार-मार्ग छोटे हैं।

सिद्धराज का उत्तराधिकारी राजा कुमारपाल (११४४-७४ ई०) मंदिर-निर्माता के रूप में सिद्धराज से भी आगे निकल गया। उसने अनेक जैन और ब्राह्मण्य मंदिरों का निर्माण कराया। कहा जाता है कि उसने अपने विगत जीवन में मांसाहारी रहने, जिसमें प्राणियों का वध भी होता था, के पश्चात्ताप के रूप में बत्तीस जैन मंदिरों का निर्माण करवाया था। पाटन में उसने पाश्चनाथ-अधिष्ठित, चौदीस देवकुलिकाओं से युक्त कुमार-विहार का निर्माण कराया। उसने गिरनार, शत्रुजय, प्रभास, आबू और खंभात-जैसे पवित्र स्थानों तथा घरड़, ईदर, जालीर, दीव तथा मंगरील-जैसे नगरों में कुमार-विहार बनवाये। उसने ११६० ई० में अपने पिता विभुवनपाल की स्मृति में विभुवन-विहार का निर्माण कराया और उसमें नेमिनाथ की प्रतिमा स्थापित करायी, जिसमें बहतर देवकुलिकाएँ

और एक श्री-विहार था। अपने गुरु हेमचंद्र के जन्मस्थान घंडुका में उसने ११६३ ई० में खोलिका-विहार का निर्माण कराया।

उक्त राजा के जैन भंत्रियों ने जो मंदिर बनवाये, उनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—आबू पर्वत पर विमल-वसही के सामने पृथ्वीपाल द्वारा निर्मित मण्डप तथा पाटन का वनराज-विहार एवं कवि श्रीपाल के पुत्र सिद्धपाल द्वारा पाटन में निर्मित सिद्धपाल-वसती। भंत्री अमरभट्ट ने ११६६ ई० में भड़ीच के प्राचीन शकुनिका-विहार के स्थान पर एक सुंदर नया मंदिर बनवा दिया जिस प्रकार उसके भाई वामभट्ट ने ११५५-५७ ई० में शत्रुंजय स्थित एक प्राचीन आदिनाथ-मंदिर के स्थान पर नया मंदिर बनवाया था।

कुमारपाल के शासनकाल के जैन भवनों में सबसे गौरवशूण्ण स्थान उस नृत्य-मण्डप को प्राप्त है जिसे भंत्री पृथ्वीपाल ने लगभग ११५० ई० में आबू पर्वत पर स्थित विमल-वसही में जोड़ा था। मण्डप को जोड़नेवाले शलियारे की कुछ छतें तो सचमुच ही स्थापत्य की सर्वोल्हष्ट कृतियाँ हैं। मण्डप के बीच की छत, जिसका व्यास ७ मीटर से कुछ अधिक है, गुजरात में इस तरह की बड़ी छतों में सबसे बड़ी है किन्तु उसका मध्य लोलक (पद्मशिला) अनुपात में कुछ छोटा है; यद्यपि कलाकारिता और सौंदर्य में अप्रतिम है। इसी प्रकार, इस भव्य छत को अवलंब देनेवाले अत्यधिक अलंकृत स्तंभ ३ से १ मीटर तक छोटे हैं, जिसके कारण इस सुंदर छत का समग्र प्रभाव अच्छा नहीं पड़ता।

वैसे तो कुमारपाल द्वारा निर्मित अविकाश मंदिर था तो नष्ट हो गये या क्षतिग्रस्त हो गये हैं, किन्तु फिर भी उसके द्वारा निर्मित सबसे बड़ा भवन अर्थात् तारंग का ११६५ ई० में बनाया गया अजितनाथ-मंदिर आज भी विद्यमान है। वह सांधार-प्रकार का एक मेरु-आसाद है, जिसमें प्रदक्षिणा-पथ-युक्त एक गर्भगृह और छञ्जा-युक्त जालीदार तीन खिड़कियाँ हैं, किन्तु उसके पहले गूढ़-मण्डप बना हुआ है। इस विशाल मण्डप के केंद्रीय अष्टकोण के स्तंभ ऊंचे हैं और अलंकृत छत को अवलंब देते हैं। इस छत का व्यास लगभग ८ मीटर है और उसके बीच में एक विशाल लोलक है। इतना बड़ा आकार होने पर भी, यह भवन शोभाहीन लगता है। वह अनाकर्षक है, क्योंकि उसका अनुपात ठीक नहीं है, और उसके विभिन्न भागों में असंतुलन है। उसका तलघर उसकी कुल ऊँचाई को देखते हुए बहुत छोटा है, जबकि उसके सभी स्तंभ, विशेष रूप से उसके विशाल मण्डप के स्तंभ, ऊंचे और सांई हैं। इस कारण उसका ढाँचा अनाकर्षक हो जाता है। इसके अतिरिक्त उसके भद्र-छञ्जे यथेष्ट चौड़े हैं, जबकि उसकी संवरण-छत के घटे ठीक अनुपात में न होने के कारण छोटे लगते हैं।

बुमली का पाद्मनाथ-मंदिर, जिसका अब केवल मण्डप ही शेष रह गया है, शैली की बूँदि से इसी स्थान के अधिक विख्यात नवलखा-मंदिर-जैसा है और उक्त मंदिर की ही भौति बारहवीं शताब्दी के अंतिम भाग का है।

सन् १२२० के आसपास, राजनीतिक सत्ता वस्तुतः श्रीसुक्यों से बघेलों के हाथों में चली गयी। बघेलों के मंत्री वस्तुपाल और तेजपाल भारतीय कला के इतिहास में महानतम निर्माता थे। इन दो प्रसिद्ध बंधुओं ने पचास से भी अधिक मंदिरों का निर्माण कराया और उनके द्वारा जीर्णोद्धार कराये गये या नवीन रूप प्रदान किये गये मंदिरों की संख्या तो आश्चर्यजनक है। वस्तुपाल ने गिरनार पर्वत पर वस्तुपाल-विहार और पाश्वनाथ-मंदिर, शत्रुंजय पर इन्द्र-मण्डप और छह अन्य मंदिर, ढोलका में आदिनाथ-मंदिर और प्रभास में अष्टापद-प्रासाद का निर्माण कराया था। उसके भाई तेजपाल ने पाटन और जूनागढ़ में आसराज-विहार, ढोलका में नेमिनाथ-मंदिर, प्रभास में आदिनाथ-मंदिर तथा अपनी माता के पुण्याञ्जन के लिए खंभात और दमोह में भव्य मंदिरों का निर्माण कराया। आबू पर्वत पर प्रसिद्ध नेमिनाथ-मंदिर बनवाने के अतिरिक्त उसने घंटड, कण्विती, गोधरा, पावागढ़ तथा नवसारी में मंदिर बनवाये। किन्तु इन महान् निर्माताओं के बहुत कम मंदिर इस समय बचे रहे गये हैं। गिरनार स्थित वस्तुपाल-विहार (१२३१ ई०) का पार्श्विक गूढ़-मण्डप, जिसमें सम्मेदशिखर और अष्टापद की रथना है, विन्यास और वाहरी सज्जा की दृष्टि से सचमुच ही भव्य है; यद्यपि उसकी अनेक छतें नष्ट हो चुकी हैं और मण्डपों की भीतरी छतों का पंद्रहवीं शताब्दी में जीर्णोद्धार हुआ है।

सन् १२३१ में आबू पर्वत पर तेजपाल द्वारा बनवाया गया नेमिनाथ का संगमरमर का प्रसिद्ध मंदिर, जो लूण-वसही (चित्र १६०—१६४) के नाम से अधिक विख्यात है, वस्तुतः अधिक शुरक्षित रह सका है। विमल-वसही के समान उसके गर्भगृह और गूढ़-मण्डप सादे हैं और उन पर फांसना-छतें हैं। नृत्य-मण्डप की सपोकार बंदनभालिकाएँ तथा अत्यंत मनोरम पद्मशिला से युक्त उसकी छत सर्वांगिक प्रभावकारी है। शिक के होनों खट्टक भी भव्य हैं तथा अलंकरण की उत्कृष्टता जताते हैं।

सन् १२३१ में ही निर्मित कुभरिया स्थित संभवनाथ-मंदिर अपेक्षाकृत साधारण है तथा उसमें परिवेष्टनकारी देवकुलिकाएँ नहीं हैं। इस मंदिर में एक गर्भगृह, पार्श्विक प्रवेशमार्ग-युक्त गूढ़-मण्डप, और एक सभा-मण्डप एक प्राकार में हैं। उसके शिखर पर जालियों का अलंकरण तथा गूढ़-मण्डप—जिस पर आबू स्थित तेजपाल-मंदिर-जैसे शिखरों और मण्डपों के रूपांकन हैं—का द्वार-मार्ग उसके समय और शैली का आभास दे देते हैं।

संरोता स्थित संगमरमर का जैन मंदिर जिसमें गर्भगृह, गूढ़-मण्डप तथा बाबन देव-कुलिकाएँ हैं, तेरहवीं शताब्दी के प्रथम अर्धभाग के एक सुनियोजित जैन मंदिर का सर्वोत्तम उदाहरण है।

तेजपाल और वस्तुपाल द्वारा डाक्ती गयी परोपकारपूर्ण परंपराओं को अगली पीढ़ी में भद्रावती के जगद्गुरु तथा माण्डु के पेठड़ ने बनाये रखा। अनेक जैन और ब्राह्मण मंदिरों को

नवीन रूप प्रदान करने के अतिरिक्त, जगदूशा ने वे मंदिर बनवाये : हाँका में एक मंदिर ऋषभनाथ का, चौथीस देवकुलिकाओं युक्त एक मंदिर बढवान में, शार्वजय पर एक मंदिर, और बावत देवकुलिकाओं से युक्त एक मंदिर सेवडी ( १२५०-७० ई० ) में ।

माघु के पेठड़ को वह श्रेय दिया जाता है कि उसने भहस्वपूर्ण जैन कोद्दों में, जिनमें शार्वजय, प्रभास, ढोलका और सलक्षणपुर भी सम्मिलित हैं, सन् १२६४ के आसपास चौरासी जैन मंदिरों का निर्माण कराया था ।

जैन समाज ने चौलुक्य कला और स्थापत्य की उन्नति में जो योगदान किया उसकी अतिरंजना नहीं की जा सकती । इस समय जो चौलुक्यकालीन मंदिर विद्वान हैं उनमें से लगभग चालीस प्रतिशत जैन धर्मविलंबियों के हैं और उनमें भी स्थापत्य की दृष्टि से विशाल आकार के कम से कम साठ प्रतिशत मंदिर जैन संरक्षण के परिणाम हैं । पश्चिम भारत में साहित्य और संस्कृति का सामान्य रूप से और निर्माण-कला का किशेष रूप से जो प्रघुर विकास हुआ उसका अधिकांश श्रेय जैन मुनियों के निःस्वार्थ एवं प्रेरक नेतृत्व और जैन व्यवसायियों तथा उन दानवीरों के उदार संरक्षण को है जिनमें कस्तुपाल, तेजपाल, जगदूशा तथा पेठड़-जैसे प्रसिद्ध पुरुषों की गणना होती है । राजनीतिक स्वाधीनता नहीं रह जाने और उसके परिणामस्वरूप राज्य का संरक्षण नहीं मिल पाने पर भी यदि चौलुक्य-कला और स्थापत्य का ह्वास नहीं हुआ तो इसका अधिकांश श्रेय उस जैन समाज को मिलना चाहिए जिसने इस ज्योति को प्रज्ज्वलित रखा और उदारतापूर्वक मूलिकारों, चित्रकारों तथा वास्तुकारों को संरक्षण प्रदान किया एवं उन्हें भव्य और पवित्र निर्माण-कार्यों में लगाये रखा । ऐसे निर्माण-कार्यों में से एक उदाहरण रणकपुर<sup>1</sup> स्थित वह धरणी-विहार है जिसका निर्माण बाद में १४३६ ई० में हुआ था और जो चौलुक्य-निर्माण-शैली की श्रेष्ठता और उत्कृष्टता का एक तरह से सार ही है ।

### कृष्णकेव

1 [देखिए अध्याय 28—संपादक.]

2 [सन् 1000 से 1300 ई० (अध्याय 22) की अवधि में भव्य भारत की स्थिति के द्वनुरूप ही, लेखक ने इस अध्याय में अपने विषय को चौलुक्य-शैली के मंदिरों तक ही सीमित रखा है । शारदाड़ क्षेत्र के जैन मंदिरों के लिए देखिए—एम. ए. डाकी, 'असौ जैन टेम्पल्स इन वेस्टन इण्डिया', गोहड़ेन चुकिली बॉल्डूम, और महावीर जैन विद्वानाय, साप्त ।, वंकई, 1968, जिसमें निम्नलिखित मंदिरों का बहुत अच्छा विवेचन किया गया है; ओसिया-बनेराजी (दोनों के लिए देखिए अध्याय 17) और वर्मन स्थित महावीर-मंदिर, पाटिल का नवसला पार्श्वनाथ-मंदिर, सेवडी स्थित महावीर का मंदिर, नद्दाइ का आदिनाथ-मंदिर, सावडी का पार्श्वनाथ-मंदिर तथा नादोल—प्राचीन नदुल, जहाँ वाहमान-वंक की एक शाखा की राजधानी थी—का मंदिर-समूह । इन सभी को डाकी ने माह-गुर्जर शैली का बताया है । इनमें से कुछ मंदिरों एवं कुछ अन्य मंदिरों का संक्षिप्त विवरण प्रोफेसर रिपोर्ट्स ऑफ़ वि. आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया, 1908-09, तथा उससे आगे की रिपोर्टों में भी दिया गया है—संपादक.]

### मूर्तिकला

जैन मूर्तिकला के विकास-क्रम में चौलुक्य-युग सर्वाधिक उन्नति का युग है। जैन संरक्षण में कला और स्थापत्य की कुछ सर्वोत्कृष्ट एवं अनुपम कृतियों के निर्माण के लिए भी वह प्रसिद्ध है।

उक्त युग से पहले, छठी शताब्दी के लगभग मध्य भाग से, तीर्थकर-प्रतिमा के पादपीठ पर था उसके पास एक शासनदेवता-युगल (यक्ष और यक्षिणी) का अंकन प्रारंभ हो गया था। इस युगल में दो भूजाओंवाला कुबेर-जैसा यक्ष होता था जिसे सर्वनिभूति या सर्वाङ्ग कहा जाता था। उसके हाथों में एक बिजौरा द्वारा रूपयों की ईली अंकित गई जाती थी। दो हाथोंवाली यक्षिणी अंबिका के दाहिने हाथ में सामान्यतः आम्रगुच्छ होता था और वह अपने बायें हाथ से अपनी बायीं घोद के एक शिशु को सँभाले हुए होती थी। यह युगल सभी चौबीसों तीर्थकरों की प्रतिमाओं के साथ अंकित किया जाता था। आगे चलकर, संभवतः दसवीं शताब्दी के अंत में, पश्चिम भारत के जैन मंदिरों में प्रत्येक तीर्थकर के अलग-अलग शासनदेवता अंकित किये जाने लगे, जिनकी सूची श्रिष्ठिं-शालाका-पुरुष-चरित, निवाण-कलिका, अभिधान-चितामणि आदि में उपलब्ध होती है। किन्तु पूर्वोक्त युगल का चित्रण भी बहुत समय तक होता रहा जैसा कि आबू पर्वत पर स्थित विमल-वसही की कुछ देवकुलिकाओं तथा कुभरिया स्थित मंदिरों से स्पष्ट है। पूर्वकाल की दो भूजाओंवाली अंबिका के दो हाथ और अंकित किये गये जिसमें उसे आम्रगुच्छ लिये हुए दरखाया गया। जो भी हो इसमें अधिक महत्व की बात यह है कि मंदिरों की दीवारों पर दिवपाल की आकृतियों के अंकन का चलन अधिक हो गया और ब्राह्मण प्रभाव के फलस्वरूप विमल-वसही की भ्रमती की छतों पर सप्तमस्तृका-आकृतियों का अंकन प्रारंभ हुआ। मंदिर के इन भागों का समय बारहवीं शताब्दी और कुछ का तेरहवीं शताब्दी भी है।

स्तंभों तथा मुख्य देवालय के गर्भगृहों के द्वारों की चौखटों और भ्रमतियों की देवकुलिकाओं या कोष्ठों का अलंकरण यक्षिणियों, विद्यादेवियों आदि के अंकन द्वारा किया गया। विद्यादेवियों के अंकन का चलन अब भी अधिक था किन्तु बड़े-बड़े मंदिरों को छोड़कर अन्य मंदिरों में उनका अंकन इस अवधि के अंत में कम हो गया। सौभाग्य से, सोलह महादेवियों का पूरा समूह (तुलना कीजिए—मानवी और महामानसी, चित्र ११५ क और ख) अब हमें विमल-वसही के रंग-मण्डप में प्राप्त है जिसका कुमारपाल के मंत्री पृथ्वीपाल ने कुमारपाल के शासन के पूर्वभाग में पूर्ण जीर्णोद्धार कराया था। इनके अतिरिक्त, इस मण्डप में ब्रह्म-शांति यक्ष और शूलपाणि (कम्हिन ?) की मूर्तियाँ हैं। इसमें संदेह नहीं कि ये ब्राह्मण्य मूल की हैं। ये मूर्तियाँ जैन देवकुल में ब्राह्मण्य देवी-देवताओं को गौण स्थिति में अंकित करने के प्रयत्न हैं। जैन पुराण साहित्य की वृद्धि हो रही थी और परिवर्तित जैन परिस्थितियों में ब्राह्मण्य आख्यानों का प्रारंभ किया गया था। इस प्रकार के उदाहरण हैं—आबू पर्वत पर विमलशाह और वस्तुपाल-तेजपाल द्वारा निर्मित मंदिरों की भ्रमतियों की छतों पर हिरण्यकश्यप का बब करते हुए नृसिंह की मूर्ति तथा कृष्ण के जीवन की कल्पियाँ (चित्र १८६ क और ख)।

उपर्युक्त से भी महत्वपूर्ण हैं—छत पर विभिन्न तीर्थकरों के जीवनों के विस्तारपूर्वक उत्कीर्ण कृश्य (चित्र १६३) जो उक्त दोनों मंदिरों में, तथा लगभग १०३२ ई० में निर्मित कुम्भरिया स्थित महावीर-मंदिर में अंकित किये गये हैं। इस मंदिर की एक छत पर चौबीस तीर्थकरों में से प्रत्येक के माता-पिता की आङ्कुषितियोंवाले लंबे पट भी हैं जिनमें उनके नाम भी उत्कीर्ण किये गये हैं (चित्र १६६)। कुम्भरिया-मंदिर में एक पट में भूतकाल के तीर्थकरों तथा भविष्य के आरों का भी अंकन किया गया है। वस्तुपाल और तेजपाल द्वारा आबू पर्वत पर निर्मित मंदिर में बहतर तीर्थकरों के अंकन से युक्त एक पट सुरक्षित है। अश्वावबोध की कथा तथा शकुनिका-विहार का उद्भूति के रूप में उरेखन करने योग्य पाषाणखण्ड आबू तथा कुम्भरिया में पाये जाते हैं। इस प्रकार जैन जातकों तथा अन्य जैन कथाओं की उद्भूतियों के अंकन का चलन इस युग में बहुत हुआ। देवताओं, मनुष्यों, स्त्रियों, पशुओं, वृक्षों आदि का संगमरमर की लघु मूर्तियों के रूप में अंकन-युक्त कुम्भरिया-मंदिर के ये पट (चित्र १६५) लेखा बनाकर लिखा है। बारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में इस प्रदेश के कलाकार कोमल संगमरमर की सूक्ष्मता से तराशने में अडे प्रबोध थे, जैसा कि विमल और लूण-वस्त्रियों के सभा-मण्डपों के घुंडदों तथा धौलुक्य-युग के जैन और अ-जैन देवालयों के अन्य अनेक वितानों पर की थी अत्यंत सुंदर कारीगरी से स्पष्ट है।

बारहवीं और परवर्ती शताब्दियों की आङ्कुषि-कला (मूर्तिकला), जिसमें सूक्ष्म अलंकरण की प्रचुरता है, तथा नाभिराम तो है किन्तु वह धीरे-धीरे अपना प्रकृतवाद, शोभा और सौदर्य खोती जा रही थी, जो भी हो, कुम्भरपाल के युग की मानव-आङ्कुषियाँ जहाँ हृष्टपुष्ट, बलिष्ठ तथा निश्चल हैं (तुलना कीजिए—विमल-वस्त्री की भ्रमती में अङ्गांकुरी महाविद्वा, चित्र १६७), वही दूसरी ओर वस्तुपाल तथा तेजपाल के युग की आङ्कुषियाँ एक सीमा तक रूप की शोभा और कोमलता दर्शाती हैं। विशेषकर स्त्री-आङ्कुषियों तथा भानव-मुखांकुषियों के अंकन में। विमल-वस्त्री की छत पर अंकित आङ्कुषि—शायद वह अंदिका की है—कला का एक सुंदर उदाहरण है (चित्र १६७ क)। वृक्षों का अंकन भी ध्यान देने योग्य है।

विमलशाह के युग की मूर्तिकला उच्चकोटि की कारीगरी प्रदर्शित करती है। आबू पर विमल ने जो निर्माण कराया था, उसका इस समय धृष्टपि बहुत कम भाग शोष बचा है तथापि कुम्भरिया स्थित महावीर-मंदिर की कला—सौभाग्य से वह अधिक अच्छी तरह सुरक्षित रह सकी है—अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण है। वास्तव में, आबू और कुम्भरिया में काम करनेवाले कलाकारों के सामने अपने केंद्रों के लिए उस चंद्रावती तमर की मूर्तिकला विषयक परंपराएँ थीं, जो आबू से लगभग ८ किलोमीटर दूर था और अब खण्डहरों के रूप में है। चंद्रावती की जैन मूर्तिकला की एक श्रेष्ठतम कृति, जो बारहवीं शताब्दी के लगभग की है, इस समय सौभाग्य से ज्यूरिख के राइट्सवर्ग संग्रहालय में सुरक्षित है। विमल-युग की तथा विमलशाह की हस्तिशाला से प्राप्त एक सुंदर नायिका या अप्सरा की मूर्ति का चित्र यहाँ दिया गया है (चित्र १६८ क)।

इस युग की कला का एक महत्वपूर्ण तमूना, जो सिंध के थार पार कर जिले के वरानन नामक स्थान से प्राप्त हुआ था, अब बंबई के प्रिस आफ बेल्स संग्रहालय में सुरक्षित है। खड़ी हुई

मुद्रा में तीर्थकर की यह मूर्ति (चित्र १६८ ल) प्रस्तेक और चार देवियों के अतिरिक्त पूरे परिकर को दर्शाती है। शायद वे विभिन्न विद्यादेवियाँ हैं।

समस्त भारत से मध्य युग के विभिन्न जैन मंदिरों से प्राप्त दान-दाताओं एवं मुनियों की आकृतियों की मूर्तियों का अध्ययन बहुत उपेक्षित रहा है। गुजरात के मंदिरों में इस प्रकार की बहुत-सी मूर्तियाँ हैं। यद्यपि वे कुछ-कुछ परंपरागत चौली का अनुकरण करती जान पड़ती हैं तथापि उनके तुलनात्मक अध्ययन से यह जान पड़ता है कि वे आकृति-अंकन के, विशेषकर चौलुक्य-काल के, सुंदर प्रयास हैं। चित्र १६६ में एक दानी वंपति—भाण्डागर्फिक धातु और उसकी पली शिवदेवी तथा उनके साथ दो पुत्रों की लघु आकृतियों की मूर्तियाँ खंभात के एक जैन मंदिर में संवत् १२६० (१२०३ ई०) में स्थापित की गयी थीं। शाह्यदेव की एक मूर्ति (चित्र २००) संवत् १२४२ (११८५ ई०) में बनायी गयी थी। वरावन से प्राप्त यह मूर्ति प्रिस ऑफ वेल्स संग्रहालय, बंबई में सुरक्षित है। चित्र २०१ में मंत्री वस्तुपाल को उसकी पत्नियों सहित दिखाया गया है। यह मूर्ति लूण-वस्त्री की है।

चौलुक्य-काल में धातु की मूर्तियों की ढलाई धर्येष्ट आगे बढ़ चुकी थी, जैसा कि गुजरात और राजस्थान के विभिन्न मंदिरों से बहुत अधिक संख्या में प्राप्त धातु-निमित जैन प्रतिमाओं से स्पष्ट है। इस युग की कला का सबसे उत्तम नमूना, जो ११८८ ई० का है, पूरे परिकर से युक्त शांतिनाथ की सुंदर कांस्य प्रतिमा है जो इस समय विष्णु-रूपा ऐर्ड अख्याटी म्यूजियम, रांडन में सुरक्षित है। संभवतः तीन तीर्थकरों वाली एक बहुत बड़ी कांस्य-प्रतिमा का एक भाग, जो इस समय उत्तर-पश्चिम गुजरात के बाब नामक स्थान पर सुरक्षित है, लड़ी हुई मुद्रा में तीर्थकर की चमरबारी सहित वह सुंदर मूर्ति है जो चित्र-संख्या २०२ के रूप में इस ग्रंथ में दी गयी है।

उमाकांत प्रेमानन्द शाह



## दक्षिणापथ और दक्षिण भारत

### दक्षिणापथ की स्थापत्य-शैलियाँ

इसकी सन् की प्रथम सहस्राब्दी का अंत भाव एक युगांत नहीं था, उससे कहीं अधिक वह वस्तुतः देश के मौलिक चित्तन में एक प्रस्तर परिवर्तन का काल था, संस्कृति और धर्म के क्षेत्र में। सामाजिक रूपांतरण का भी यह ऐसा समय था जब क्षेत्रीय शासकों का नेतृत्व अलग-अलग निरपेक्ष इकाई न रहकर, अपनी प्रतिरक्षा में सतत सचेष्ट रहने लगा और विद्यमियों तथा मूर्तिभजकों से टक्कर लेने के लिए प्रतिस्पर्धी और आक्रामक हो गया था। ये शासक जानते थे कि आहुष्य विचार-धारा और कला की रक्षा का भार उनपर है। दक्षिणापथ ने जैसे अचानक ही अपने बातावरण में परिवर्तन कर डाला, और कल्याणी के चालुक्यों को उनके उदीयमान प्रभाव ने पूर्वी से पश्चिमी घाटों तक पहुँचा दिया जहाँ उन्हें एक ओर कवड़ि-झीप के शिलाहारी और गोबा तथा हंगल के कट्टवों से और दूसरी ओर सेतण-यादवों, कलचुरियों और काकतीयों से पर्याप्त समर्थन प्राप्त हुआ था। उल्लेख-नीय समृद्धि के अनंतर उन्हें आक्रमणकारी खिलजियों और तुगलकों के इस्लामी साम्राज्य के उमड़ते ज्वार के सामने भुक्ता पड़ा, और तब दक्षिणापथ में कृष्ण-तुगलकां-धाटी के उत्तर में बहुमनी-सुलतानों ने चौदहवीं शताब्दी के आरंभ में भुस्तिम राज्य को प्रायः स्थायी बना दिया।

कल्याणी के चालुक्य कला और साहित्य के सर्वोच्च संरक्षक थे। जैन धर्म तो उनके शासनकाल में उन्नति की पराकाणा पर पहुँच गया। लक्कुण्डी, अवणबेलगोला, लक्मेश्वर, पटदक्कल आदि जैन धर्म से संबद्ध कला के विशाल केंद्र बन गये। अजित-पुराण, गदा-युद्धम् के लेखक रण्ण आदि दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के काव्यकारों ने चालुक्यों की सभा-गोष्ठियों की प्रशंसा की है। लक्कुण्डी के एक १००७ ई० के अभिलेख में<sup>1</sup> गुर्जर देश पर इरिवदेहंग की विजय का वृत्तांत है जिसमें दानचितामणि अत्तियब्दे द्वारा स्थानीय ब्रह्म-जिनालय के लिए किये गये दानों के विस्तृत विवरण हैं। प्रसिद्ध है कि इस महिला ने उस राज्य में पंद्रह सौ जैन मंदिरों का निर्माण कराया। इस महिला के विषय में जो विवरण है वह कवि रण्ण की साहित्यिक कृतियों द्वारा समर्यित है। धारखाड़ जिले के मुगड में

<sup>1</sup> साहित्य इण्डियन इंसिफ्रेस, 11, 1; पृ 32-43.

सोमेश्वर-प्रथम के राज्यकाल का १०४५ ई०<sup>1</sup> की तिथि-अंकित एक और महत्वपूर्ण अभिलेख है जिसमें वृत्तांत है कि चावुण्ड गावुण्ड ने भुगड में स्वयं निर्माणित संयुक्त-रत्नाकर-चैत्यालय के दर्शनाधियों के भोजन के हेतु भूमियों का दान किया।

इस काल के, विशेषतः उत्तरकालीन चालुक्य, होयसल, यादव और काकतीय राजवंशों के, शासकों ने स्थापत्य की 'उत्तरी' और 'दक्षिणी' शैलियों को किसी सीमा तक अन्तःसमन्वित किया; होयसल और किसी सीमा तक काकतीय शासकों ने यह अधिक अच्छा समझा कि समूचे मंदिर में गर्भ-गृह और शिखर में तो 'दक्षिणी' शैली ही अपनायी जाये पर अन्य तत्त्व ऐसे भी मिश्रित होने दिये जायें जिनकी पहचान 'उत्तरी' शैली के रूप में हो। इसके उदाहरण हैं जगती-पीठ, चतुर्ब्जी-अलिद के साथ नवरंग या सभा-मण्डप की विन्यास-रेखा, मूल गभर्सिय के अधिष्ठान के संयुक्त रथ-घटक, प्रस्तार की पट्टियों और अंतराल की प्रणालियों की इसलिए ऊर्ध्वमुखी निर्मिति जिससे संपूर्ण प्रस्तार 'दक्षिणी' विमान-शृंग की अपेक्षा 'उत्तरी' शिखर अधिक प्रतीत हो। विवेच्य काल में भी जैनों ने इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया किन्तु उन्होंने प्रस्तार के बाह्य अलंकरण को इतना कम कर दिया कि वास्तु-विद्या की दो प्रमुख शैलियों को स्वेच्छाचार से विलीन कर देने के दोष के भागी वह अधिक नहीं बने। प्रस्तार का बाह्य भाग प्रायः अत्यंत समतल है, केवल बंधन-घटक पर हीरक-दाम का अंकन हुआ है या फिर कर्ण और भद्र के अनुरथों में विमान-आकृतियाँ अंकित हैं। ध्वज-स्तंभों के, और प्रायः बलि-पीठों के भी, अलंकरण अत्यंत आकर्षक बन पड़े हैं; उनके साथ परंपरागत लघु-मण्डप भी होता है और उपर भी ऋहुदेव की मूर्ति होती है।

दक्षिणाध के उत्तरी और दक्षिणी भागों को भौगोलिक दृष्टि से एकाकार कर चुकने के बाद उत्तरकालीन चालुक्यों ने यादवों, कलचुरियों आदि के साथ घनिष्ठ संबंध होने तथा सिंहासन में उलटफेर के कारण 'उत्तरी' और 'दक्षिणी' दोनों शैलियों को अपनाया, यद्यपि दक्षिण और दक्षिणाध के क्षेत्र में वे केवल 'दक्षिणी' शैली को ही अपनाये रहे। काकतीय शासक अधिकांशतः कल्याणी के चालुक्यों के अधीनस्थ और उनसे संबद्ध रहे। उनके अधीन रहकर, काकतीय वंश के संस्थापक प्रोल-प्रथम ने हनम-कोण्डा-वारंगल क्षेत्र निसंदेह जागीर के रूप में प्राप्त किया और वह मुख्य रूप से आंध्रप्रदेश के पूर्वी अर्धभाग पर शासन करता रहा।

सेउण-यादव वंश का राज्य आरंभ में नासिक ज़िले में था, बाद में उन्होंने अपनी राजधानी जैतुगि के शासनकाल में ११६६ ई० में देवगिरि (ओरंगाबाद के समीप आधुनिक दीलताबाद) में स्थानांतरित कर ली। सिंहण सर्वाधिक प्रतापी शासक था, जो १२०० ई० में सिंहासन पर बैठा था। बाद के राजाओं में महादेव (१२६१-७० ई०) उल्लेखनीय है। अनुश्रुति है कि उसका मंत्री हेमाद्रि खण्डेश क्षेत्र में हेमादप्यो-शैली के मंदिरों के निर्माण से संबद्ध था। यह शैली वास्तव में भूमिज-शैली है जो परमारों तथा अन्य शासकों की देन है। यादव शासकों को मध्यप्रदेश में शरण लेना अनिवार्य कर दिया

1 वही, पृ 68.

यथा अहीं उन्होंने स्वेच्छा शूमिज-शैली को अपनाया, जो ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में एक व्यापक क्षेत्र में प्रचलित हुई।

इसलिए क्षेत्रीय और सांस्कृतिक प्रतिबद्धताओं के अंतर्गत दक्षिणापथ में हुए निर्माण-कार्य में एक मिथित 'उत्तरी' शैली अथवा प्रचलित 'दक्षिणी' शैली किसी सीमा तक प्रचलित हुई। केवल उत्तरकालीन विजयनगर-शैली इसका अपवाद रही जो अपनी शैली में निर्मित सभी स्थानों के मंदिरों में शुद्ध 'दक्षिणी' स्थापत्य-परंपराओं को प्रतिरिवित करती रही, और जिसने किसी सीमा तक उस कदंब-नागर उपशैली अर्थात् फांसना-शैली को प्रोत्साहित किया जो अपने 'दक्षिणी' शैली के शिखर-आकार को बनाये रखने के कारण समुद्रतटीय कोंकण-कनारा क्षेत्र में लोकप्रिय और प्रभावशाली थी। इस फांसना-शैली में बहिभागि समतल ही हुआ करता था किन्तु तलभिति पर एटिकाएँ होती थीं और अधिष्ठान में कदाचित् जगती-पीठ की अपेक्षा उपरीठ को स्थान मिलता था।

यह सर्वविदित है कि जैन मंदिर-निर्माण की प्रक्रिया विकास के प्रायः उन्हों सोपानों से अग्रसर हुई जिनसे ब्राह्मण्य प्रक्रिया। तथापि, जैन स्थापत्य अपनी स्वतंत्रता बनाये रहा क्योंकि उसने कुछ ऐसी मूर्तिशास्त्रीय विशेषताओं का आधार लिया जिनसे उसे एक स्वतंत्र रूपाकार प्राप्त हुआ। उदाहरणार्थ, इन विशेषताओं की भलक ऐहोल के मेगुटी-मंदिर में और श्रवणबेलगोला की चामुण्डराय-बस्ती में विशेष रूप से निर्मित अतिरिक्त उप-गर्भालय के निर्माण में तो मिलती ही है, एलीफेटा की मूर्ख और एलोरा की धूमरलेण नामक ब्राह्मण्य गुफाओं की भाँति चार छारों-सहित चौमुख के निर्माण में भी मिलती है, जिनका आरंभिक रूप एलोरा की दंडसभान्गुफा के मूर्ख-मण्डप<sup>1</sup> में दृष्टिगत होता है। ये चौमुख मंदिर कार्कल, जेरसोप्पा और अन्य स्थानों की चतुर्मुख-बस्तियों की भाँति मूर्ख गर्भालय की परंपरा को स्थापित करते हैं। इस परंपरा के मंदिरों की विन्ध्यास-रेखा में एक विकूट-बस्ती या पंचकूट-बस्ती का भी प्रावधान होता है जिसमें मूर्ख, अर्थात् तीर्थेकरों की मूर्तियाँ और उपमूर्ख, अर्थात् गोमट के नाम से सुपरिचित बाहुबली आदि की मूर्तियाँ स्थापित की जाती हैं।

इन मंदिरों की दूसरी विशेषता यह है कि जगती के अंतर्गत मंदिर के बहिभागि को या उसकी समूची बाह्य संयोजना को ही आडंबरपूर्ण अलंकरण से सुकृत रखा गया किन्तु अंतर्भाग में आवश्यकता से अधिक अलंकरण और भूत्येकन की उपेक्षा नहीं की गयी।

### उत्तरकालीन चालुक्यों द्वारा निर्मित स्मारक

कल्याणी के चालुक्यों ने अतेक सुंदर जैन मंदिरों का निर्माण कराया जिनमें से मूर्ख हैं—धारवाड़ जिले में लक्कुण्डी का ब्रह्म-जिनालय, बीजापुर जिले में ऐहोल का चारण्डी मठ और धारवाड़

1 [देखिए प्रथम भाग में पृ. 200, चित्र 125—संपादक].

जिले में ही लक्ष्मेश्वर का शंख-जिनालय। लक्ष्मणी के ब्रह्म-जिनालय का इतिहास और अभिलेखों की दृष्टि से उसका महत्व पहले बताया जा चुका है। यह मंदिर (चित्र २०३ क) एक उत्तरकालीन होयसल मंदिर की भाँति स्तर-युक्त पाषाण से निर्मित है और स्थापत्य के विकास में राष्ट्रकूटों और आरंभिक पश्चिमी चालुक्यों की कलाओं में कड़ी का काम करता है। उसकी विन्यास-रेखा में अचेक रथों की संयोजना है जिनमें से भद्र-रथ अब भी सुरक्षित है। वहाँ तक आते-आते अनुरथ वर्तुल और शंखवाकार हो गये हैं, इससे संयोजना में एक स्तिर वर्तुलाकार की सृष्टि होई है। स्पष्ट है कि होयसल स्थापत्य में तारक जगती का विकास इसी वर्तुलाकार से हुआ जो एक पूरी शताब्दी तक चलता रहा। उसकी भित्तियों पर प्रस्तुत देवकुलिकाओं में से मध्यवर्ती भद्र-प्रकार की है और उसमें त्रिकोण-तोरण की संयोजना है किन्तु भित्तियों के पार्श्व स्तंभाधारित हैं और उनके पंजरों पर ऊपर विमानों की लघु अनुकृतियाँ निर्मित हैं। मुख्य गभालिय के शिखर का आकार और अंग-संयोजना राष्ट्रकूट-शिखर के समान है, उसकी परिधि ऊपर की ओर कमशः कम होती जाती है और मूल शिखर तक पहुँचते-पहुँचते चतुरस्त्र आकार ले लेती है। उस पर वही शुकनासी की प्रस्तुति है जिसमें मूलतः एक लघु गभालिय रहा होगा यद्यपि वह अब दीवार से बंद कर दिया गया है। इस मंदिर के रंग-मण्डप के बाहर काले पालिशदार पाषाण से बना शृंगारचौरी-मण्डप है जो उत्तरकालीन संबंधन माना जाना चाहिए (चित्र २०३ छ)। हीत और त्रृहे त्रृहे दोनों पालों के मध्य की स्तंभ-पंक्ति सीमा-रेखा बनाती है।

इस काल की शैली का एक विशेष उदाहरण ऐहोल का चारणी-मठ नामक मंदिर-समूह है। यह कम से कम १११६ ई० से पहले की है जो त्रिभुवनमल्लदेव विक्रमादित्य-षष्ठ के शासन का चौबालीसवाँ वर्ष था। वहाँ एक ऐसा अभिलेख है जो निश्चित रूप से किसी मंदिर के निर्माण के संबंध में उत्कीर्ण नहीं किया गया। उसमें वृत्तांत है कि अथ्यबोल के पांच सौ स्वामियों के शेषी केशवश्य ने उक्त संबंध में जीर्णोद्धार और संबंधन किये और स्थायी दान की व्यवस्था की। इस समूह के मुख्य मंदिर के पास का चारणी मठ कदाचित् ऐसा ही एक संबंधन है; उसमें अर्ध-मण्डप, सभा-मण्डप और मुख-मण्डप हैं और उसका शिखर 'दक्षिणी' विमान-प्रकार का है। जैन स्थापत्य में विशेष रूप से प्रचलित उपरि-गभालिय में एक मूल-गभालिय और एक मुख-मण्डप है। वाह्य-भित्तियों पर अभिप्रायों की सामान्य संयोजना के आधार पर यह मंदिर घ्यारहवीं शती का माना जा सकता है।

पूर्व में स्थित यह एक आकर्षक मंदिर है। इसमें गर्भगृहों की दोहरी संयोजना है पर मुख-मण्डप एक ही है और भीतर की इनकी विभाजक भित्तियाँ परस्पर अलग-अलग हैं। द्वार-पक्ष पर भव्य अलंकरण-कला हस मंदिर की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता है; मुख-मण्डप की बौछारियाँ और कपोतिकाएँ भी विशेष रूप से अलंकृत हैं और उनके कोणों पर जो कोडुंगइ-तोरणाकृतियाँ और तिर्यक् लता-वल्लरियाँ अंकित हैं वे और भी आकर्षक बन पड़ी हैं। मुख-मण्डप के दोनों सम्मुख-द्वारों के तोरणों पर चौबीसों तीर्थकरों की दो पंक्तियाँ उत्कीर्ण हैं। परिच्छि-भित्ति पर कपोतिका के ऊपर

लघु-विमानों के अभिप्राय पंक्तिवद्ध हैं। इसके लारकाकार विन्यास पर निमित् विष्वर होयसल-शैली का प्रथमेण भी हुआ है और दक्षिणी मैसूर में प्रचलित शैली भी अपनायी गयी है। किन्तु लंबे वरिमानों अर्थात् पंजर के स्तंभ-शीर्षों पर चलने वाली पट्टिकाओं में लक्कुण्डी, डोम्बल, गडग आदि में प्रचलित उसी शती की उत्तरकालीन चालुक्य-वैलियाँ अपनायी गयी हैं।

दक्षिण भारत में जैन धर्म का जो रूप पश्चिमी कलाइक में इसकी सन् के आरंभ से ही प्रचलित रहा उसके अंतर्गत लक्ष्मेश्वर एक अत्यंत महत्वपूर्ण जैन केंद्र था। वहाँ दो मंदिर हैं, एक प्रसिद्ध शंख-जिनालय और दूसरा आदिनाथ-बस्ती। दूसरा मंदिर उत्तरकालीन चालुक्य-शैली का एक हीन उदाहरण है; इसमें अनुरथों की संयोजना द्वारा अधिष्ठान-विन्यास की एक साधारण प्रस्तुति है। उसमें एक बहुत विस्तृत भइ जो अब भी बच रहा है, एक योजनावद्ध वरिमान, अनुरथ और कर्ण-युक्त शीर्ष बनाये गये हैं जो अधिष्ठान के अग्रभागों के वर्तुलाकारों की भाँति कमशः उत्क्षेप्त होते रहे हैं; साथ ही, प्रस्तार में एक मध्यवर्ती देवकोण्ठ-सदृश अंतराल भी बनाया गया है जिसके दोनों ओर विमान-पंजर भी हैं। विमानाङ्कति वे मध्यवर्ती देवकुलिका के तोरण के ऊपर की चूलिका का रूप ले लिया है; इसका श्रय यह हुआ कि उसकी आङ्कुति में जो विकास हुआ वह उस विकास से अधिक व्यापक है जो उसी स्थान के सोमेश्वर-मंदिर में है। इस प्रकार इस मंदिर को बारहवीं शती के उत्तरार्ध के मध्य का माना जा सकता है। मंदिर के गर्भगृह की योजना ब्रह्माकार है, उसमें खड़गासन आदिनाथ विराजमान है, और उनके दोनों ओर एक-एक त्रिकूट-शैली के पार्श्व-गर्भलिय हैं। इनमें से जो पूर्व की ओर है उसमें पार्श्वनाथ, और जो पश्चिम की ओर है उसमें खड़गासन-मुद्रा में तीर्थकर स्थापित हैं, जैसा कि अधिकतर पूर्वाभिमुख मंदिरों में होता है।

शंख-बस्ती अपने खण्डहर-रूप में भी एक विशालाकार भवन है जिसके अंतर्भूमि में एक गर्भगृह, विस्तृत अर्ध-मण्डप, उससे भी लंबा-चौड़ा महा-मण्डप और रंग-मण्डप हैं। रंग-मण्डप के दक्षिण, उत्तर और पश्चिम में एक-एक प्रवेश-द्वार हैं और दक्षिण-पश्चिम में एक पूर्वाभिमुख लघु चौमुख का विर्माण किया गया है। चौमुख के चारों ओर तीन-तीन मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं जिनके अतिरिक्त एक के ऊपर एक, दस-दस की पंक्तियों में भी, तीर्थकर-मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, पर वे सभी लघु आकार की हैं। इससे स्पष्ट होता है कि यह चौबीसी मंदिर के अंतर्गत एक चौमुख है। भित्तियों पर के शिल्पांकन, और गर्भलिय के स्तंभों से आरंभिक मध्य-काल की 'दक्षिणी' शैली का आभास मिलता है क्योंकि उसमें कलक, आकर्षक वर्तुलाकार स्तंभ-शीर्ष, गजदंत और कपोत की संयोजना है। कपोतिका से ऊपर निमित् महाप्रस्तार पीठ-देवउल-प्रांग का है, या इसे एक प्रकार की पीठिकाओं और अंतरालों वाला कदंब-नाशन-प्रकार भी कह सकते हैं जो पंचरथ-शैली के अंतर्गत आता है; इसकी तल-पीठिकाओं के प्रत्येक तल पर निमित् आलों में विभिन्न आसनों में तीर्थकर-मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इस चौमुख मंदिराङ्कति पर एक चतुष्कोणीय शिखराङ्कति का अंकन है।

मंदिर के बाह्य भाग की संयोजना अधिष्ठान पर हुई है जिसमें विशाल दोहरा उपान है, पद्म है, एक सोपानयुक्त जगती-पीठ है, एक और पद्म है, कणि (कणिका), कपोत और व्यालवरि भी हैं। व्यालों का अंकन अत्यंत जीवंत ढंग पड़ा है। उनके साथ-साथ वेदी की संयोजना भी है जिसके राजसेनक भाग पर, प्रत्येक युगल मिति-स्तंभ के मध्य, मिथुनों और संगीत और नृत्य-मण्डलियों के अंकन हैं। मण्डप-पाष्ठों पर वेदी और कक्षासन से कपोतिका तक ऊँची एक जालीदार भित्ति का निर्माण हुआ है।

मण्डप के प्रवेश का द्वार-पक्ष पञ्चशाखा-प्रकार का है, जिसका अलंकरण पर्याप्त लंबमान उत्तरांग की कपोतिका से हुआ है; साथ ही ललाट-बिम्ब से, जिस पर यथों और यक्षियों से परिवृत आसनस्थ तीर्थंकरों का अंकन है। मुख्य विमान और अर्ध-मण्डप नामक विभागों के पीठ पर व्यालवरि की संयोजना नहीं है जो केवल महा-मण्डप और तीन अग्र-मण्डपों से संयुक्त रंग-मण्डप के पीठ में है। इससे इस मंदिर के वर्तमान विन्यास से भी यही ज्ञात होता है कि उसमें दो बार संवर्धन हुआ है। गर्भगृह और अर्ध-मण्डप की भित्तियों का अलंकरण भी साधारण है, उसमें इकहरे भित्ति-स्तंभ हैं जिनके शीर्ष पर विमानाकृतियों की संयोजना है; विमानाकृतियों के भद्र-विभाग के मकर-तोरण के तीने एक देवकुलिका है, भद्र-विभाग के ऊपर एक बाह्य तोरणाकृति है जिसकी चूलिका पर एक विमान-अभिप्राय का श्रिकोण-तोरण है। इस मंदिर का बाह्य भाग समय-समय पर अत्यधिक और अव्यवस्थित रूप से परिवर्तित किया जाता रहा है। आरंभिक चालुक्य-शैली में एक विशेष काल में निर्मित आसीन थक्की-मूर्तियाँ सौभाग्यवश सुरक्षित रह गयी हैं, जो दक्षिण-पूर्व कोण पर स्थित हैं। मंदिर के सामने के भाग में एक मान-स्तंभ है। निर्मम विघ्नंस और नाम-मत्त्र की पूजा के होते हुए भी यह भव्य मंदिर छठी शती से तेरहवीं शती तक के अपने असीत की यज्ञोगाया कह रहा है।

### होयसलों द्वारा निर्मित स्मारक

होयसल स्थापत्य की सदर्शिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि अपने भोहक सौदर्य, वैविध्य और चरम भव्यता पर स्वयं ही मन्त्र-मुग्ध हुई उनकी कला में एक मिश्न भी है—विमान-शैली का, जिसमें वह आमूल-चूल ढूबी है; और 'उत्तरी' रेख-नागर-प्रासाद-शैली का, जिसके बहुत से तस्वीरों को उसने स्वेच्छया और कल्पना-विभीत होकर स्वीकार कर लिया। सदिह नहीं कि उत्तरकालीन चालुक्यों के राज्यकोश में उस पर सांस्कृतिक प्रभाव भी पड़ा और राजनीतिक भी। परिणाम यह हुआ कि अपने समय में प्रचलित विभिन्न कला-शैलियों को अंकतः आत्मसात् करके वह एक कला-समष्टि के रूप में प्रकट हुई। इन विभिन्न कला-शैलियों के अंश ये—चोल और पाण्ड्य-कलाओं का व्यावहारिक सम्मिश्रण, गंधों और नोलम्बों की कला-वास्ता, कदंबों और आलूपों के कलाकारों की सिद्धहस्ता और मूर्ति-निर्माण के प्रति उत्साह। तात्पर्य यह कि होयसलों के स्थापत्य का उद्गम मैसूर के इस दक्षिणी भाग

में कल्याणी के चालुक्यों की शैली के सम्मिश्रण से हुआ; शिल्पांकन में जो अपभिष्ठण हुआ उसमें स्थापत्य की मर्यादाओं के निवाह का योग भी रहा। माध्यम अर्थात् पाषाण आदि सामग्री के चुनाव में भी उन्होंने दोहरी नीति का परिचय दिया, अपने मुख्य स्मारकों में और विशेषतः अपने साम्राज्य के उत्तरी भाग में उन्होंने हल्के हरे रंग के कोमल स्तर वाले पाषाण का उपयोग किया, जहाँ यह उपलब्ध है; और तमिलनाडु की सीमाओं को छूते दक्षिणी भागों में कठोर उत्तम ग्रेनाइट पाषाण का उपयोग किया। इन दो प्रकार की सामग्रियों के उपयोग के परिणामस्वरूप शैली पर भी प्रभाव पड़ा। उसकी अलंकरणों की व्यापकता, उसके आयामों और यहाँ तक कि उसकी मौलिक परिकल्पना में भी अंतर पड़ा।

होयसलों द्वारा निर्मित मंदिर नितांत आठवें शताब्दी और विशद रूप से संयोजित हैं। उनका निर्माण उस समय हुआ जब यह महान् राजवंश निरंतर निर्माण-कार्य में दत्तचित्त था और इस कार्य को रानी शांतला देवी का विशेष राजाश्रव भी प्राप्त रहा; जो जैन धर्म को उस समय भी समृद्ध करती रही जब उसके पति राजा विष्णुवर्धन ने रामानुज के प्रभाव में आकर वैष्णव धर्म अपना लिया। उनके मंदिरों में साधारणतः तारकाकार विन्यास-रेखा, जगती-पीठ और यहाँ तक कि 'उत्तरी' शिल्प-संयोजना के अनुकरण को स्थान नहीं दिया गया। अंतभाग के शिल्पांकन बहिभूमि के शिल्पांकनों से कठोर किन्तु समृद्ध हैं; वे स्तंभों, वितानों आदि पर कुशलतापूर्वक बड़ी संख्या में उत्कीर्ण किये गये हैं। अनुष्ठान के लिए निर्मित देवकुलिकाशों और गभलियों में भी उनका अंकन हुआ, जिनकी एक विशेषता तो है दर्पण की भाँति चमकते हुए पालिशवाला उनका तल; और दूसरी विशेषता अलंकरणों में संयम की मर्यादा है। ये विशेषताएँ उत्तरकालीन चालुक्यों द्वारा सुदूर उत्तर में निर्मित मंदिरों में भी अपनायी गयीं। मुख्य मूर्ति के कई प्रकार थे, उनके संहनन भी विविध थे, इन दोनों विशेषताओं के क्षेत्र की व्यापकता बास्तव में उन गीण मूर्तियों पर निर्भर थी जिनकी स्थापना अनुष्ठान संबंधी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अंतभाग में उष-गभलियों में और बहिभूमि में मण्डपों में की जाती थी। मंदिरों में श्रीर बहुत-सी विविधताएँ रहीं किन्तु उनकी छत एक पीठिका-बंध के रूप में समतल ही बनती रही, यद्यपि उसके अर्ध-मण्डप ते अपने मूल रूप को बताये रखकर भी शुकनासा को अपनाने का उपक्रम किया।

होयसलों के शासनकाल में हासन जिले के श्रवणबेलगोला में अनेक लघु और विशाल मंदिरों का निर्माण होता रहा। एक मंदिर वहाँ तेरीन-बस्ती कहा जाता है क्योंकि उसके समीप ही एक मंदिर-थान का निर्माण हुआ है। वह बास्तव में बाहुबली-वसदि है, उसमें उनकी मूर्ति स्थापित है। गर्भगृह दक्षिण और उत्तर में खुला है। धान-सदृश बास्तु को वहाँ मण्डप कहते हैं, उसके चारों ओर बावन तीर्थकर मूर्तियों का अंकन है। इस प्रकार के मण्डप के कई रूप जैन कला में प्रचलित हैं, जैसे नंदीश्वर, मेरु, जिनमें से यह मण्डप पहले प्रकार का है। उसपर उत्कीर्ण १११७ ई० के तिथ्यकित अभिलेख में वृत्तांत है कि राजा विष्णुवर्धन

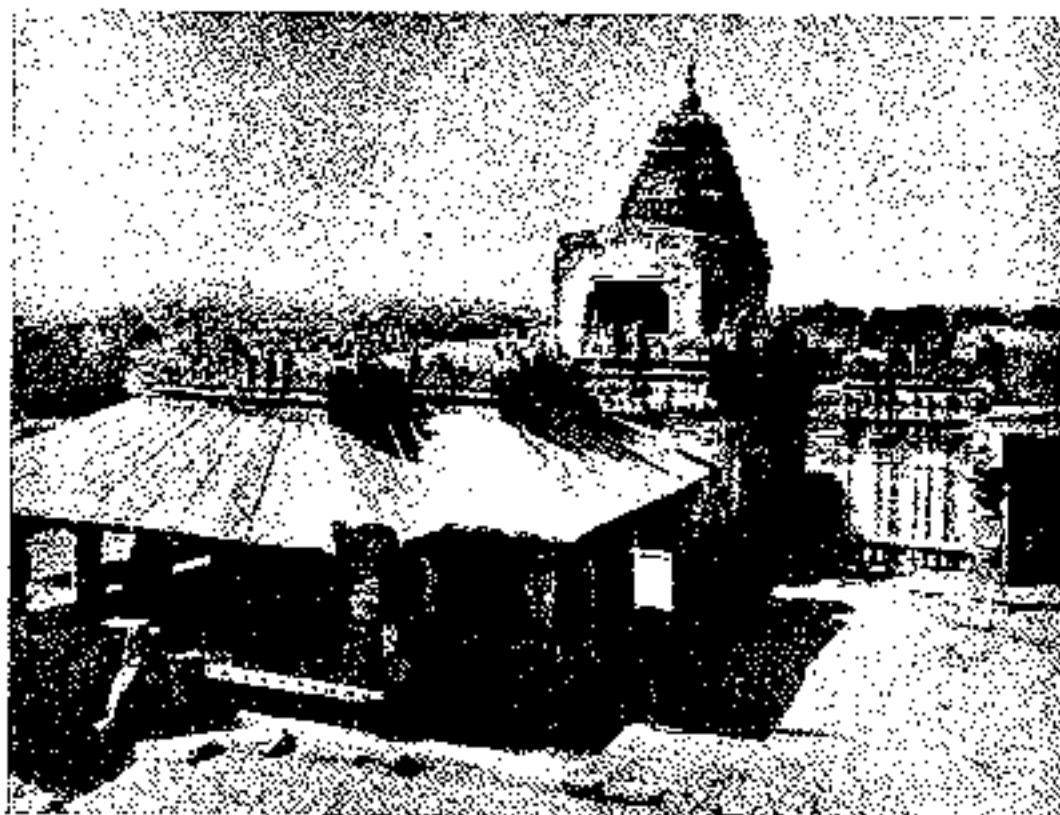
के राज-सार्थकाह पोथसल शेट्टी और नेमि शेट्टी की माता शांति कब्बे और भूचिकब्बे ने इस मण्डप का निर्माण कराया। शासन-बस्ती में गर्भगृह के सम्मुख अर्ध-मण्डप और नवरंग की संयोजना है। उसमें आदिनाथ की एक मीटर ऊँची मूर्ति स्थापित है, उसके परिकर में चमरधारी और यक्ष गोमुख और यक्षी चक्रेश्वरी अंकित हैं। इस मंदिर का निर्माण गंगराय ने १११७ ई० के आस-पास कराया और उसका नाम इंद्र-कुलगृह रखा। उसका यह नाम एक अभिलेख के कारण रखा गया जो वहाँ प्रवेश-द्वार के पास ही उत्कीर्ण है। ६.७×५.८ मीटर के एक लघु मंदिर मज्जगण्ण-बस्ती में गर्भगृह, अर्ध-मण्डप और नवरंग हैं और उसमें एक मीटर ऊँची अनंतनाथ की मूर्ति है। इस मंदिर की बाह्य भित्ति समतल है, केवल एक पुष्प-बल्लरी-युक्त बंधन-पट्टिका से उसका अलंकरण हुआ है। सवति-गंध-वारण-बस्ती का यह नाम शांतला देवी की एक उपाधि के कारण रखा गया। २१ १०, मीटर के इस विशाल मंदिर में गर्भगृह, अर्ध-मण्डप और नवरंग हैं और उसके गर्भगृह में शांतनाथ की १.५ मीटर ऊँची मूर्ति और सभा-मण्डप में यक्ष और यक्षी की मूर्तियाँ स्थापित हैं। प्रवेश-द्वार के समीप और पादपीठों पर उत्कीर्ण अभिलेखों से ज्ञात होता है कि इस मंदिर का निर्माण ११२३ ई० में शांतला देवी ने कराया।

दो सोपान-वीथिकाओं से संबद्ध होने के कारण एरडुकसे-बस्ती के नाम से प्रसिद्ध मंदिर में गर्भगृह में स्थापित आदिनाथ की मूर्ति के पादपीठ पर एक अभिलेख उत्कीर्ण था जिसमें वृत्तांत है कि इस मंदिर का निर्माण १११८ ई० में सेनापति गंगराय की पत्नी लक्ष्मी ने कराया। कुण्ड वर्ण के पाषाण से निर्मित होने के कारण कत्तले-बस्ती के नाम से प्रसिद्ध यह मंदिर चंद्रगिरि पहाड़ी पर सबसे बड़ा मंदिर है; ३८ मीटर लंबे और १२ मीटर चौड़े इस मंदिर में सांवार-गर्भगृह, अर्ध-मण्डप, नवरंग, मुख-मण्डप और मुख-चतुष्की हैं। इसे पद्मावती-बस्ती भी कहते हैं। आजकल इसका शिखर नहीं है। यह आदिनाथ को समर्पित है। इसके पादपीठ पर उत्कीर्ण अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसका निर्माण पूर्वोक्त गंगराय ने अपनी माता पोन्निये के कल्याण के लिए १११८ ई० में कराया था। पार्वतीनाथ-बस्ती (चित्र २०४) में भी सब विभाग हैं—गर्भगृह, अर्ध-मण्डप, नवरंग, मुख-मण्डप और मुख-चतुष्की; इसमें ४.५ मीटर ऊँची मूर्ति है और यह चंद्रगिरि का सबसे ऊँचा मंदिर है। नवरंग में उत्कीर्ण एक अभिलेख में जैन आचार्य भृत्यजेष्ठ मलघारी की मृत्यु का उल्लेख तो है किन्तु इस मंदिर के निर्माण-काल की सूचना नहीं है।

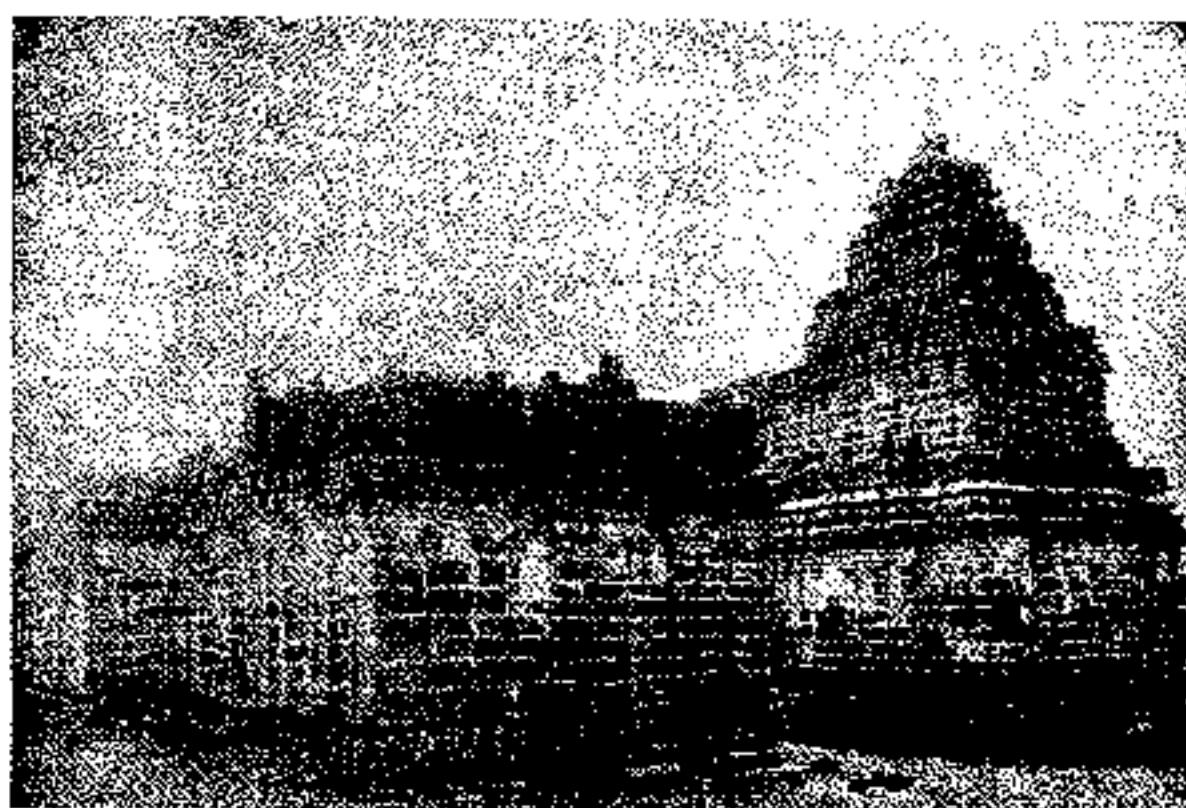
श्रवणबेलगोला के भग्नारी-बस्ती और श्रवणकण्ण-बस्ती नामक दो अन्य मंदिर भी उल्लेखनीय हैं। इनमें से पहला इस क्षेत्र में सबसे बड़ा है, यह ८१ मीटर लंबा और २३ मीटर चौड़ा है और इसमें लगभग एक-एक मीटर ऊँची चौबीसों तीर्थंकरों की मूर्तियाँ हैं और तीन प्रवेश-द्वार हैं जिनसे यह मंदिर-समूह कई भागों में विभक्त है। मध्यबत्ती द्वार पर सुंदर शिल्पांकन है और उसके ठीक सामने की मूर्ति बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य की है। नवरंग का

मध्यवर्ती श्रंकन स्तंभों पर आधारित है और उस पर तीन मीटर-वर्ग की एक शिला रखी थी है। उसके अभिलेख में वृत्तांत है कि इस मंदिर का निर्माण नरसिंह-प्रथम (११४१-७३ ई०) के कोषाध्यक्ष हुल्ले ने ११५६ ई० में कराया था और कहा गया है कि इस मंदिर के लिए इस राजा ने भव्य-चूड़ामणि नाम दिया था और उसके संरक्षण के लिए सबनेह नामक ग्राम का दान किया था। श्रवणबेलगोला में होयसल-शैली का एकमात्र यथार्थ प्रतिनिधि अवकण्ण-बस्ती (चित्र २०५ क) है, जबकि अन्य प्रायः सभी गंग-शैली के हैं। इसमें भी गर्भगृह, अर्ध-मण्डप, नवरंग, मुख-चतुष्की, पार्श्व-मितीर्याँ और कक्षासन हैं। गर्भगृह में १.५ मीटर ऊँची पार्श्वनाथ की मूर्ति है। अर्ध-मण्डप में पार्श्वनाथ के यक्ष और यक्षी की मूर्तियाँ हैं। स्तंभों पर भव्य शिल्पांकन है और रंग-मण्डप की छत का अलंकरण आकर्षक बन पड़ा है। बाह्य भित्ति समतल है, केवल उसके भित्ति-स्तंभों और स्तंभ-पंचरों की चूँकिका पर लघु शिखर-अभिप्राय है। इसका शिखर भी बहुत समतल है; यद्यपि यह बहुतल-अपित शिखर है तथापि चतुष्कोणीय शिखर और स्तूपी के साथ यह होयसल-शैली की विशेषता लिये हुए है। इस मंदिर का निर्माण ११८१ ई० में चंद्रमौलि की पत्नी जैन महिला अच्चियक के कराया था, वह बल्लाल-द्वितीय का एक ब्राह्मण मंत्री था। इससे व्यक्त होता है कि शासकीय अधिकारियों की पत्नियों द्वारा अपने पतियों के धर्म से भिन्न धर्म के लिए भी दिना किसी भत्तभेद के संरक्षण दिया जाना कितनी साधारण बात थी।

हासन जिले के अन्य मंदिरों में से अग्रलिखित का उल्लेख किया जा सकता है। बस्ति-हुल्ली का पार्श्वनाथ-मंदिर होयसल-शैली का है जिसके समामण्डप में उत्तम पालिशवाले कूण पाषाण से निर्मित चौदह स्तंभ हैं। प्रवेश-द्वार के दोनों ओर एक-एक उत्कीर्ण गज स्थापित हैं। उसके समीप स्थित और उससे छोटा, किन्तु कदाचित् उससे प्राचीन, आदिनाथ-बस्ती दक्षिण की विभान-शैली में है, और उसी के समीप स्थित शांतिनाथ-बस्ती होयसल-शैली में है। वहाँ एक मान-स्तंभ है जिसके शीर्ष पर एक मुसज्जित अश्व पूर्व की ओर उछाल भरता हुआ निर्मित है। मर्कुली की पंचकूट-बस्ती बल्लाल-द्वितीय के समय की है जिसका निर्माण उसके एक मंत्री बुद्धिमत्त्व ने ११७३ ई० में कराया था। उसमें आदिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, पुष्पदंत और सुपार्श्वनाथ की मूर्तियाँ स्थापित हैं। उसमें द्वादशभुजी यक्षी-चक्रेश्वरी की मूर्ति भी है। यह आरंभिक होयसल-शैली में है। हलेबिड में एक ही प्राचीर में तीन विशाल मंदिर हैं। सबसे पश्चिम में पार्श्वनाथ-मंदिर है जिसके समामण्डप में ४.३ मीटर ऊँची एक उत्तम कूण पाषाण की मूर्ति है। इसके दोनों ओर तीन-तीन और प्रवेश-द्वार पर दो यानी कुल आठ देवकोष्ठ हैं। नवरंग में दाहिनी ओर सर्वाह्न यक्ष की एक सुगढित आसनस्थ मूर्ति और बायीं ओर कूणमाण्डनी यक्षी की मूर्ति है। इस समूह के मध्य में स्थित और सबसे छोटे मंदिर के मूलनायक आदिनाथ हैं जिनके एक ओर गोमुख और दूसरी ओर चक्रेश्वरी का श्रंकन हुआ है। नवरंग में सरस्वती की एक आसीन मूर्ति है। पूर्व में स्थित शांतिनाथ-मंदिर में कोई शिल्पांकन नहीं है किन्तु उसके प्रवेश-द्वार चार मीटर ऊँचे हैं। उसमें



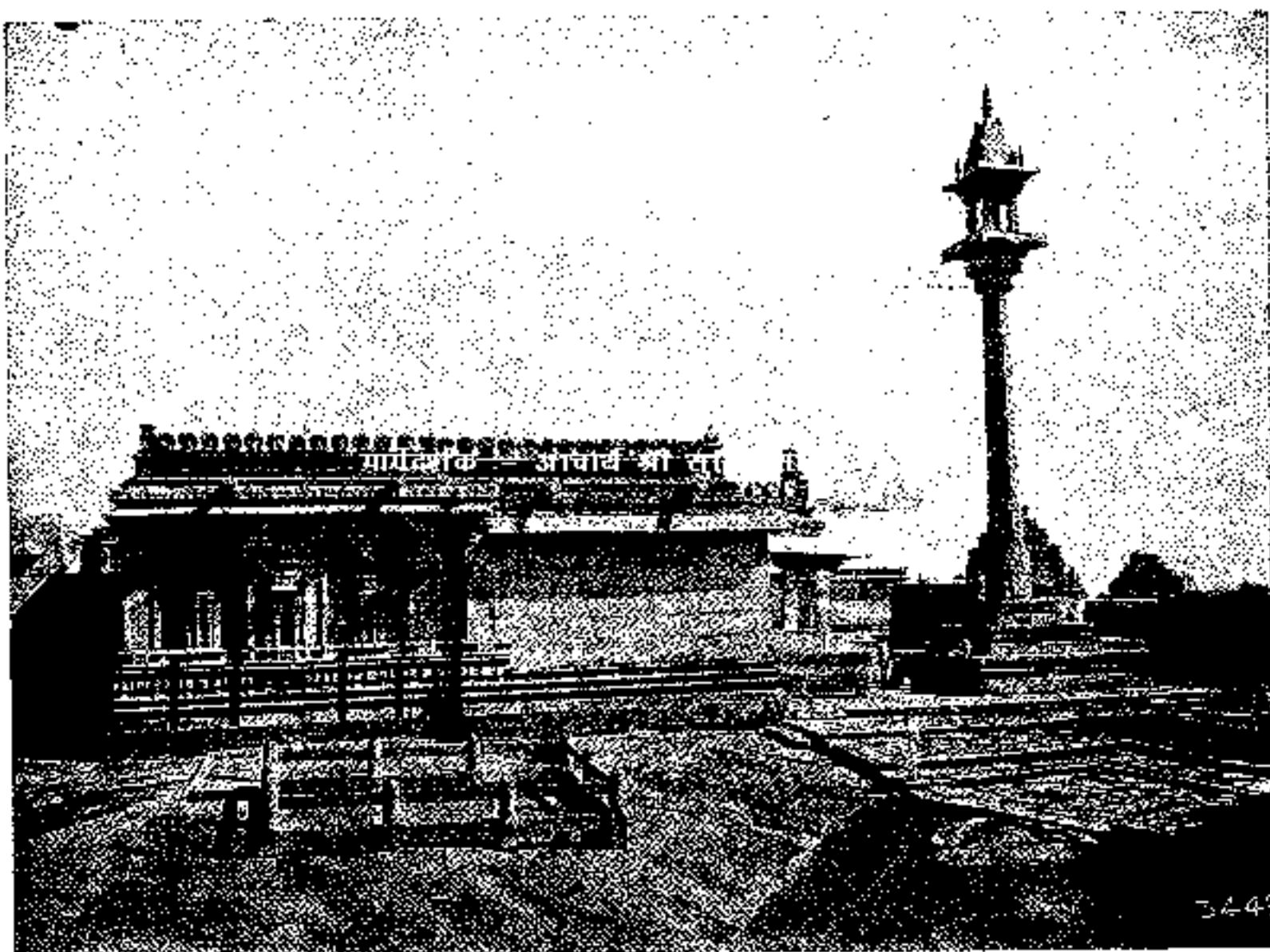
(क) लकड़ूडी — बहु-जिमलय



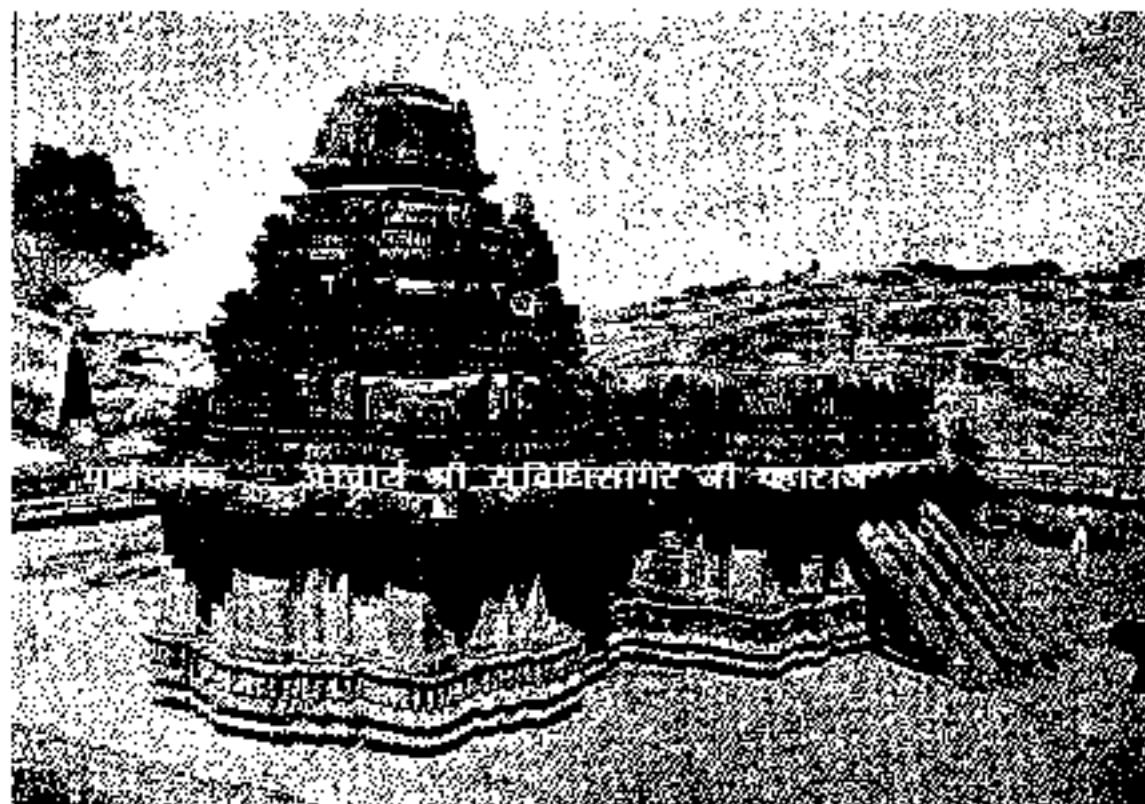
(ख) लकड़ूडी - - बहु-जिमलय, परवर्ती मण्डप

वास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला 1000 से 1300 ई०

[ भाग 5



अक्षरदालगोला — पाइवनाथ-बस्ती



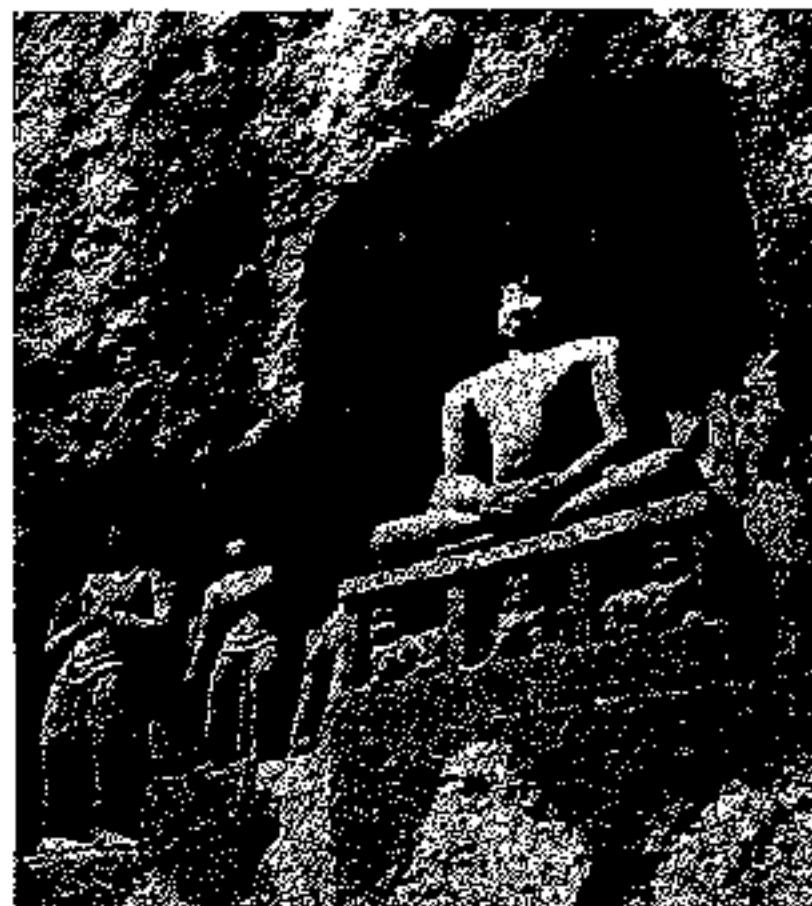
(क) श्रीब्रह्मदेवलन्दोला — अमृतधर्म-सहस्री



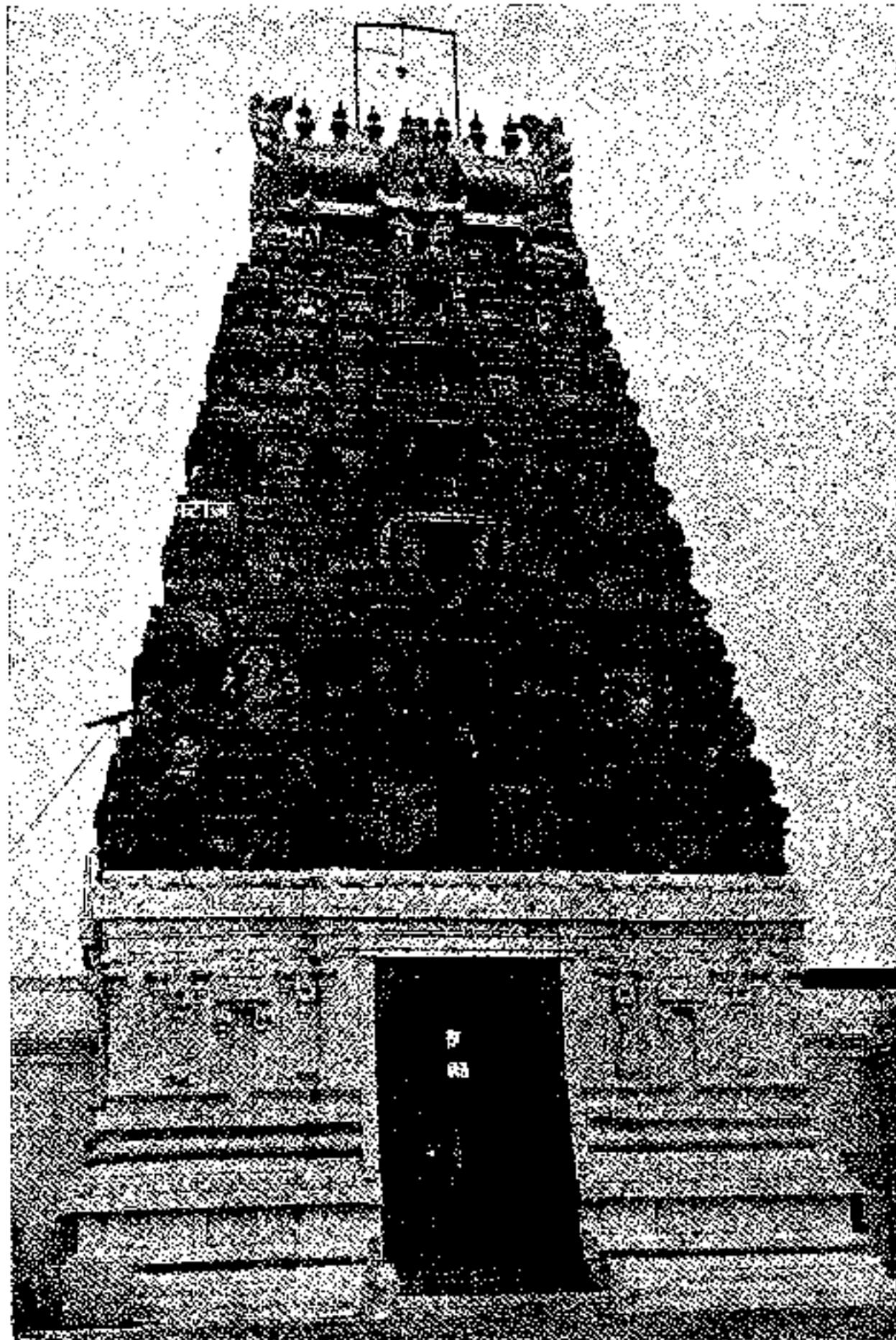
(ख) हनुमकोण्डा — कदलाकाश-वस्ती



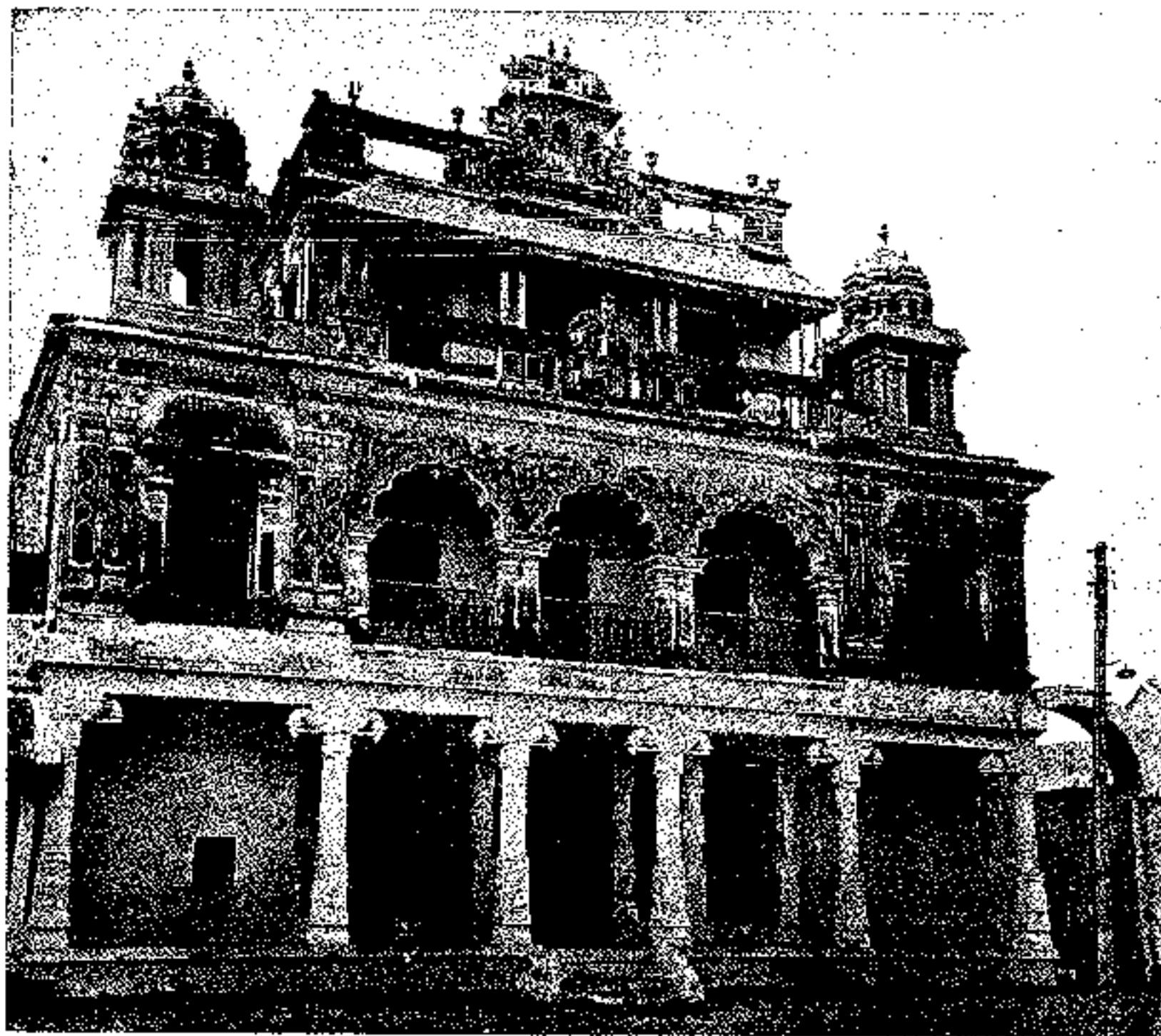
(क) हत्तुमकोण्डा — तीर्थकर पार्वदर्शक की शैलोल्लीर्ण मूर्ति



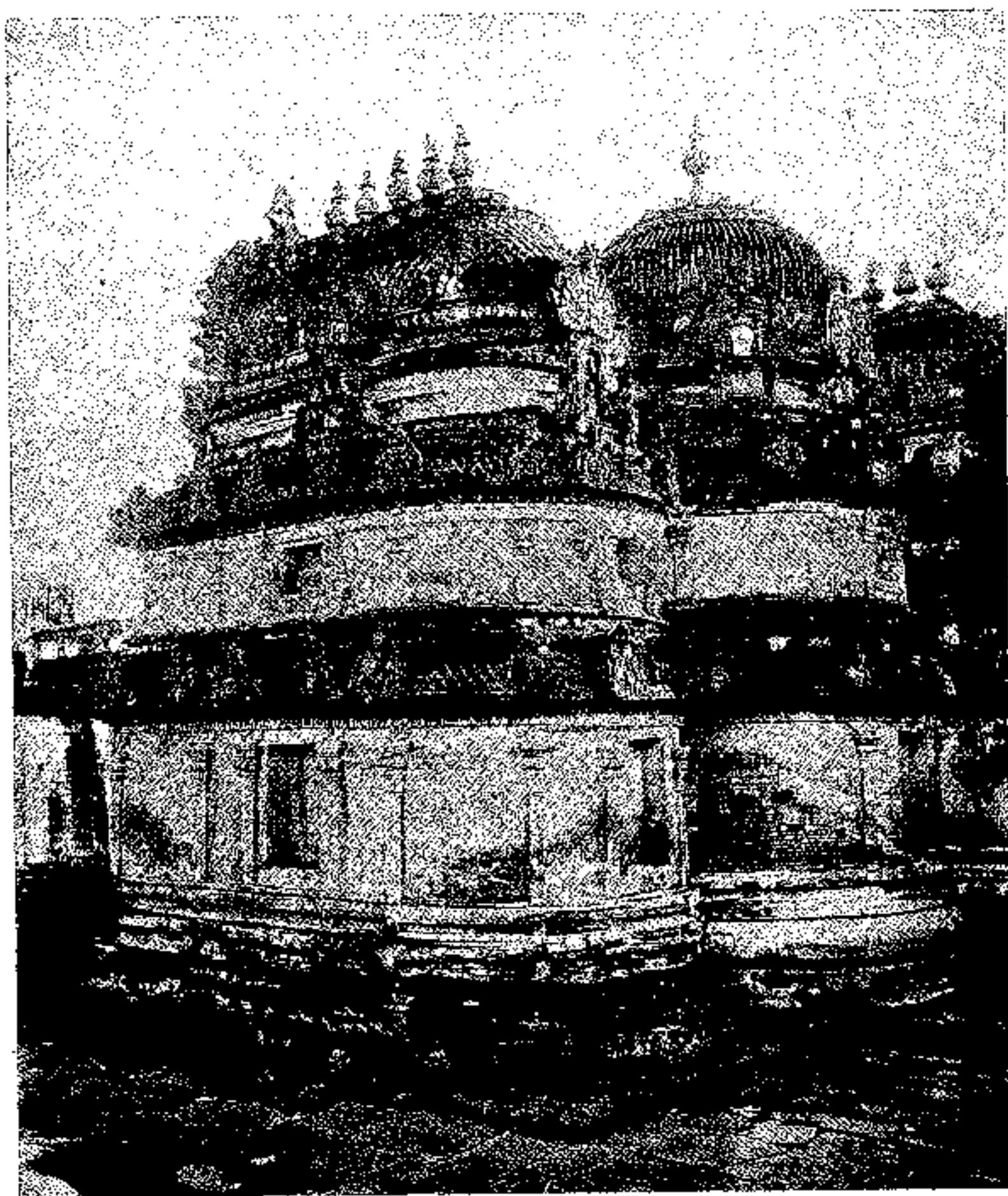
(ख) हत्तुमकोण्डा — अगुचर-सहित तीर्थकर की शैलोल्लीर्ण मूर्ति



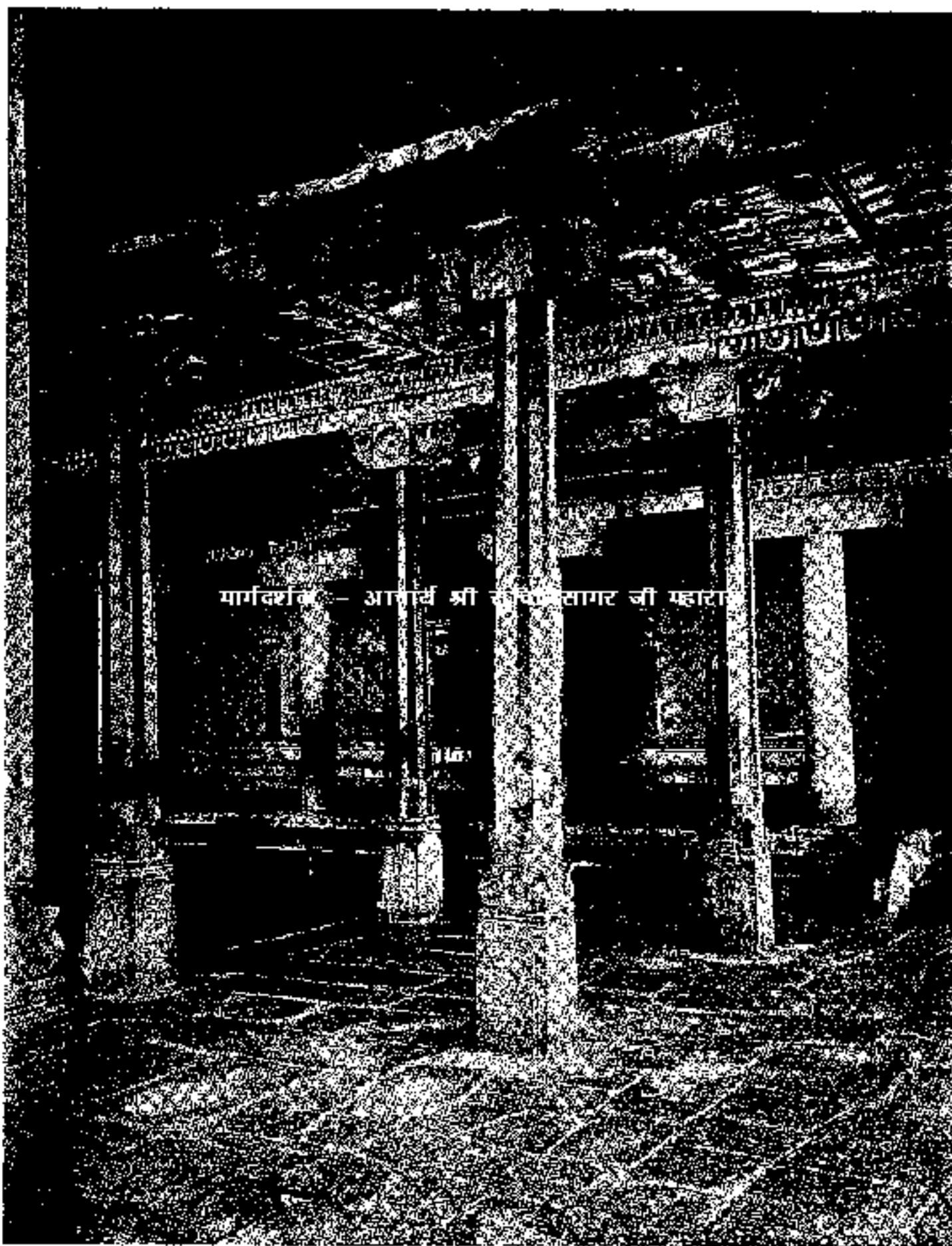
सिताम्बुर — मंदिर का गोपुर



लित्सामुर — मंदिर में नवीन वास्तु-कृति



तिरुपतिकुण्ड — मंदिर



तिरुप्पद्मिक्कुण्डम् - - वर्धमान-मंदिर, संगीत-मण्डप

स्थापित शांतिनाथ की मूर्ति भी कुछ अधिक ही ऊँची है, उसके साथ किम्बुरुष और महामातृसी का अंकन हुआ है। हलेबिड के थे मंदिर जैन मंदिरों के अधिकतम सबैग-संपन्न उदाहरण है और दक्षिणी विमान-प्रकार के मंदिरों की शैली इनमें अभिशित रूप में विचमान है। इनका अलंकरण भी आडंबरहीन है। इनमें एक मुख-मण्डप की संयोजना है जिसमें पाश्वन्वेदिका सहित सोपान-बीचि है। ११५५ ई० में निर्मित हेरगु की बस्ती अब खण्डहर होकर भी अपनी सूझम एवं विशिष्ट कला द्वारा आकृष्ट करती है। यह मंदिर पाश्वनाथ को समर्पित है।

तुमकुर जिले के नितूर में बारहवीं शती के मध्य में निर्मित शांतीश्वर-बस्ती में गर्भ-गृह, अर्ब-मण्डप, नवरंग और मुख-मण्डप हैं और नवरंग की छत में दिक्पाल के कोष्ठ की संयोजना है। गभलिय की मूल मूर्ति अब वहाँ नहीं है, उसके स्थान पर एक नयी मूर्ति स्थापित कर दी गयी है। बाह्य भित्ति में दोहरे स्तंभोंवाले विमान-पंजर हैं जिनके अंतरलों में तीर्थंकर-मूर्तियाँ हैं, कुछ पद्मासन और कुछ खड्गासन-मुद्रा में; किन्तु उनमें से अधिकांश अपूर्ण-निर्मित हैं। नवरंग की उत्तरी और दक्षिणी भित्तियों पर रिक्त देवकोष्ठ हैं, उनके पाश्वों पर नारी-आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। उसी जिले में हेमेरे की पाश्वनाथ-बस्ती कृष्ण पाषाण से निर्मित है; यह होयसल-शैली का एक सुंदर मंदिर है जिसके मण्डप और नवरंग पूर्णतया सुरक्षित हैं। यह इस भेत्र में अपने प्रकार की एक ही बस्ती है जिसके शुकनासा-युक्त नवरंग कृष्ण दर्शन के चार स्तंभों पर आधारित हैं। मध्यवर्ती शिष्ट-वितान में कुण्डल-नालदण्ड है। अन्य वितान समतल-प्रकार के हैं। बाह्य भित्तियाँ भी समतल हैं, केवल उनपर पुष्पवल्लरी-युक्त पट्टिकाएँ अंकित हैं। प्रतीत होता है कि इस मंदिर का निर्माण लगभग ११६० ई० में महासामत गोविदेव ने अपनी पत्नी महादेवी नयकिति की स्मृति में कराया था।

मैसूर जिले में होसहोल्लु की पाश्वनाथ-बस्ती होयसल-काल के प्राचीनतम मंदिर में से एक है, पर अब वह भग्नावस्था में है। ११६६ ई० में निर्मित उसके नवरंग में यक्ष धरणेंद्र और यक्षी पद्मावती की मूर्तियाँ स्थापित हैं। मैसूर जिले के ही बेल्लूर की विमलनाथ-बस्ती में एक ७६ सेण्टीमीटर ऊँची विमलनाथ की मूर्ति है जिसके पादपीठ पर तेरहवीं शती से पूर्व का एक अभिलेख है।

बंगलौर जिले में शांतिगति की वर्षभान-बस्ती एक साधारण मंदिर है जिसमें स्थापित मूर्ति के पृष्ठभाग पर होयसल राजाओं की, विनयादित्य से नरसिंह-प्रथम (११४१-७३ ई०) तक की वंशावली दी गयी है; जिसके बाद वह अभिलेख समाप्त हो जाता है। इससे यह संभावना व्यक्त होती है कि यह मूर्ति इस अभिलिखित शिला पर ही, अनजाने या जानशूझकर उत्कीर्ण की गयी। यह मूर्ति प्रभावली सहित एक मीटर ऊँची है। इस मंदिर में पद्मावती, ज्वालामालिनी, सरस्वती, पञ्च-परमेष्ठी, नव-वेवता आदि की धातुनिर्मित आसीन मूर्तियाँ हैं।

### पश्चिमी समुद्र-तट के स्मारक

६

भूसूर क्षेत्र में जैन धर्म के केंद्र अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक वर्षमूल थे क्योंकि श्रवणबेलगोला के अः सस जैनों का प्रभाव बहुत पहले स्थापित हो चुका था। अन्य केंद्रों में से शिमोगा जिसे मैं स्थित हुम्चा महत्त्वपूर्ण है जिसका प्राचीन नाम पोम्बुच्चा है और जो सातर राजाओं की राजधानी था। इस राजधानी को सहकार के पुत्र जिनदत्त ने बसाया था जो सातवीं-आठवीं शताब्दी में उत्तर से आया था। सबसे प्राचीन अभिलेख ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभ का सातर राजाओं का है। यहाँ की पंच-वसदि को उर्बी-तिलकम् भी कहते हैं। इसका निर्माण कदाचित् रक्कस गंग की पौत्री कत्तलदेवी ने कराया था। इस मंदिर की आवार-शिला की स्थापना कत्तलदेवी के गुह और नदिगण के प्रमुख श्री विजयदेव ने की थी। एक अन्य बस्ती का निर्माण उसके सामने लगभग ११०३ ई० में हुआ। पंच-बस्ती या पंचकूट-जिन-मंदिर एक आयताकार भवन है जिसकी छलुबी छत एकनके-ऊपर-एक शिलाएँ रखकर विशेष रूप से कदंब-शैली में बनायी गयी है, उसके प्रतिबंध-प्रकार के एक ही अधिल्लान पर एक पंक्ति में कई गर्भालय बने हैं। मंदिर से कुछ दूर एक उत्तर भान-स्तंभ है जिसके शीर्ष पर ब्रह्मदेव की मूर्ति है। इस मंदिर के ऊपर में एक गृह रक्षिणाभिमुख मंदिर है जिसका आकार लगभग मध्यम है; यह 'दक्षिणी' विमान-शैली के और भी अंतिम चरण का मंदिर है। यह एक द्वितील भवन है जिसकी छत पर शिखर के सम्मुख भाग पर शुकनासी की संयोजना है।

### यादवों और काक्षीयों के वासनक्षेत्र के स्मारक

सेठगढ़ और देवगिरि के यादवों के वासनकाल में जैन धर्म के प्रभाव का परिचय मनमाड़ के निकट अंजनेरी के गुफा-मंदिरों से मिलता है; जहाँ किन्हीं अथों में, एलोरा की गुफा-कला की परंपरा चलती रही। नासिक से २१ किलोमीटर दूर एक पहाड़ी पर यहाँ एक वर्ग किलोमीटर से भी बड़े क्षेत्र में निर्मित मंदिरों के एक बहुत बड़े समूह में से सोलह सुरक्षित हैं। इनमें से द्वितीय समूह के मंदिर अधिक सुरक्षित हैं और अधिक आकर्षक भी। यहाँ के अभिलेखों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अभिलेख एक मंदिर के आलों पर उत्कीर्ण है जिसमें वृत्तांत है कि सेठण-तृतीय ने शक सं० १०६३ (११४१ ई०) में चंद्रप्रभ-स्वामी-मंदिर को तीन दुकानों का दान किया; एक अन्य अभिलेख के अनुसार वत्सराय नामक एक धनाद्य सार्थकाह ने एक दुकान और एक घर का दान किया। इस मंदिर के खण्डहरों में एक प्रवेश-द्वार पर अभी भी एक चंद्रशिला बची हुई है और यद्यपि छ्वस्त गर्भालय रिक्त पड़ा है पर उसके प्रवेश-द्वार पर उत्कीर्ण पाश्वनाथ की दो खड़गासन मूर्तियाँ अभी भी खण्डित अवस्था में विद्यमान हैं; और इनमें से एक मंदिर के प्राचीर में एक पाश्वनाथ की तथा एक किसी अन्य तीर्थकर की मूर्तियाँ भी विद्यमान हैं।

दक्षिणापथ के पूर्वी भाग अर्थात् आबुनिक आंध्र प्रदेश में जैन धार्म-अवशेष अधिकतर रायल-सीमा से तेलंगाना तक प्राप्त होते हैं, यद्यपि इनसे भी प्राचीन अवशेष और खण्डहर समुद्र-तट के क्षेत्रों में यत्र-तत्र विद्यमान हैं। इसका पहला कारण यह ही सकता है कि समुद्र-तट के क्षेत्रों में सुदृढ़ और व्यापक राजाश्रय पहले बौद्ध धर्म को और उसके बाद ब्राह्मण-हिन्दू धर्म को मिला, इस कारण उनके परंपरागत संपर्क इतने सुदृढ़ हो गये कि उसके रहते इस क्षेत्र में जैन धर्म का प्रवेश कठिन हो गया। यह प्रवेश अवशेषवेलभोला के केंद्र से आरंभ हुआ और वहाँ से उसका प्रसार एक ओर रायलसीमा से होकर समुद्र-तट और दूसरी ओर उड़ीसा से होकर समुद्र-तट के क्षेत्रों में हुआ, जैसा कि वासुपूज्य के समय की परंपरागत प्रभार-कथा से जात होता है; तात्पर्य यह कि इसवी सन् के आरंभिक समय और राष्ट्रकूट-काल के बीच जैन धर्म को राज्य से पहली बार व्यापक आश्रय और समर्थन मिला। कल्याणी के चालुक्यों, काक्तीयों और वेलनाटी के शोलों के राजदंशाद ये कर्मजाण्ड और स्थापत्य संबंधी केंद्रों की प्रतिष्ठा अत्यधिक सबल और व्यापक हो गयी, किन्तु उस समय के अवशेष अधिकतर मूर्तियों के रूप में ही प्राप्त होते हैं। मुख्य-प्राप्ति स्थान हैं : हैदराबाद के समीप पोट्लाचेऱ्बु (आबुनिक पाटनचेर), वर्धमानपुर (वडमनी), प्रगतुर, रायदुर्गम, चिप्पगिरि, हनुमकोण्डा, पेड़डतु-म्बलम (अडोनी के समीप), पुडुर (बडबल के समीप), अडोनी, नमकली, कंबदुर, अमरपुरम, कोलिलपाक, मुनुगोडु, पेनुगोण्डा, नेमिम, भोगपुरम आदि। इन स्थानों पर विद्यमान मंदिरों के प्रकार से या स्थापत्य संबंधी शिल्पांकनों से यह अत्यंत स्पष्ट है कि स्थापत्य संबंधी कुछ विशेष शैलियों ने इस निर्माण की धारा को प्रभावित किया, यद्यपि यह कहना उचित होगा कि इस निर्माण में ऐसी कोई विशेषता नहीं जिसे जैली नाम दिया जा सके। इतना अवश्य हुआ कि किसी विशेष क्षेत्र या काल में निर्माण का विकास जैनों के हारा विशेष रूप से किया गया। निष्कर्ष रूप में हम एक से अधिक मिन्त शैलियों का नामोल्लेख कर सकते हैं : सोपान-मार्ग और तल-पीठ सहित निर्माण की कदंब-नागर-शैली, जिसके अंतर्गत चारों पाश्वों पर एक समतल पट्टी होती है, और अधिकतर तीन गभर्लियों-सहित एक त्रिकूटाचम्ब होता है और जिसके प्रत्येक गभर्लिय पर एक शिखर होता है; और अन्य शैली के जो मंदिर बच रहे हैं उन सबमें छत पर शिखर के साथ अपने-आप में पूर्ण एक शुकनासी होती है जो अंतर्भूमि में स्थित अर्ध-मण्डप के ठीक ऊपर पड़ती है। शिखर निश्चित रूप से चतुष्कोणीय होता है, जिसे दक्षिण में प्रचलित शब्दावली में नागर-वर्ग का शिखर कहा जा सकता है, और इस सबके आधार पर कहा जायेगा कि मंदिर के आकार में परिवर्तन का अर्थ है निर्माण-संबंधी विशिष्टता में विस्तार जो पश्चिमी कर्नाटक के समुद्रतटीय क्षेत्र में और अधिकतर कदंब-मण्डल में दृष्टिगत होता है; यह विस्तार जातीय और स्थानीय स्तर पर काढ़ या पाषाण से निर्मित पारंपरिक मंदिरों की शैली में एक मिश्रण मात्र है और केवल विमान-शैली के मंदिरों के लिए प्रतिबद्ध क्षेत्र में ही सीमित रहा, और उत्तर के रेस-प्रासाद में उसे कोई उल्लेखनीय स्थान न मिल सका; केवल इसकी शुकनासी को वहाँ व्यापक रूप से अपनाया गया जो कल्याणी के चालुक्यों की अपनी विशेषता थी। इसके तल-पीठों वाले शिखर के साथ शुकनासी भी होती है और

जिसकी ब्राह्म-भित्तियाँ कभी-कभी ही मध्य में संयोजित वंधन-पटिकाओं के अतिरिक्त समतल हुआ करती हैं। मंदिर का ऐसा रूप-प्रकार कुरूल जिले के बड़े भाग में कृष्णा और तुंगभद्रा के तटों पर मर्मनगल, प्रगतुर, ब्रेकम, रिमसिल, पापनाशनम् आदि में दृष्टिगत होता है। जैन धर्म में मंदिर के इस प्रकार के अपनाये जाने का मुख्य कारण उसकी समतलता और आडबरहीनता ही है।

मध्यवर्ती और पूर्वी ओर प्रदेश के कुरूल, गुण्टूर और कृष्णा जिलों के साथ ही अन्य क्षेत्र में भी जिनका प्रचलन रहा और ब्राह्मणों और जैनों ने जिनका अपनी-अपनी शब्दावली में प्रयोग किया ऐसी स्थापत्य संबंधी परंपराओं के माध्यम से मूर्ति-शिल्प की जो शैली सर्वसाधारण में प्रचलित हुई उसका विवेचन किया जा रहा है। इस शैली के अंतर्गत विभिन्न प्रकार के मंदिरों की लघु अनु-कृतियाँ स्तंभाकार पाषाणों पर उत्कीर्ण की जाती हैं। पूर्वी चालुक्यों के राजाश्व और राज्यक्षेत्र में इसका बहुत प्रचलन रहा, जैसा कि महानदी, सत्यबोलु, यश्वरेत्वरम् आदि में निर्मित ब्राह्मण शिल्प-कृतियों में दृष्टिगत होता है। जैनों की शिल्पकृतियाँ वेमुलवाड, पद्मकाशी, विजयवाडा आदि में प्राप्त हुई हैं, उनमें साधारणतः चार तीर्थकरों सहित चौमुख और चौबीस तीर्थकरों सहित चौबीसियाँ हैं जिनमें पद्मासन या खडगासन-मुद्रा में क्रमशः एक और छह सूतियाँ प्रत्येक पार्श्व पर अंकित होती हैं।

वर्षमानपुर, प्रगतुर आदि जैसे महत्त्वपूर्ण जैन केंद्रों में विकूटाचल-मंदिरों की अनुकृतियाँ बनीं, किन्तु पुडूर, कदंबूर, पद्मकाशी, चिप्पगिरि और घेहुतुम्बलम् में इन अनुकृतियों में केवल एक ही शिखर की संयोजना हुई है।

पुडूर के मंदिर का नाम पल्लव-जिनालय है, जिसका निर्माण कल्याणी के चालुक्य राजा विभूवनमल्ल विक्रमादित्य (१०७६-११२६ ई०) के एक सामन्त हल्लकरशु के संरक्षण में उसी के द्वारा दान की गयी भूमि पर द्रविड़-संबंध के भट्टारक जैन गुरु कनकसेन ने कराया था। इस मंदिर में गर्भगृह, अंतराल और अलिद हैं। कदंबूर में भी ऐसे तीन मंदिर हैं पर उनके शिखर तलपीठ सहित हैं; उनमें से एक उत्तराभिमुख मंदिर अन्य मंदिरों के समान ही है पर उसमें गर्भगृह, अर्ब-मण्डप, एक लंबे स्तंभ-युक्त प्रशाल और एक पाषाण-निर्मित प्राकार की संयोजना है। इसके निर्माण में एक विशेषता यह है कि दोनों और परतदार पाषाण से निर्मित भित्तियों से इसमें एक दोहरा तल-कथ बनाया गया है, उसमें मिट्टी की भरत की गयी है और इससे भित्तियों की रेखा कोषाकार हो गयी है। प्राकार के प्रवेश के द्वार-पक्ष पर पूर्णघटों का और उसके ललाट-द्विष्व पर एक तीर्थकर-सूति का अंकन हुआ है। स्वयं मंदिर के प्रवेश के दोनों द्वार-पक्षों पर दो-दो खडगासन तीर्थकर-सूतियाँ और ललाट-द्विष्व पर एक पद्मासन तीर्थकर-सूति उत्कीर्ण हैं। अन्य मंदिरों (ब्राह्मण) में मलिलकार्जुन नामक मंदिर के कपिशीर्ष-युक्त प्राकार की भित्तियों पर दो पंक्तियों में अनेक जैन शिल्पाकन उत्कीर्ण हैं जिनमें विविध दृश्य हैं: जैन मंदिर के समक्ष पूजक-गण; मंदिर से निकलता हुआ एक दिगंबर भुनि;

स्थापित की हुई एक खड़गासन तीर्थकर-मूर्ति और उसके दाहिनी ओर ब्रह्मत लेती हुई एक दर्शनार्थी महिला जिसके हाथ में एक कलश दिखाया गया है। ब्रह्मत एक जैन शुरु के द्वारा दिया जा रहा है। जिसने अपना दाहिना हाथ ऊंचा कर रखा है और बायें हाथ में पिच्छे ले रखा है। साथ में एक साधु और है जो एक हाथ को इस चतुराई से नीचा किये हैं कि उसकी नम्रता छिप जाये। नीचे की पंक्ति में कुछ और भी दृश्य हैं : एक मुनि और दो आर्यिकाएँ, तीनों दिगंबर-परंपरा के प्रतीत होते हैं; इनके साथ उत्तम परिवान धारण किये हुए दो पुरुष और एक महिला भी दिखाये गये हैं। ये शिल्पांकित दृश्य मूलतः इस मंदिर के अंग रहे होंगे जिसे अब मलिकार्जुन-मंदिर कहते हैं और जो वीरराम-मंदिर के रूप में परिवर्तित कर दिया गया होगा और उसमें की जैन वस्तुएँ नष्ट कर दी गयी होंगी; पर वहाँ एक अभिलेख अब भी ऐसा बच गया है जिससे ज्ञात होता है कि लगभग १२५८ ई० में इस मंदिर का इर्ष्योल द्वारा जीर्णोद्धार कराया गया था और उसकी पत्नी आत्मपादेवी जैन परिवार की थी।

अमरपुरम् में तेलगुरि दुर्ग में ब्रह्म-जिनालय नामक एक उत्तराभिमुख पार्श्वनाथ-मंदिर है। यह स्थान अनंतपुर जिले के दक्षिणी भाग में है और यहाँ कल्याणी के चालुक्य शासक तैल-द्वितीय की एक सेनिक चौकी थी। यहाँ के भी एक १२२८ ई० के अभिलेख में आलूपादेवी की दानदीलता की चर्चा है। यह उल्लेखनीय है कि प्रसन्न-पार्श्वनाथ-वसदि के दूसरे नाम से प्रसिद्ध इस मंदिर का पुजारी चेल विल्ल शित्तन्त्रवासल का एक जैन ब्राह्मण था और तमिलनाडु में पुडुक्कोट्टी के पास पोन्नमरावती-सीमा में रहता था। यहाँ के एक अभिलेख में जीर्णोद्धार के बृत्तात में मंदिर के विभिन्न भागों के लिए स्थापत्य-संबंधी शब्दावली आयी है, जैसे, शिखर, महा-मण्डप, भद्र, लक्ष्मी-मण्डप, गोपुर, परिसूत्र, मान-स्तंभ, मकर-तोरण आदि; उसमें यह भी लिखा है कि यह मंदिर उपान से स्तूपी तक सभी उपर्युक्त भागों के साथ नया ही बनाया गया है; केवल मूर्तियों और अनुष्ठान से संबद्ध सामग्री ही पुरानी है जिसका उसमें उपयोग किया गया है। इस शब्दावली से स्पष्ट होता है कि मंदिरों के जो भी रूप उस समय प्रकाश में आये वे मूलतः 'दक्षिणी' विमान-शैली से संबद्ध थे जिसके अंतर्गत उक्त शब्दावली का प्रचलन रहा।

हतुमकोण्डा की कडलाय-वसदि अथवा पदमवासी-मंदिर (चित्र २०५ ख) काक्तीय वंश के द्वितीय शासक और प्रथम स्वश्रूत राजा प्रोल के समय के मंदिरों में से एक है। इसका निर्माण भंत्री बेतन की पत्नी मैलमा देवी के संरक्षण में हुआ था। यह मंदिर एक बड़े टीले पर स्थित है, इसका शिखर ईंटों से बना है और गर्भालय प्राकृतिक गुफा के रूप में है और उससे संबद्ध एक मण्डप है; सभी उत्तराभिमुख हैं। पास की ही एक चट्टान पर उल्कीण मूर्तियों में एक कमलस्थित पार्श्वनाथ (चित्र २०६ क) की भी है, उसपर छत्र धारण किये हुए जो नारी-आकृति अंकित है, उसे प्रायः अपने पति के साथ उपस्थित मैलमा (चित्र २०६ ख) भाजा जाता है। इस मंदिर में ग्रेनाइट पार्श्वाण से निर्मित चौमुख और चौबीसी के समूह हैं। इस मंदिर का काल लगभग १११७ ई० है।

कुमार तैलप द्वारा निर्मित कोल्लिपाक जैन मंदिर और ध्वस्त अवस्था में है और परिष्वेमी कलात्मक के लक्ष्मेश्वर-मंदिर की भाँति यह मंदिर खोलों के आक्रमण के समय ध्वस्त कर दिया गया था। दक्षिणाफथ में जैनों के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण केंद्रों में इसकी भी गणना थी। इस स्थान पर हुए जैन क्रिया-कलाओं का परिष्वय यहाँ प्राप्त हुए इन अवशेषों से मिलता है। यहाँ के कुछ अपेक्षाकृत लघु मंदिरों के डार-पक्षों पर अंकित हैं—पूर्ण-घट, मान-स्तंभ, आदिनाथ और पद्मावती यक्षी की मूर्तियाँ; पाषाण का एक तोरण; आदि।

विजयनगरम् और भीमुनिपटनम् के मध्य स्थित भोगपुरम् में पार्श्वनाथ का एक राजराज-जिनालय नामक जैन मंदिर है जिसका निर्माण मन्त्रम् नायक ने ११८७ ई० में अनंतवर्मन राजराज के शासनकाल में कराया था। अब केवल तीर्थंकर की मूर्ति बच रही है जो एक मीटर ऊँची है और सभी दृष्टियों से आकर्षक है।

चिप्पगिरि से कलचुरि राजा बिज्जल के जीवन का घनिष्ठ संबंध रहा है। पहाड़ी पर स्थित यहाँ का जैन मंदिर कदाचित् उसी ने बनवाया था, या किर वह उससे कुछ ही पहले बना था। इसमें गर्भगृह, अर्द्ध-मण्डप, महा-मण्डप और मुख-मण्डप हैं। महा-मण्डप नवरंग-प्रकार का है जिसके मध्य में चार स्तंभों पर आधारित अंकण है। यह उल्लेखनीय है कि काकतीयों और उत्तरकालीन चालुक्यों द्वारा निर्मित मंदिरों की भाँति इस मंदिर में भी नवरंग के चारों ओर कक्षासन की संयोजना है।

के० शौ० सौंदर राजन

### तमिलनाडु के स्मारक

तमिल देश के जैन स्मारकों के प्रेरणा-स्रोतों और उसके निर्माण-कार्य का परिचान एक समस्या है क्योंकि उनमें से अधिकांश का निर्माण पल्लव-काल से विजयनगर-काल तक के विभिन्न अवसरों पर विभिन्न क्रमों में होता रहा। इनमें से कुछ स्मारकों का तो बाद में, वरन् अभी-अभी तक, अत्यधिक नवीनीकरण भी होता रहा। अतएव उन्हें इस पुस्तक में निर्धारित विभागों के अंतर्गत किसी विशेष काल का मान लेना या उसके आधार पर उनका विवेचन करना अत्यंत कठिन है। इसके फलस्वरूप, जिनका निर्माण तो चोल-काल में हुआ किन्तु उनमें संबंधन या उनका नवीनीकरण विजयनगर-काल में हुआ, ऐसे स्मारकों का विवेचन दो अध्यायों, अर्थात्, ६००-१००० ई० और १३००-१८०० ई० के अंतर्गत किया जाना चाहिए, और इनके मध्य के काल को या तो पूर्ववर्ती काल का समारोप मानना होगा या उत्तरवर्ती काल का समारंभ। इन स्मारकों को किसी विशेष काल से संबद्ध मानने में जो समस्याएँ हैं उनकी प्रकृति का बौद्ध अग्रलिखित उदाहरणों से ही सकेगा।

तिथेश्वरस्तिकुण्डम् के जैन मंदिरों की तिथियाँ पल्लव-काल से विजयनगर-काल तक की हैं। उदाहरण के लिए, चंद्रप्रभ-मंदिर में राजसिंह द्वारा निर्मित पल्लव-मंदिरों की शैली की सभी लाक्षणिक विशेषताएँ विद्यमान हैं किन्तु अधिक नवीनीकरण से उसकी विन्ध्यास-रेखा और मूल्यांकन में शोधनीय परिवर्तन हो गया है जिससे अब नवीनीकृत रूप में इस मंदिर की तिथि विजयनगर-काल की प्रतीत होने लगी है, यद्यपि उसकी विन्ध्यास-रेखा, आकार-प्रकार और विस्तार के मूलतः पल्लव होने में कोई संदेह नहीं।<sup>1</sup>

इसी प्रकार, चैलोक्यनाथ या वर्धमान-मंदिर या शिकूट-बस्ती के नाम से प्रसिद्ध यहाँ के मंदिरों का मुख्य समूह पल्लव सिंह वर्मा (लगभग ५५० ई०) के समय का है। इसका प्रमाण यह है कि पल्लवों के प्राचीनतम द्विभाषीय ताम्रपट्टिका-अभिलेख के अनुसार सिंहवर्मा और उसके पुत्र सिंहविष्णु से इस मंदिर को कोई दान प्राप्त हुआ था।<sup>2</sup> तथापि, पल्लव-मंदिर का अब कोई चिह्न तक नहीं बच रहा है। यहाँ तक कि इस मंदिर के तीनों विमानों की संयोजना चोल-शासक कुलोत्तुंग-प्रथम के काल (१०७०-१११८ ई०) से पूर्व की नहीं हो सकती क्योंकि इस मंदिर में प्राप्त हुए प्राचीनतम अभिलेख इसी के शासनकाल के हैं। इसके अतिरिक्त, चोल-मंदिरों का भी विजयनगर-काल में नवीनीकरण हुआ जब कि बुधकराज-तृतीय के सेनापति इरुगप्प ने संसीत-मण्डप का निर्माण कराकर इस मंदिर का संवर्धन किया। प्राकार का निर्माण भी चोल राजा राजराज-तृतीय के सामंत काडर द्वारा संवर्धन के रूप में हुआ। इस सामंत को स्थानीय अभिलेखों में अलगीय पल्लवन (कोप्पेरुनजिंग) कहा गया है। सब शिलाकार, इस मंदिर-समूह का मुख्य निर्माण-कार्य पल्लव, चोल और विजयनगर, तीन कालों में संपन्न हुआ।<sup>3</sup>

तमिल देश के एक महत्वपूर्ण जैन केंद्र तिरुमलै (उत्तर अर्काट ज़िला) के मंदिर-समूह के निर्माण-कार्य की कथा भी प्रायः इसी प्रकार की है। यहाँ के मंदिरों का निर्माण-कार्य प्राकृतिक गुफाओं और प्राचीन शैलोत्कीर्ण चैत्यवासों के आसपास किया गया। इस मंदिर-समूह के दो भाग हैं जिनका निर्माण-कार्य राष्ट्रकूट, चोल और विजयनगर-कालों में संपन्न हुआ। विमान में चोल-काल की विशेषताएँ अधिक हैं और मण्डप और गोपुर में विजयनगर-काल की। कोयंबटूर ज़िले के विजयमंगलम् में एक जैन मंदिर है, उसके सभी भाग समुचित अनुपात में हैं और उसका निर्माण गंग और विजयनगर-कालों में हुआ।

1 देली अध्याय 19.

2 'पस्तनकोइल कॉपर-प्लेट ग्राउट ऑफ पल्लव सिंहवर्मन्', ट्रैचेशंस ऑफ वि शार्क्यांनॉजिकल सोसाइटी ऑफ साउथ हॉण्डर, 1958-59.

3 इन सभी मंदिरों के विस्तृत विवेचन के लिए देली रामचंद्रन् (टी एन) तिथेश्वरस्तिकुण्डम् एनड इन्स टॉप्स, चुलेटिन ऑफ द भद्रास गवर्नरेण्ट म्यूजियम, नई विल्सी, जम्मू और कश्मीर, 1, वी; 1934. मद्रास./बोनोप्राप्त ऑफ द गवर्नरेण्ट म्यूजियम, मद्रास.

इस प्रकार के उदाहरण अनेक हैं : दक्षिण अकाट ज़िले के सित्तामूर में आज भी जैन भट्टारक की गढ़ी है। इसे भी इस प्रकार के उदाहरणों में प्रमुख माना जा सकता है। सित्तामूर के मंदिरों का निर्माण-कार्य चोल और विजयनगर-कालों में दो चरणों में हुआ (चित्र २०७)। ये एक प्राकृतिक गुफा के आसपास स्थित हैं जिसे काट-छाटकर एक मंदिर का रूप दे दिया गया है। इस स्थान पर हाल के बने भवन भी है (चित्र २०८)।

उत्तर अकाट ज़िले के करण्डे और दक्षिण अकाट ज़िले के तिरुनरुणगोण्डे नामक दो और भी स्थान उल्लेखनीय हैं जहाँ इसी प्रकार का निर्माण-कार्य हुआ।

### रंगाचारी चंचलकलक्षणी

तमिलनाडु के सबसे अधिक प्रभावशाली मंदिर-समूहों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है : चिगलपट ज़िले के जिन-कांची अर्थात् तिरुपत्तिकुण्ठम् का वैलोक्यनाथ-मंदिर-समूह; उत्तर अकाट ज़िले के पोलूर तालुक में तिरुमलै की प्राकृतिक गुफाएँ एवं निर्मित मंदिर; और कोयंबतूर ज़िले के विजयमंगलम् के मूलतः गंग-काल में निर्मित चंद्रनाथ-मंदिर के बाह्य भाग में एक स्तंभ-युक्त मण्डप के रूप में विजयनगर-काल में किया गया संवर्धन।

चिगलपट ज़िले के तिरुपत्तिकुण्ठम् के जिन-कांची-समूह में प्रवेश के लिए सघन प्राकार-बंध के उत्तर में गोपुर-शैली का एक विशाल द्वार है। इस समूह का महत्व इसलिए है कि उसके विभिन्न मंदिरों के 'दक्षिणी' विमान-शैली के गज-पृष्ठ विविध प्रकार के हैं (चित्र २०६)। उदाहरण के लिए : नीचे चतुष्कोणीय और ऊपर अर्ध-वृत्ताकार, नीचे से ऊपर तक अर्ध-वृत्ताकार, नीचे से ऊपर तक वर्तुलाकार। नीचे चतुष्कोणीय और ऊपर अर्ध-वृत्ताकार, गज-पृष्ठ वाले बासुपूज्य-नभालिय का पाषाण-निर्मित अधिष्ठान उत्तरकालीन चोलों के समय का है और इसके प्रस्तार की भित्तियाँ इट और चूने से बनी हैं। इस मंदिर-समूह का त्रिकूट-बस्ती नामक मंदिर इसलिए भी प्रसिद्ध है कि उसमें स्थापित मूर्तियाँ काढ़-निर्मित हैं। इसका संगीत-मण्डप अत्यधिक मूल्यवान् है क्योंकि एक तो इसमें कही अभिलेख है और दूसरे इसमें जैन श्री-पुराण को चित्रित किया गया है और चित्रों के साथ उनके शीर्षक भी दिये गये हैं।

वैलोक्यनाथ-मंदिर-समूह में एक उन्नत प्राकार के भीतर उसी के अंतर्भाग से सटे हुए दो उप-समूह हैं, एक भीतर की ओर मध्य में और दूसरा बाहर की ओर।

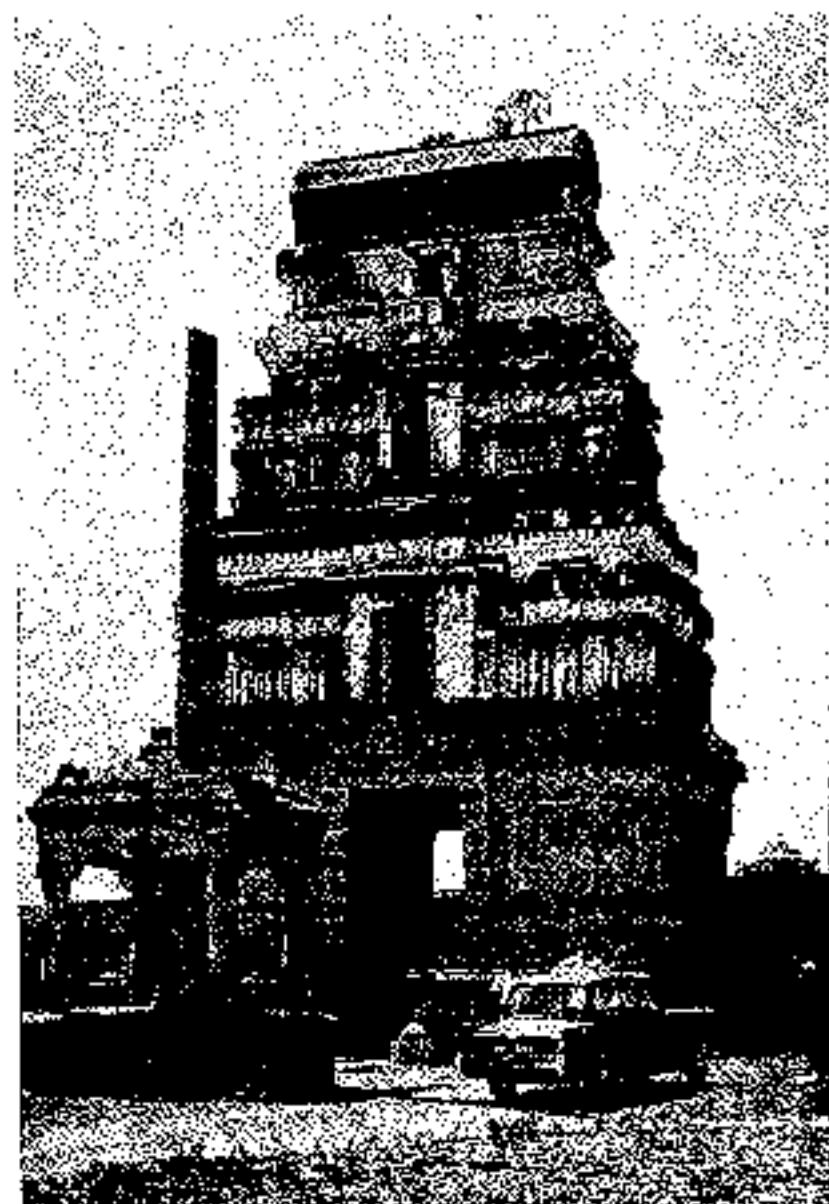
भीतर की ओर मध्य में स्थित उप-समूह में वर्षमान का एक अर्ध-वृत्ताकार मंदिर है जिसके एक ओर तीव्रकर पुष्पदत्त का और दूसरी ओर नेमिनाथ की यक्षी धर्मदेवी का मंदिर है। यह मंदिर इन दोनों मंदिरों का एक भाग बन गया है। इन तीनों का एक ही अर्ध-मण्डप और एक ही मुख-



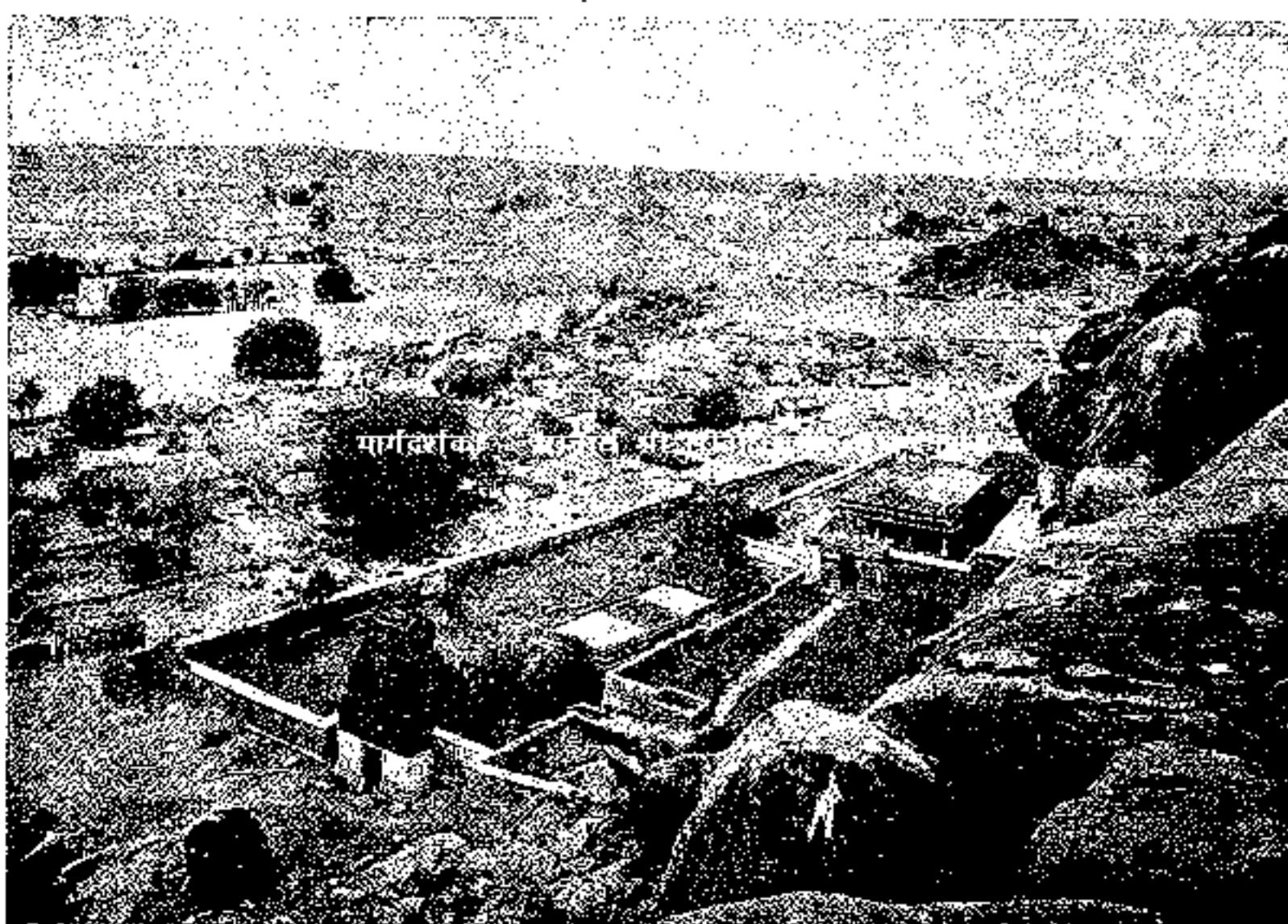
तिरुपुरत्तिक्कुम्प्रम् — महावीर-मंदिर



(क) विजयमंगलम् — चन्द्रनाथ-मंदिर



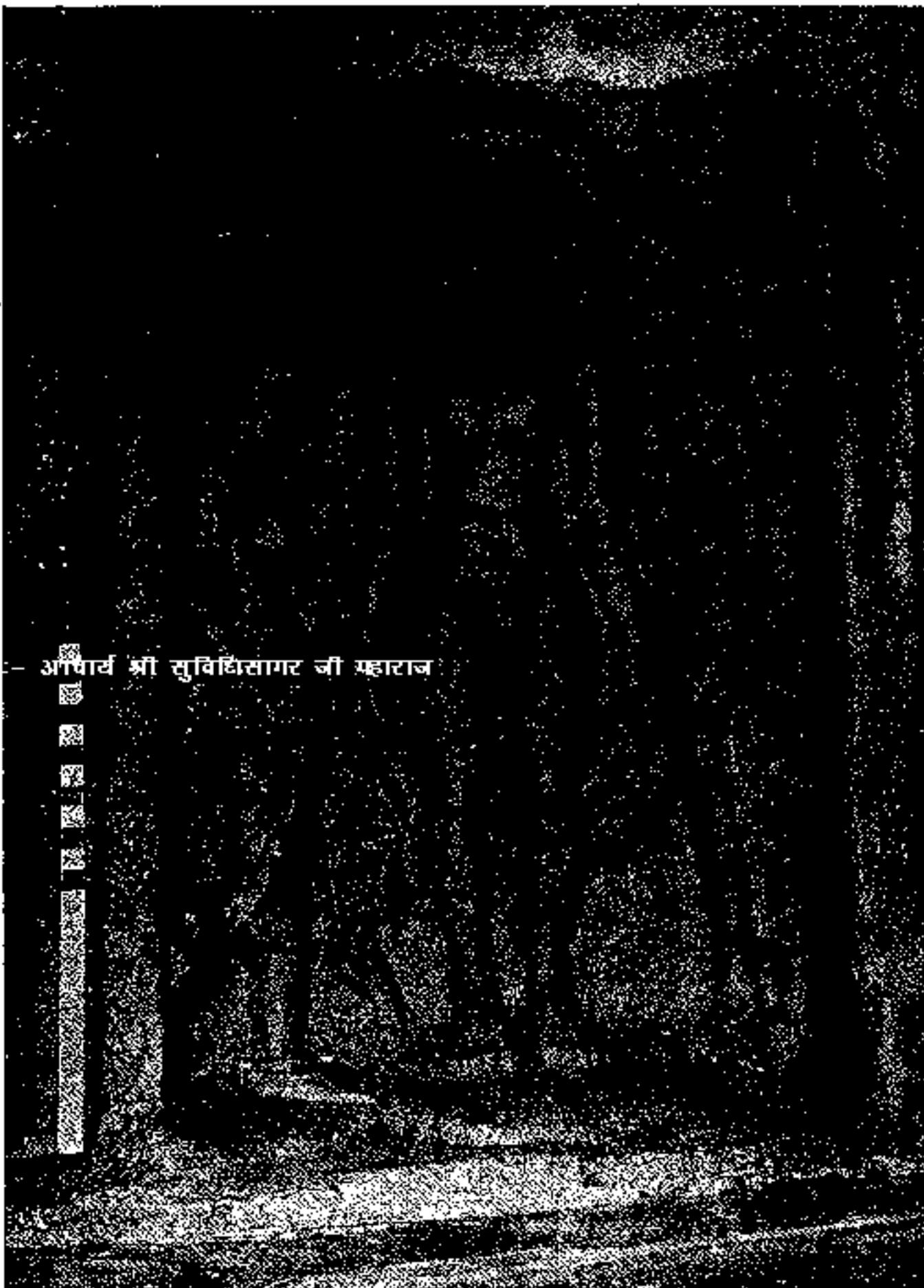
(ल) विजयमंगलम् — चन्द्रनाथ-मंदिर, भोपाल



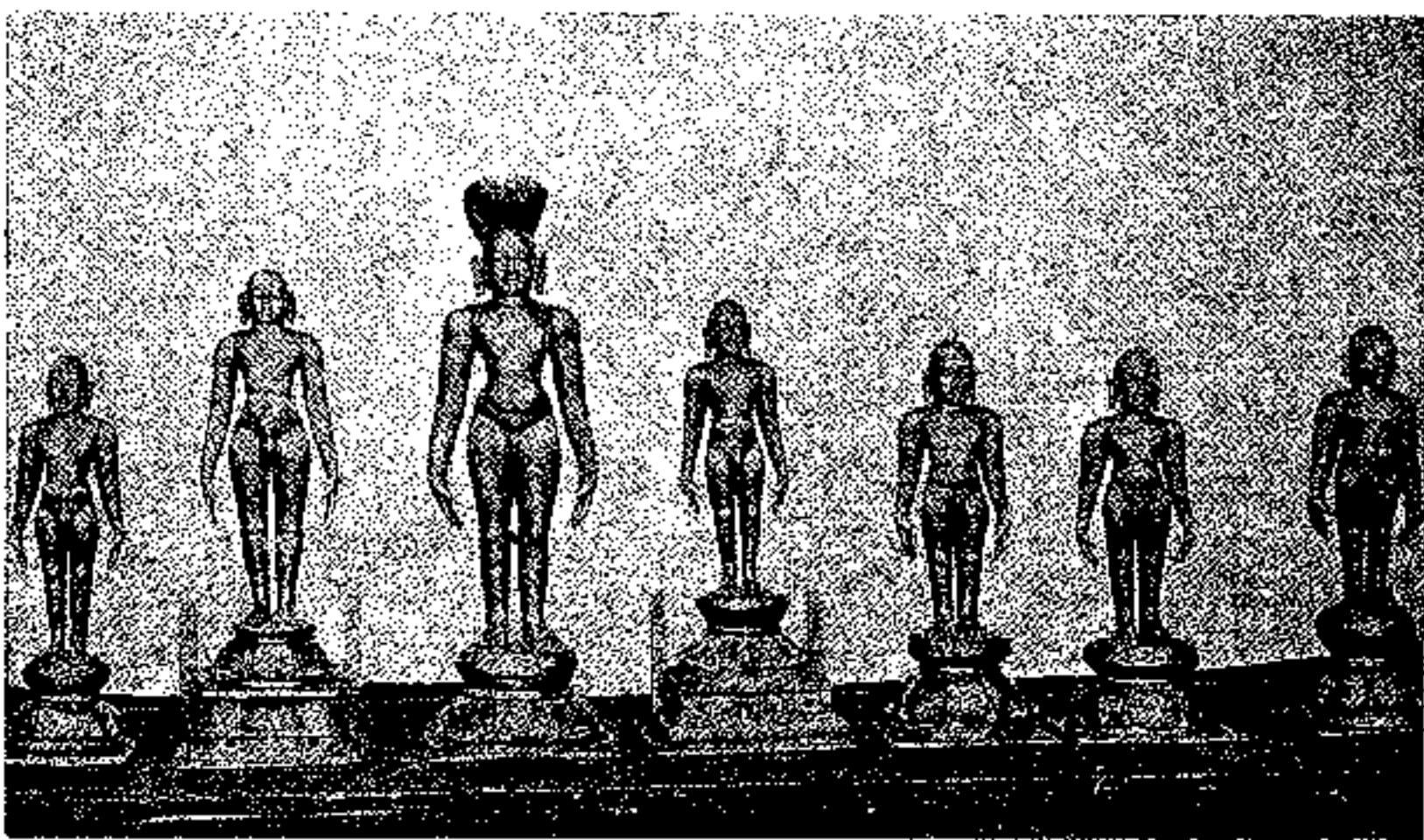
तिरमली — मंदिर, विहंगम दृश्य



तिष्ठमसै — मंदिर का आकार और गोपुर



लिहमली — अमरिको-मंदिर में गोमट की शैलोत्तरीण मूर्ति



देंकुण्डः — तीर्थंकरों की कांस्य-मूर्तियाँ



(क) वालवुलपडु — तीर्थकर पाश्वनाथ



(ख) वालवुलपडु — वर्त्तलाकार पीठ में चौभुख



(क) शानदुलपड़ — दर्तुलाकार पीठ के किनारों पर देव-देवियाँ



(ख) विलिवदकर्म — शीर्षकर-मूर्ति

मण्डप है। इनके सभी पौर्णों का समूह है जिसे चिकूट-बस्ती कहते हैं और जिसका अपना अर्ध-मण्डप और मुख-मण्डप हैं। तीन-तीन मंदिरों के इन दोनों समूहों के सामने एक कल्याण-मण्डप है जिसका उल्लेख वहाँ के अभिलेखों में (चित्र २१०) संगीत-मण्डप के नाम से हुआ है।

इस मंदिर-समूह का वर्षमान-मंदिर कदाचित् सबसे प्राचीन भाग है, यद्यपि अब इसका मूल रूप कुछ भी नहीं बच रहा है और अब उसके स्थान पर इंटों से बना हुआ एक मंदिर है (चित्र २११)। प्रतीत होता है कि यह मंदिर अपने मूल रूप में पाषाण से निर्मित था और ध्वस्त हो जाने से कुछ समय पूर्व ही उसका यह रूप अस्तित्व में आया। इस मंदिर को इंटों से बनाने से पूर्व उसका पाषाण से निर्मित अधिष्ठान तिरुपत्तिकुण्डम् से बीस किलोमीटर दूर करण्डे ले जाया गया जहाँ आचार्य अकलंक की स्मृति में वह आज भी विद्यमान है।

वर्षमान-मंदिर और उसके आसपास के दो मंदिरों का अर्ध-मण्डप उनके मूल रूप के साथ नहीं बना और वर्तमान रूप के साथ भी नहीं, वह उन दोनों के मध्य के किसी समय बना होना चाहिए। लघु आकार के चतुष्कोणीय धर्मदिवी-मंदिर के विषय में एक विशेष बात यह है कि उसमें इस समय विद्यमान मूर्ति की स्थापना तेरहवीं शताब्दी में शिव-कांची के कामाक्षी-मंदिर से लाकर की गयी थी, यह एक अन्य अनुश्रुति के अनुसार, नौवीं शताब्दी में आदि शंकराचार्य के द्वारा कामाक्षी-मंदिर में कामकोटि-पीठ की स्थापना के पश्चात् इसकी स्थापना वहाँ से यहाँ की गयी थी। यद्यपि इन दोनों अनुश्रुतियों पर स्पष्ट रूप से प्रश्न उठ सकता है पर उनसे एक उल्लेखनीय तथ्य अवश्य व्यक्त होता है कि कामाक्षी-मंदिर के स्थान पर मूल रूप में धर्मदिवी का जैन मंदिर था। धर्मदिवी की मूर्ति शेनाइट पाषाण की है किन्तु वर्षमान और पुष्पदंत की मूर्तियाँ काष्ठ-निर्मित हैं। उनपर पालिश किया गया है और दायाँ करतल बायें करतल पर रखे हुए वे मूर्तियाँ पर्यंकासन में हैं। धर्मदिवी के पीछे उसका लाठन सिंह अंकित है और उसके पद्मासन पर उसके दोनों पुत्रों और एक नारी-अनुचर की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं।

**चिकूट-बस्ती मूलतः** दो मंदिरों का ही समूह था, पद्मप्रभ और वासुपूज्य का; और दोनों की विन्यास-रेखा और चतुष्कोणीय अधिष्ठान प्रायः एक-समान हैं। किन्तु एक और मंदिर, पाश्वनाथ का, उन दोनों के बीच में बना दिया गया है जो उन दोनों के संयुक्त अर्ध-मण्डप की सीमा से सटा हुआ है। वासुपूज्य-मंदिर के घरणों पर कुलोत्तुंग-प्रथम (१०७०-११२० ई०) के अभिलेख उत्कीर्ण हैं। उसके अधिष्ठान के घटकों पर विक्रम चोल के ११३१ ई० और ११३५ ई० के अभिलेख हैं। कहा जाता है कि ये तीनों अभिलेख मूलतः वर्षमान-मंदिर के अर्ध-मण्डप की दक्षिणी भित्ति में जड़े थे क्योंकि तब न तो चिकूट-बस्ती का निर्माण पूरा हुआ था और न वर्षमान-मंदिर के अर्ध-मण्डप का, जहाँ ये अभिलेख अब स्थित हैं। जो अभिलेख निर्माण-कार्य के कारण दृष्टि से अोक्तल होते दिखे उनकी प्रतिलिपि उत्कीर्ण कराकर मंदिर के सामने मुख्य स्थान पर स्थापित कर दी गयी, जैसा कि इस मंदिर-समूह में

कई स्थानों पर हुआ है। इस दृष्टि से, इस मंदिर का ग्राचीनतम् अभिलेख कुलोत्तुंग-प्रथम् (लगभग १११६ ई०) के पाँचवें-छठे वर्ष में उत्कीर्ण हुआ था, इसलिए वर्धमान-मंदिर का अर्ध-मण्डप इस तिथि से पहले का होना चाहिए। इससे स्वयं वर्धमान-मंदिर उससे भी पहले का सिद्ध होता है। संगीत-मण्डप के उत्तर-पूर्व कोण के एक स्तंभ पर मण्डप के निर्माण के लिए दान करनेवाले की आङ्कुति उत्कीर्ण है जो वही इरुगुप्प है जिसका उल्लेख मंदिर की छत पर उत्कीर्ण अभिलेखों में मण्डप के निर्माण के रूप में हुआ है। बुक्कराय-द्वितीय का सेनापति और मंत्री यह व्यक्ति वही है जिसका उल्लेख हम्पी के मणिगित्ति-जिनालय के स्तंभ-अभिलेखों में हुआ है। इनकी तिथि १३६५ ई० मानी गयी है जो तिरपरुत्तिकुण्ठम् के संगीत-मण्डप के निर्माण से छीक दो वर्ष पहले की है।

इस मंदिर के चारों ओर वृत्ताकार में लघु मंदिरों आदि की पंक्ति है जिसके अंतर्गत दक्षिण-पश्चिमी कोण पर ब्रह्मदेव का मंदिर, उत्तर-पश्चिमी कोण पर ऋषभदेव का मंदिर और उत्तर-पूर्वी कोण पर प्रशालों की एक लंबी पंक्ति है; सभी प्रशालों के साथ एक बरामदा है और उन्हें मुनिवास कहते हैं। इसे मुनिवास कहने का कारण संभवतः यह मान्यता है कि इसी स्थान पर हुए पाँच मुनियों की आत्माएँ स्मृति-रूप में इन पाँचों गर्भगृहों में रह रही हैं। इनमें से दो गर्भगृह चौदहवीं शताब्दी के मलिकेष्व और पुष्पसेन के लिए निर्मित हुए थे। यदि यह ऐसा ही है तो उनके जन्म और मृत्यु की तिथियों के अवधार पर ये गर्भगृह पंद्रहवीं या सोलहवीं शती से पूर्व के नहीं माने जा सकते। इनमें मध्यवर्ती गर्भगृह से वर्धमान और पाश्वनाथ की एक-एक सूति है। स्पष्ट है कि यह इन मूर्तियों का मूल स्थान वहीं है।

प्राकार के पश्चिम भाग में एक तमिल अभिलेख है जिसमें वृत्तांत है कि इस मंदिल (प्राकार-सित्ति) का निर्माण अल्लिय पल्लवन् ने कराया था, इसका समीकरण राजराज-तृतीय के सामंत कोप्पेरुलजिंग के द्वारा किया गया है, और इस अभिलेख में उल्लिखित उसकी स्वतंत्र मूर्तियों की तिथि से इस प्राकार की तिथि १२४३ ई० से बाद की सिद्ध होती है, जब उसने स्वयं राजमुकुट धारण किया था।

विजयमंगलम् के चंद्रनाथ-मंदिर-समूह (चित्र २१२ क) में अंतर्भूग के महा-मण्डपों से अग्रगे स्थित अहिभागि के जो मण्डप है वे विजयनगर-काल में निर्मित हुए थे—यह तथ्य उनके स्तंभों, शिलांकनों और सान-स्तंभ से और मंदिर-समूह के विशाल गोपुर-द्वार से प्रमाणित होता है (चित्र-२१२ ख)। मंदिरों के सम्मुख और उत्तुंग मात-स्तंभ बताने की प्रथा इस जिले में व्यापक स्तर पर रही है, यहाँ तक कि व्याघ्र-मंदिरों के प्रवेश-द्वार के सम्मुख भी ऐसे विशाल स्तंभ (एक ही पाषाणफ से या कई शिलाखण्डों से) बनाये गये।

तिरुमलै में दो विभिन्न मंदिर हैं। उनमें से एक पर शिखर है जो उत्तरकालीन चोल-

शैली की है और जिसमें कोई अलंकरण नहीं है। विजयनगलम् के मंदिर की भाँति इस मंदिर के भी गभर्लिय में, शिखर के अंतर्भुग के ठीक आरंभ में, ढोलाकार अंतभित्तियों पर वंकितबद्ध चित्रकारी की गयी है।

उत्तर अकाट जिले की एक छोटी पहाड़ी पर स्थित इस प्रकृति-रमणीय ग्राम में कुछ जैन मंदिर (चित्र २१३) हैं। पहाड़ी पर नेमिनाथ की एक बहुत बड़ी मूर्ति और गुफाओं की एक पंक्ति है गुफाएँ अथवा आवास-गृह के रूप में परिवर्तित कर दी गयी हैं और उनमें विविध प्रकार की ज्यामितिक तथा अन्य चित्रकारी है जिसमें सम्बवसरण के दृश्य भी हैं। राष्ट्रकूट, केद्रीय चौल, विजयनगर और नायक शासकों के समय के किया-कलापों से इस स्थान की ल्याति फैली। यहाँ अंत्यंत सुंदर शिल्पांकन सहित शिलाएँ और वक्ष-यक्षियों आदि की मूर्तियाँ हैं। क्रमशः वर्धमान और नेमिनाथ को समर्पित दोनों मंदिर पूर्वतया 'दक्षिणी' विमान-शैली के हैं और उनका निर्माण क्रमशः शोल और विजयनगर काल में हुआ; इनमें से नेमिनाथ-मंदिर बड़ा है और पहाड़ी की अधित्यका पर गुफानश्वायों के पास स्थित है। वर्धमान-मंदिर उससे छोटा और नीचे की ओर स्थित है और उसमें भी, प्रायः विजय-मंगलम् के मंदिर की भाँति शिखर के अंतर्भुग के आरंभ में और भित्तियों के ऊपरी भाग पर वंकितबद्ध चित्रकारी है।

तिरुमले का मंदिर-समूह पहाड़ी की उपत्यका में एक प्राकार के अंतर्गत स्थित है जिसके पूर्व में एक बहुत उत्तुग गोपुर-द्वार (चित्र २१४) है। वर्धमान के लिए समर्पित मंदिर इस ऊँचाई पर प्राकार में एक ही है और उसके दीन तलों पर वर्तुलकार श्रीदा तथा शिखर हैं। इसके अर्ध-मण्डप, महो-मण्डप और मुख-मण्डप की योजना अक्षीकार है और उन तीनों की संयुक्त छत समतल है। इसके गर्भगृह में उत्तीर के ऊपर भित्तियों पर कदाचित् आरभिक विजयनगर-काल की चित्रकारी है। दूसरे जगती-पीठ पर पुनः एक प्राकार-बेब है पर इसका गोपुर-द्वार अपेक्षाकृत लघु आकार का है; और दुभाग्य से इसका ऊपरी भाग नष्ट ही गया है। इस प्राकार-बेब के अंतर्गत एक विशाल मंदिर है, इसका भी शिखर-भाग नष्ट हो गया है। इस मंदिर का गर्भगृह असुष्कोणीय है और इसके अर्ध-मण्डप और मुख-मण्डप के आकार बहुत विशाल हैं। दोनों मंदिरों के मुख-मण्डपों के विशाल उत्तीरों के नीचे विजयनगर की विशेष शैली की कोडुंगड प्रकार की टोडियाँ हैं। इसके पश्चात् सबसे अधिक ऊँचाई पर निर्मित जगती-पीठ पर भी एक मंदिर है पर यह एक उभरी हुई चट्ठान के किनारे से इस प्रकार संलग्न है कि उसके गुफा की भाँति भीतर की ओर के रिक्त स्थान से इस मंदिर की घथोचित संगति बैठ गयी है, और इस संगति का एक कारण यह भी है कि शिला को कई स्थानों पर काटकर गभर्लियों का रूप देकर उनके साथ भूतल का निर्माण कर दिया गया है। इस तरह के गभर्लियों में जो सबसे अधिक ऊँचाई पर है वह उस आयताकार चट्ठान के ठीक नीचे पड़ता है जो ऊपर से बाहर की ओर निकली हुई है। भूतल पर स्थित मण्डपों के ऊपर तीन तल और हैं। निर्मित मण्डपों के मध्य में स्थित सोपान-वीथिकाएँ अंतर्रस्ते का काम करती हैं। प्रथम तलों की मूल आधार कोण-स्थित भित्ति-स्तंभ हैं किन्तु ऊपर के दो तल इनसे भिन्न हैं। उपरितम् तल से नीचे का तल के बीच भित्ति-स्तंभों पर

परमपरागत प्रतिभा और प्रथा का अनुकरण किया। तथापि स्थापत्य और मूर्तिकला दोनों में उन्होंने आड़वर-हीनता के साथ गतिशीलता भी रखी, किन्तु कभी-कभी इसमें अंतर भी पड़ा; शिल्पांकनों में भी और चित्रकारी में भी स्तंभों पर आवश्यकता से भी अधिक पट्टिकाएँ उकेरी गयीं; चित्तियों पर तीर्थकरों, देवों, यज्ञों, यथियों आदि की मूर्तियाँ इतनी अधिक बनायी गयीं कि उनसे उकताहट होने लगी और उनके कारण स्थापत्य और मूर्तिकला का यथार्थ सौर्य आनुष्ठानिक साज-सज्जा में विलीन होकर रह गया। वस्तुतः जैन कला ने इस काल में कभी तो आद्योपात, और कभी, कहीं-कहीं, सौर्यगत सूक्ष्मता और भावना से मानो कुछ दुराव ही किया। किन्तु यह उल्लेख अवश्य किया जाना चाहिए कि वास्तविक कला-प्रबण्णता और संगति का तत्त्व उनमें आदि से अंत तक बना रहा जो स्थान-स्थान पर एक विशेष लालमाल से निभित पद्मासन या खड़गासन तीर्थकर-मूर्तियों में देखा जा सकता है।

पाषाण आदि मूल सामयी का अन्यथा प्रभाव शैली पर तथा अन्य तत्त्वों पर पड़ा, इसके कई पहलू ये थे जो बढ़मूल होते-होते कमशः शैलीय शैलियों या भवदाओं के रूप में सामने आये। उदाहरण के लिए पेहुंच तुम्बलम्, चित्पगिरि या दानवुलपड़ (चित्र २१७ क) में अपनायी गयी यादव-काकतीय शैली के अंतर्गत कपोलास्थिया उभरी हुई दिखाई गयी और कपोलों को मुखभाग के बर्तुलाकार से इतनी दूरी पर दिखाया गया कि वे समतल प्रतीत होने लगे। शरीर आगे की ओर भुका हुआ और हाथों तथा पैरों के निचले भाग पतले कर दिये गये। शिला-फलक पर मुख्य मूर्ति के परिकर के रूप में सिंह-ललाट सहित मकर-तोरण होता (जैसा कि ब्राह्मण शिल्पांकनों में भी हुआ)। शरीर सुता हुआ दिखाया गया और कंदों, नितंबों, कटि आदि का आकार यथोचित अनुपात में लिया गया। किन्तु होयसलों और पश्चिमी चालुक्यों की शैली के अंतर्गत मुख-मण्डल और शरीर को सुपुष्ट और मांसल दिखाया गया, और तीर्थकर-मूर्ति के परिकर में, उसके आकार और शिलांकन के अनुरूप, मकर-तोरण, चमरधारी, यक्ष तथा अन्य अलंकरण प्रस्तुत किये गये।

पश्चिमी ओश्म प्रदेश में चौमुख का भी प्रचलन था। यह एक प्रकार का बहनीय मंदिर था जो एक बर्तुलाकार पीठ पर संयोजित एक ऐसे स्तंभ का प्रतिरूप होता है जो ब्राह्मण धर्म में प्रथमित लिंग से प्रायः आकृति में एकरूप है। इसका एक अच्छा उदाहरण भद्रास संभ्रहालय (चित्र २१७ ख) में है जो दानवुलपड़ से प्राप्त हुआ था। ऐसे चौमुखों पर संगीत-मण्डलियों और विद्यावरों के साथ अग्नि, यम, वरुण, रेतं आदि दिक्षालों का मूर्त्यकल पीठ के पादर्थ-कोणों पर (चित्र २१८ क) और विशेष रूप से सुपाश्वनाथ और दर्घनान का सम्मुख पाश्वरों पर होता है। इस प्रकार के चौमुखों में सर्वप्रथम कदाचित् राष्ट्रकूट-काल का था जैसाकि उपर्युक्त स्थान से प्राप्त हुए एक अभिलेख से ज्ञात होता है। यह अभिलेख जिस चौमुख पर उत्कीर्ण है वह नित्यवर्ष हन्द्र-तृतीय (दसवीं शती) के समय का माना जाता है। उसकी स्थापना तीर्थकर शांतिनाथ की भव्य प्रतिष्ठा के अवसर पर

की गयी थी। इससे जैन कला पर भी राष्ट्रकूट ब्राह्मण्य कला का शैलीगत प्रभाव प्रतीत होता है।

तमिलनाडु की मूर्तिकला में आडबरहीतता इतनी अधिक है कि उसमें कलागत अलंकरण नगण्य हैं, क्योंकि एक तो उनमें ग्रेनाइट पाषाण का प्रयोग हुआ है और उनमें यहाँ के अन्य केंद्रों की तुलना में कुछ अधिक ही कठोर परंपराएँ रही हैं। इतना सब होते हुए भी, इनमें कुछ अभिप्रायों की संयोजना है जिनके शैलीगत विकास में एक विशेष उद्देश्य निहित है। ऐसा ही एक अभिप्राय विच्छिन्न है जो या तो एक ही पाषाण में इस तरह उत्कीर्ण किया जाता कि वे एक प्याले पर दूसरे और दूसरे पर तीसरे प्याले की भाँति ऊपर रखे दिखते हैं, या फिर उन्हें इस तरह प्रस्तुत किया जाता कि उनके किनारे थोड़े से उभरे हुए होते और उनपर सर्वांग पुष्पावली अंकित होती। छत्रावली के आसपास के स्थान पर लताओं को अलंकरण के रूप में अंकित किया जाता जिनमें से कुछ शास्त्रविहित होते, कुछ शैलीगत होते और कुछ में कलिकाओं, पुष्पावली आदि की प्रस्तुति होती और यदा-कदा लताओं को कुण्डलाकृतियों और बंदनवारों के अंकनों से अत्यधिक अलंकृत कर दिया जाता। ग्रेनाइट के मूर्त्यकनों में भी मूर्ति-शिल्प की दो प्रवृत्तियाँ रहीं। उनमें से एक के अनुसार गुणों और प्रकृति-सम्पद की अभिव्यक्ति को महत्व दिया गया और दूसरी के अनुसार शरीर के आवासों में कोणों पर बल दिया जाता; मस्तक और शरीर को चतुष्कोणीय रखा जाता और मूर्ति का समूचा रूप अपेक्षाकृत आकर्षणहीन रह जाता। तथापि, आरंभिक सध्यकाल (दसवीं से तेरहवीं शताब्दी) की सभी मूर्तियों में अत्यधिक सुगठित शरीर और संयुत बलिष्ठता की अभिव्यक्ति हुई। मकर-तोरणों और चमर-धारियों की संयोजना या तो की ही नहीं गयी या उन्हें बहुत कम महत्व दिया गया। दक्षिण कनारा आदि कुछ समुद्रतटीय स्थानों में जैन धर्म को निरंतर संरक्षण मिला। यहाँ मूर्तियों के पालिश और आकार को इतना अधिक महत्व दिया गया कि उनके अंगोंपांगों का अनुपात भी गौण हो गया; इसका परिणाम यह हुआ कि अधिकतर मूर्तियों में शरीर-भाग की अपेक्षा मस्तक-भाग छोटा हो गया, हस्त और पाद अत्यंत निर्बल और शिथिल बन गये और परंपरा से बनती आयी कण्ठ और नाभि की श्रिवलियाँ केवल गहराई तक उत्कीर्ण करके ही बना दी गयीं। तमिलनाडु के शक्करमल्लूर, विलिं-वक्कम् (चित्र २१८ ख), व्यासर्पदि आदि में और हम्पी, पेहुंचुम्बलम्, हलेबिड आदि में विभिन्न राजवंशों के कारण आयी क्षेत्रीय प्रवृत्तियाँ पृथक्-पृथक् दीख पड़ती हैं। तथापि, सांस्कृतिक मूल्य सर्वांग एक-समान हैं। किन्तु दक्षिण के विजयनगर और नायक राजवंशों के काल के ग्रेनाइट पाषाण के शिल्पांकन अपनी उत्कृष्टता के कारण दक्षिणापथ के अत्यधिक सुंदर शिल्पांकनों की तुलना में बड़ी सीमा तक सफल होते हैं। पेहुंचुम्बलम् से प्राप्त और अब मद्रास संग्रहालय में संगृहीत अजितनाथ की एक मूर्ति अतिशय सुंदर और सौम्य बन पड़ी है और उसमें यदि कोई त्रुटि है भी तो वह अलंकृत प्रभावली के कारण छिप गयी है। इस मूर्ति से, अन्य अनेक मूर्तियों से भी अधिक, यह प्रकट होता है कि अपने शिल्पांकन को अधिकाधिक आकर्षक बनाने के लिए यादवकालीन कलाकार ने कल्याणी के चालुक्यों, होथसलों और दक्षिणापथ की परंपरागत शैलियों को किस प्रकार समन्वित किया। तथापि, किसी पृथक् मंच की स्थापना किये बिना ही जैन कला निरंतर प्रगति करती रही और इसी कारण कला-

जगत् में उसने एक तरी ही प्रवृत्ति का प्रवर्तन किया जिसमें प्रतीकों का स्थान है और आंतरिक वालिष्ठता का भी; और उसमें शरीर-गठन और पालिश का तथा अवयवों की मांसलता का भी ध्यान रखा गया है।

के० बौ० सौदर राजन्



भाग 6

वास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला  
1300 से 1800 ई०



## अध्याय 25

### उत्तर भारत

#### कूमिका

उत्तर भारत के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात करते हुए तेरहवीं शताब्दी सांस्कृतिक किंतिज की मध्ययुगीन प्रारंभिक एवं मध्यवर्ती परिस्थितियों के बीच एक विभाजन-रेखा प्रस्तुत करती है। मध्यकाल का प्रारंभ उस समय से होता है जब विदेशी आक्रमणकारियों ने इस्लाम धर्म के झण्डे तले दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ़ हो अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना लिया तथा राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रसार के लिए अपनी नीतियों को लागू कर दिया; जिसके परिणामस्वरूप इस देश की पूर्ववर्ती जीवन-पद्धति, परंपराएँ, सांदर्यपरक दृष्टिकोण तथा कलात्मक मूल्यों की उपेक्षा हुई और एक नयी संस्कृति के नये मालदण्ड तथा कला के नये लक्षणों का विकास हुआ। इन विजेताओं द्वारा जिन धार्मिक भवनों का निर्माण कराया गया थे इस देश की मान्य परंपराओं के प्रतिकूल थे। इस काल तक भारतीय मंदिर-स्थापत्य और उससे संबद्ध चित्र एवं मूर्तिकलाएँ रीतिवद्ध ढंग से उस पूर्ण परिपक्व अवस्था में पहुँच चुकी थीं जहाँ उनके भावी विकास की संभावनाएँ बहुत ही कम रह गयी थीं। इसके आगे की शताब्दियों में उत्तर भारत के आहारणों तथा उन्हीं की भाँति जैनों ने भी परिवर्तित परिवेश के अनुरूप स्वयं को ढालने तथा अपनी सांस्कृतिक घरोहर को यथावत् सुरक्षित रखने का प्रयास किया।

सुलतानों के शासनकाल के प्रथम चरण में इस देश के जन-साधारण का सांस्कृतिक जीवन अत्यंत अस्त-अस्त रहा, मंदिर और मठ आदि धार्मिक संस्थान सुखारूप से अपना कार्य नहीं कर सके। यह स्थिति मध्य देश में तो विशेष रूप से रही। वहाँ कई शताब्दियों तक ऐसे किसी नये मंदिर का निर्माण नहीं हुआ जिसका विशेष रूप से उल्लेख किया जा सके। कुछ साधारण मंदिरों में प्रतिमाएँ अवश्य स्थापित की गयीं जिनमें से भी अधिकांशतः प्रतिमाएँ पुरानी थीं। ऐसी ही कुछ तीर्थकरों की प्राचीन प्रतिमाओं को जिनदत्त-सूरि ने एक मंदिर में पुनर्प्रतिष्ठित कराया। ये प्रतिमाएँ उन्होंने मुहम्मद तुगलक से प्राप्त कीं जो उसके अधिकार में थीं।<sup>1</sup> इस काल में धार्मिक

<sup>1</sup> जिनप्रभ-सूरि, विविध-सीरीज़-कल्प, संपा., जिनविजय, 1934, यांत्रिनिकेतन, पृ. 45.

यत्-मतात्मरों के मध्य वैचारिक अदान-प्रदान के माध्यम मात्र वे साक्षु थे जो देश के विभिन्न भागों में निरंतर अपना किया करते थे। पश्चिम-राजस्थान तथा अन्य पूर्ववर्ती क्षेत्रों की स्थिति कुछ संतोषजनक थी, जिसका कारण यह था कि इन क्षेत्रों की शासन-व्यवस्था स्थानीय हिंदू राजाओं के हाथों में होने के कारण यहाँ पर सुलतानी प्रभाव बहुत ही कम था था। यद्यपि इस स्थिति के उपरांत भी ये क्षेत्र सांस्कृतिक ह्रास की प्रक्रिया को रोक नहीं सके। फिर भी धार्मिक परंपराओं को एक सीमा तक सुरक्षित रखने में उन्होंने सफलता अवश्य पायी थी। भारतीय कला की मुख्य धारा का एक अविभाज्य अंग होने के कारण जैन कला और स्थापत्य इन राजनीतिक परिवर्तनों से अछूता नहीं रह सका। फलतः उसे भी सांस्कृतिक परिवर्तनों के मध्य होकर चलना पड़ा।

यह स्थिति अधिक समय तक नहीं चल सकी और शासक एवं शासित जातियों के मध्य पारस्परिक सांस्कृतिक सद्भाव के रूप में भारतीयकरण की एक त्योहार प्रक्रिया आरंभ हुई जिसके अंतर्गत उत्तर भारत के अनेक क्षेत्रों में मंदिरों का निर्माण कार्य पूरे जोर-शोर से आरंभ हुआ। फलतः राजस्थान में चौदहवीं एवं पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य अनेक उत्कृष्ट मंदिरों की स्थापना हुई।

इस काल में अनेकानेक पाण्डुलिपियों की रचना भी हुई जिनसे जैन शास्त्र-भण्डार संपन्न हुए। इन पाण्डुलिपियों में से अनेक को चिकित्सा भी किया गया था। मंदिर-स्थापत्य और प्रतिमा-कला के पुनरुत्थान के लिए भी तेरहवीं से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक की लंबी कालावधि में पर्याप्त प्रयास हुए किन्तु ये कलाएँ अपने अतीतकालीन वैभव को प्राप्त नहीं कर सकीं।

### स्थापत्य-कला

उत्तर भारत में इस काल के निर्मित जैन मंदिरों की विकास-रूपरेखा की सामग्री की अल्पता सथा उनकी विविध शैली-समन्वित रचनाओं के कारणों को खोज पाना सरल नहीं है। इस काल के जैन मंदिर, जो आज उपलब्ध हैं, वे किसी एक स्थापत्यीय शैली पर आधारित नहीं हैं। उनके रूप और आकारों तथा उनकी निर्माण-योजनाओं की विविधता के अतिरिक्त क्षेत्रीय भिन्नताएँ, राजनीतिक परिस्थितियाँ, बदलता हुआ सौदर्यपरक दृष्टिकोण तथा मंदिरों के निर्माण-कालाओं द्वारा उनपर किया गया व्यय आदि ऐसे अनेक कारण हैं कि वे अपने विकास की किसी सुनिश्चित दिशा की ओर संकेत नहीं कर रहे।

मध्यकालीन जैन मंदिरों के प्राप्त स्थापत्यीय विवरणों के आधार पर उन्हें निम्नलिखित तीन मुख्य समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है: १. पश्चिम एवं मध्य भारत की परंपरागत शैली के जैन मंदिर-समूह; २. हिमालय का मंदिर-समूह; ३. मुगल प्रभावाधीन निर्मित मंदिर-समूह।

**समूह १:** इस समूह के मंदिर सामान्यतः गुजरात, मारु या मारु-गुजर स्थापत्यीय विशेषताएँ अपनाये हुए हैं। कुछ मंदिरों में इन विशेषताओं का न्यूनाधिक अंशों में उपयोग हुआ है तो कुछ

मंदिरों में मध्य भारतीय स्थापत्यीय परंपरा का। नित्तौड़गढ़, नागदा, जैसलमेर तथा राजस्थान के कुछ अन्य जैन मंदिरों को इस समूह के मंदिरों के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। इन मंदिरों में गर्भगृह तथा अंतराल के अतिरिक्त एक या एक से अधिक मण्डप हैं जिनकी छतें कई सतहोंवाली हैं और अलंकृत हैं। उत्तरवर्ती कुछ मंदिरों में गुंबद भी पाये गये हैं। मंदिरों की बाह्य संरचना चौकीदार पीठ पर आधारित है। अनेक मंदिर मूर्ति-शिल्पों से अत्यंत संपन्नता के साथ अलंकृत हैं। जंडा-भाग प्रक्षिप्त लादों से अच्छादित हैं। अधिकांश मंदिरों के छाद्य आकृतिपरक मूर्ति-शिल्पों से सुसज्जित हैं। मंदिरों के शिखर अंग-शिखरों से युक्त होने के कारण भव्य हैं। कुछ मंदिर-शिखरों में भूमिज-शैली का अनुकरण किया गया है; यद्यपि, ऐसे शिखर अत्यल्प ही हैं। इन मंदिरों के स्तंभ या तो साधारण हैं या अति अलंकृत, वृत्ताकार, कई स्तर वाले या फिर संयुक्त प्रकार के हैं। अनेक मंदिरों में छतें अत्यंत दक्षतापूर्ण उद्भूत मूर्ति-शिल्पों की सादा अथवा जटिल अभिकल्पनाओं से अलंकृत हैं। इस परंपरा के उत्तरवर्ती मंदिरों में मुस्लिम-शैली का प्रभाव देखा जा सकता है। रणकपुर स्थित श्रादिनाथ का भव्य चतुर्भुज मंदिर इस काल के मंदिर-वास्तु का सर्वाधिक उल्लेखनीय उदाहरण है। (विस्तार के लिए द्रष्टव्य: अध्याय २८—संपादक)

**समूह २:** इस समूह के मंदिरों के उदाहरण मात्र अल्मोड़ा जिले में छारहाट स्थित छोटे-छोटे मंदिर हैं जिनमें नागर-शैली की चतुर्जोणीय, अलंकरणरहित बड़ी-बड़ी देवकुलिकाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार के अन्य मंदिर भी संभवतः हिमालय के क्षेत्र में रहे होंगे।

**समूह ३:** इस समूह के अंतर्गत उत्तर भारत के उन जैन मंदिरों को परिणित किया जा सकता है जो जैनों की अंतिम शैली के मंदिर रहे हैं। इनके लिए सामान्यतः सोलहवीं शताब्दी का उत्तरवर्ती समय निर्धारित किया जाता है। ये मंदिर उस जैन कला का प्रतिनिधित्व करते हैं जो उत्तरवर्ती मुगल स्थापत्य-शैली से विशेष रूप से प्रभावित है। जैन मंदिरों में मुगल-स्थापत्य का प्रभाव दत्तेदार तोरणों, अरब-शैली के अलंकरणों और शाहजहाँनी स्तंभों में देखा जा सकता है। शाहजहाँनी स्तंभों का आधार-भाग चौकीदार होता है, सध्यभाग शंकवाकार तथा उनके शीर्ष पर छोटा-सा गोलाकार कलश की भाँति गुंबद होता है। इस प्रकार के स्तंभों का बाह्य आकार एक विशेष शैली का होता है। कुछ मंदिरों, विशेषकर जयपुर के पटोदी-मंदिर तथा दिल्ली के जैन मंदिर<sup>1</sup>, में पश्चिम भारतीय मंदिरों की भाँति सर्पिल स्तंभ भी पाये गये हैं। ये स्तंभ रूपाकार में सामान्य हैं और अपने रूप में कलात्मक हासकालीन विशेषताएँ लिये हुए हैं। छज्जों में प्रयुक्त टोड़े यद्यपि विभिन्न आकार-प्रकार के हैं तथापि वे पतले और आकार में प्रभावहीन हैं। इन मंदिरों में स्थापत्यीय भव्यता का अभाव है। वस्तुतः ये जैन मंदिर स्थापत्य की महान् परंपरा का निर्वाह करने में असमर्थ रहे हैं। इस काल के अधिकांश मंदिर आकार में परंपरागत चतुर्भुज प्रकार के हैं जिनमें एक मध्यवर्ती मण्डप है और उसके पीछे की ओर एक गर्भगृह। कुछ मंदिरों में पृष्ठभाग में एक या एक से अधिक लघु

1. फर्यूसन (जेम्स), हिन्दू और इम्बियन एण्ड इस्टनें आर्ट्सिस्ट्स, 2. 1972, दिल्ली, (पृष्ठमुंहित), पृ. 67.

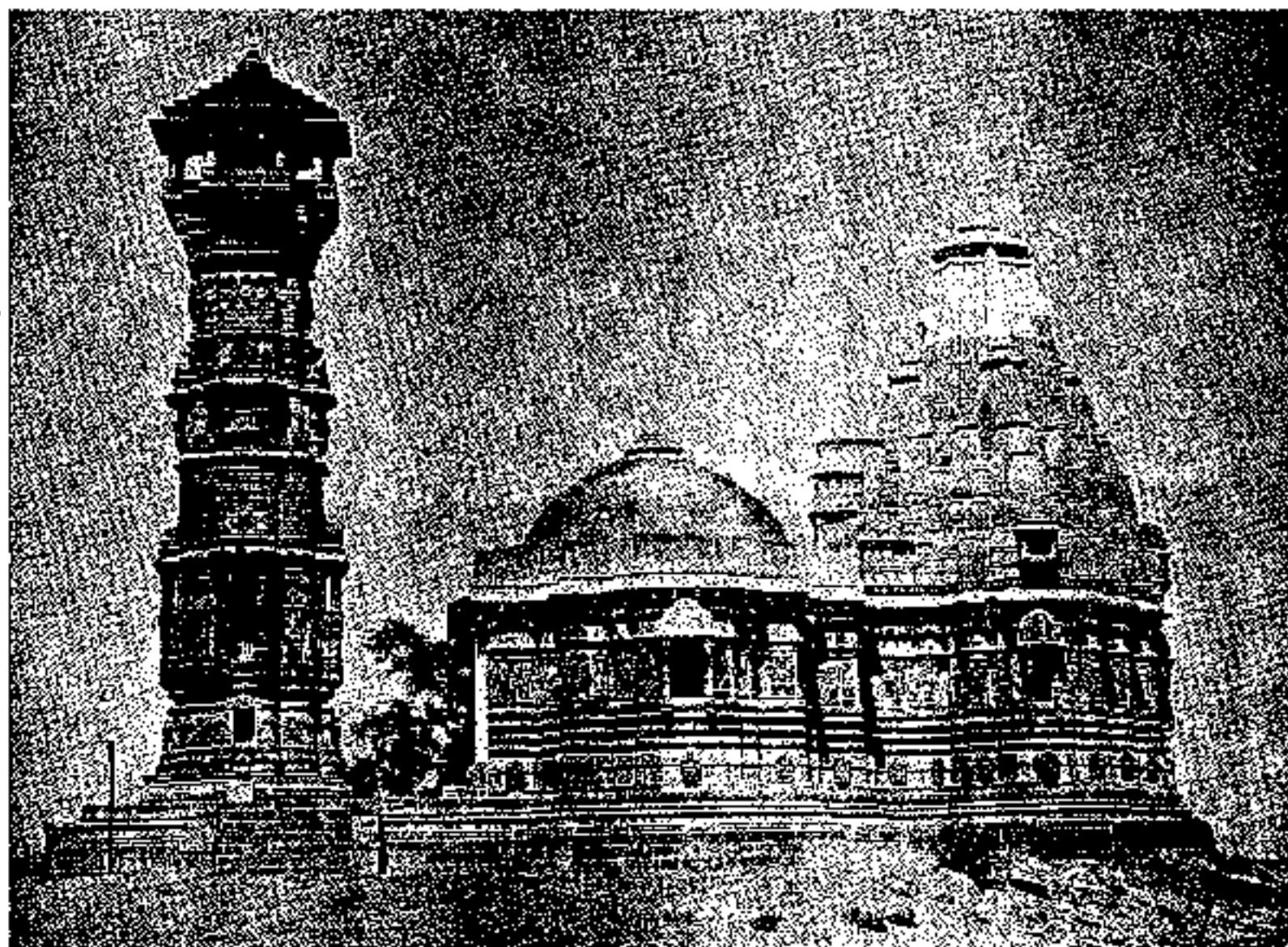
सच्चैत्योभट-चित्रकूट-नगरे नानोल्लसन्-नागरे,  
तीर्थे श्री-करहट-नामाहृदके विश्व-प्रसिद्धाहृये ।  
श्रीमद्देव-कुलाद्य-पाटकापुरे श्री-कुमभमेरी गिरी,  
तीर्थे राणपुरे बसंतनगरे चैत्यं नमस्कुर्वता ॥

गुहिल शासकों की राजधानी चितौड़गढ़ या चित्रकूट मध्यकालीन जैन स्थापत्य का एक सर्वाधिक उल्लेखनीय केंद्र रहा है। यहाँ के जैन स्मारकों में सर्वाधिक उल्लेखनीय कीर्ति-स्तंभ (संभवतः मान-स्तंभ) है जो स्थापत्यीय संरचना निर्मित एक बहुतलीय गमनचुंबी स्तंभ है। इसके काल-निर्धारण के विषय में अनेक विद्वानों का मत है कि यह सन् १२०० से पूर्वकालीन है। लेकिन कुछ विद्वान्, जिनमें एम. ए. डाकी<sup>1</sup> प्रमुख हैं, इसे पंद्रहवीं शताब्दी का मानते हैं। कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि राणा कुमा के काल में इसका मात्र पुनरुद्धार और पुनर्निर्माण हुआ है। कीर्ति-स्तंभ के सभीप स्थित जैन मंदिर (चित्र २१९) पर्सी, आडन<sup>2</sup> के अनुसार, चौदहवीं शताब्दी का है और यह उसी स्थान पर बना हुआ है जहाँ पर पहले इसका मूल मंदिर स्थित था। इसके विष्वर और गुंबद-युक्त मण्डप का बाद में पुनरुद्धार किया गया। परंतु इसका गर्भगृह, अंतराल और उससे संयुक्त मण्डप बाला निचला भाग पुराना हो है। इसकी चौकीदार पोठ पर स्थित बाह्य संरचना में शिल्पांकित आकृतियाँ सथा अन्य असंकृतियाँ उत्कीर्ण हैं जो कलात्मक दृष्टि से अत्यंत संपन्न हैं। इस मंदिर का रथ-भाग, छाया तथा अन्य बाह्य संरचनाएँ इसे अतिरिक्त सौंदर्य प्रदान करती हैं।

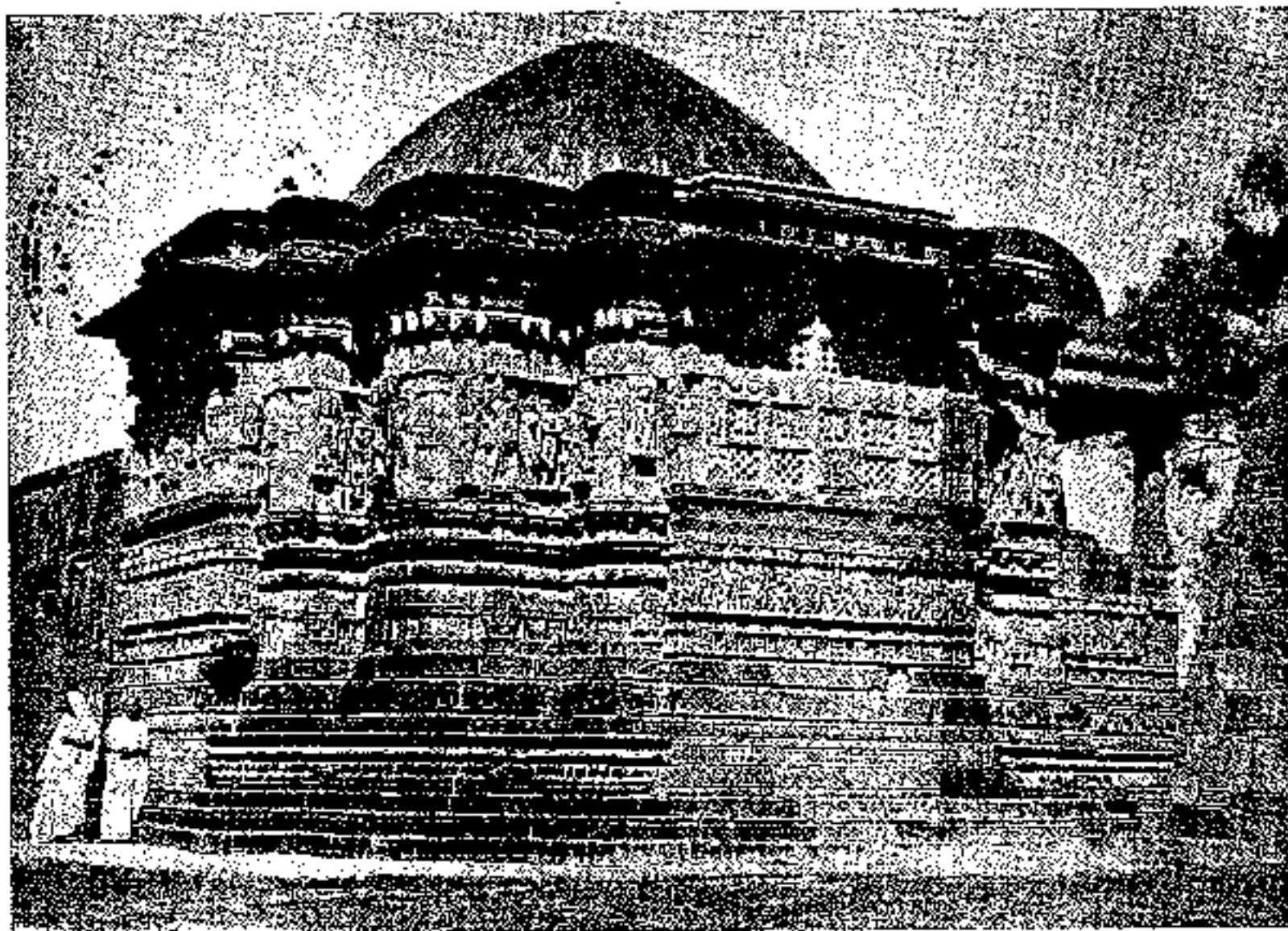
तीर्थंकर शांतिनाथ को समर्पित शृंगार-चौरी (चित्र २२०) स्थापत्यीय दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। सन् १४४८ का निर्मित यह मंदिर पञ्चरथ प्रकार का है जिसमें एक गर्भगृह तथा उत्तर और पश्चिम दिशा से संलग्न चतुष्किर्ण है। गर्भगृह भीतर से अष्टकोणीय है जिसपर एक सादा गुंबद है। मंदिर की बाह्य संरचना अनेकानेक प्रकार की विशेषताओं से मुक्त मूर्ति-शिल्पों से अलंकृत है और जंघा-भाग पर उद्भूत रूप से उत्कीर्ण दिव्यालों, अप्सराओं, शार्दूलों आदि की प्रतिमाएँ हैं। भानवों (या देवी-देवताओं) की आकर्षक आकृतियों (चित्र २२१ क) के शिल्पांकन भी यहाँ पर उपलब्ध हैं। मुख्य प्रवेश-द्वार की चौखट के ललाट-विवर में तीर्थंकर के अतिरिक्त रंगा, और यमुना, विद्यादेवियाँ तथा ढारपालों की प्रतिमाएँ अंकित हैं। गर्भगृह के मध्य में मुख्य तीर्थंकर-प्रतिमा के लिए एक उत्तम आकार का पीठ है, तथा कोनों पर धार स्तंभ है जो वृत्ताकार छत को आवार प्रदान किये हुए हैं। छत लहरदार अलंकरण-युक्त अभिकल्पनाओं से सुसज्जित है जिसमें पद्मशिला का भी अंकन है। इसके चारों ओर गजतालु अंतरावकाशों से युक्त अलंकरण हैं। इस मंदिर के मूर्ति-शिल्प का एक उल्लेखनीय पक्ष यह है कि मंदिर के बाह्य भाग के भीतर अष्टभुजी विष्णु और शिवलिंग जैसी हिन्दू देवताओं की उद्भूत प्रतिमाएँ भी हैं। चारित्रिक विशेषताओं की दृष्टि से ये शिल्पांकित आकृतियाँ विशुद्ध रूप से परंपरागत हैं।

1. डाकी (एम ए). लिलेसांस एण्ड ए लेट नार्सन्जर्ड टेम्पल मार्कीटिक्चर, चर्चेल गॉड व सोसाइटी ऑफ एम्प्रिएट्स आर्ट, स्पेशल वर्क, 1965-66, कलकत्ता, पृ 8.

2. आडन (पर्सी). इम्डियन आर्ट्सेक्चर (पुस्टिस्ट एण्ड रिप्प), 1957, बन्डई, पृ 123.



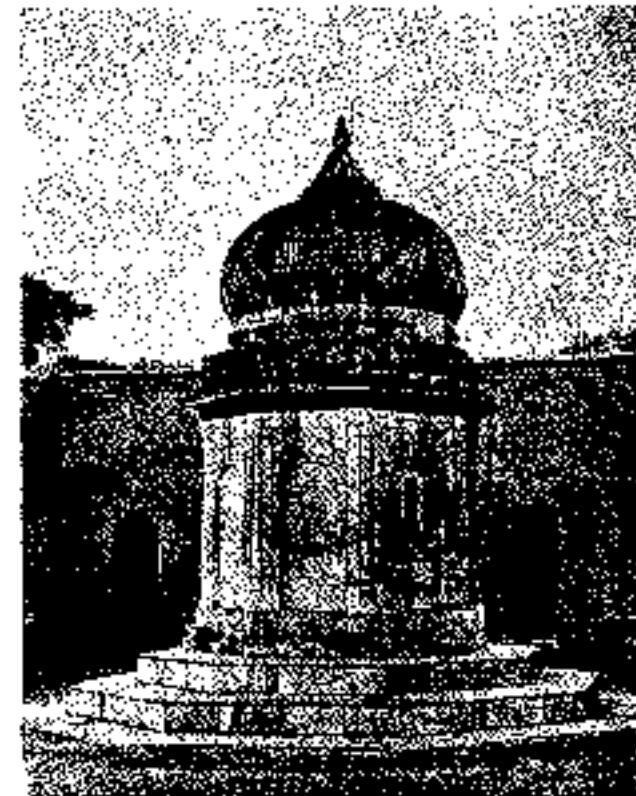
विसौड — कीर्तितंभ और मंदिर



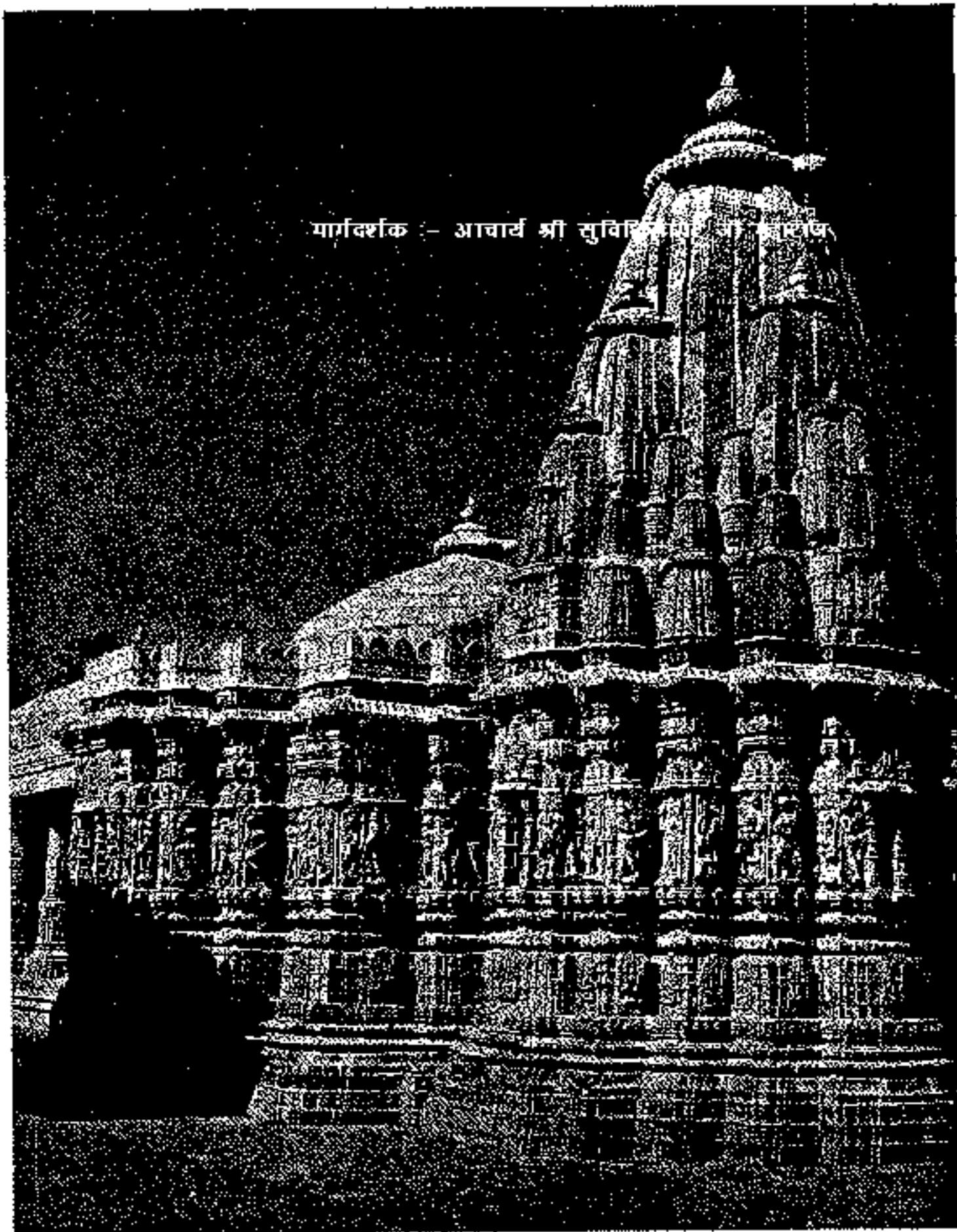
विलोड — श्रीगार-चीरी



(क) चित्तौड़ ... शुगार चौरी, यक्षी-मूर्ति



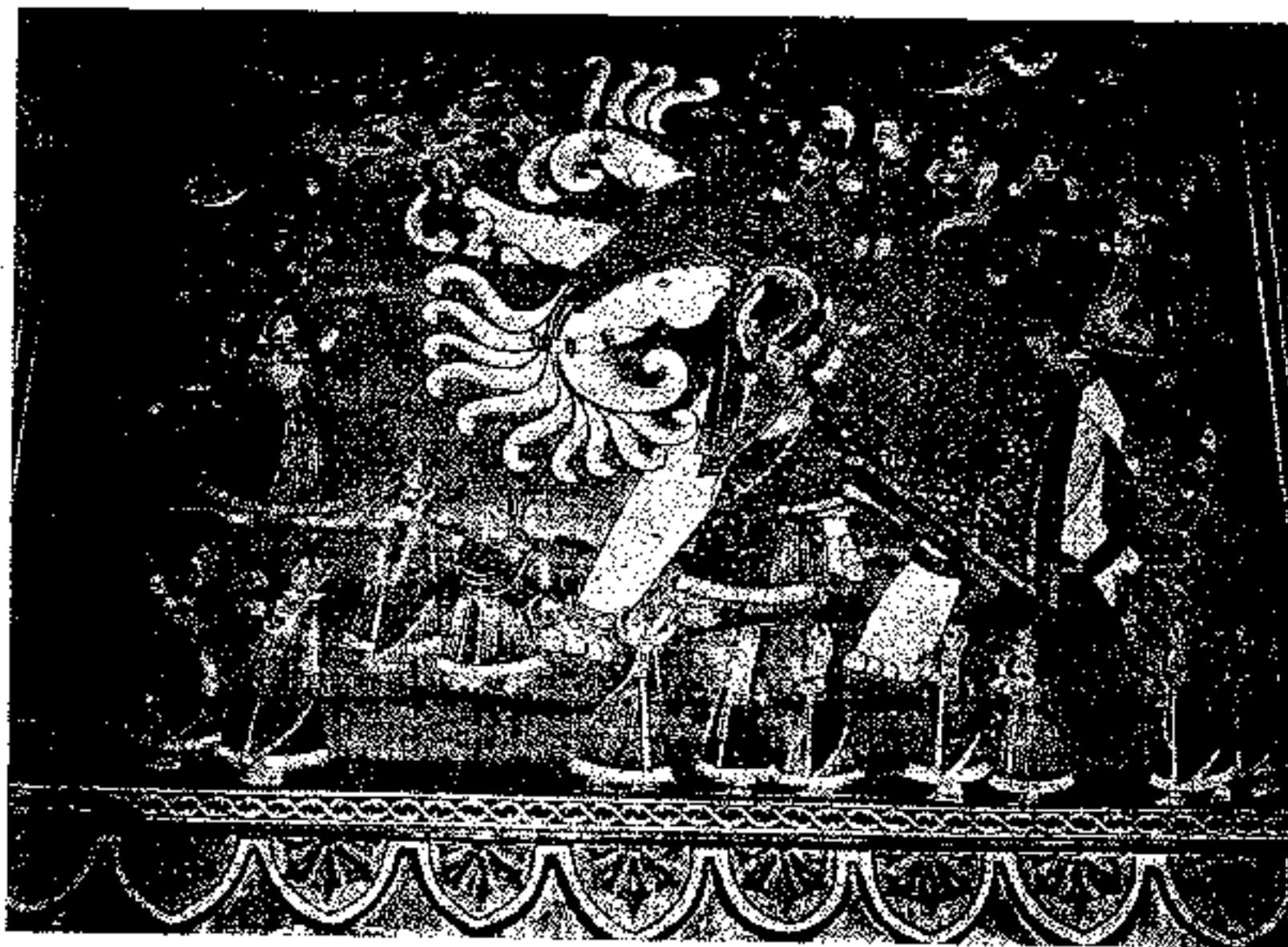
(ख) अयोध्या - कटरा जैन मंदिर, सुमतिनाथ की टोक



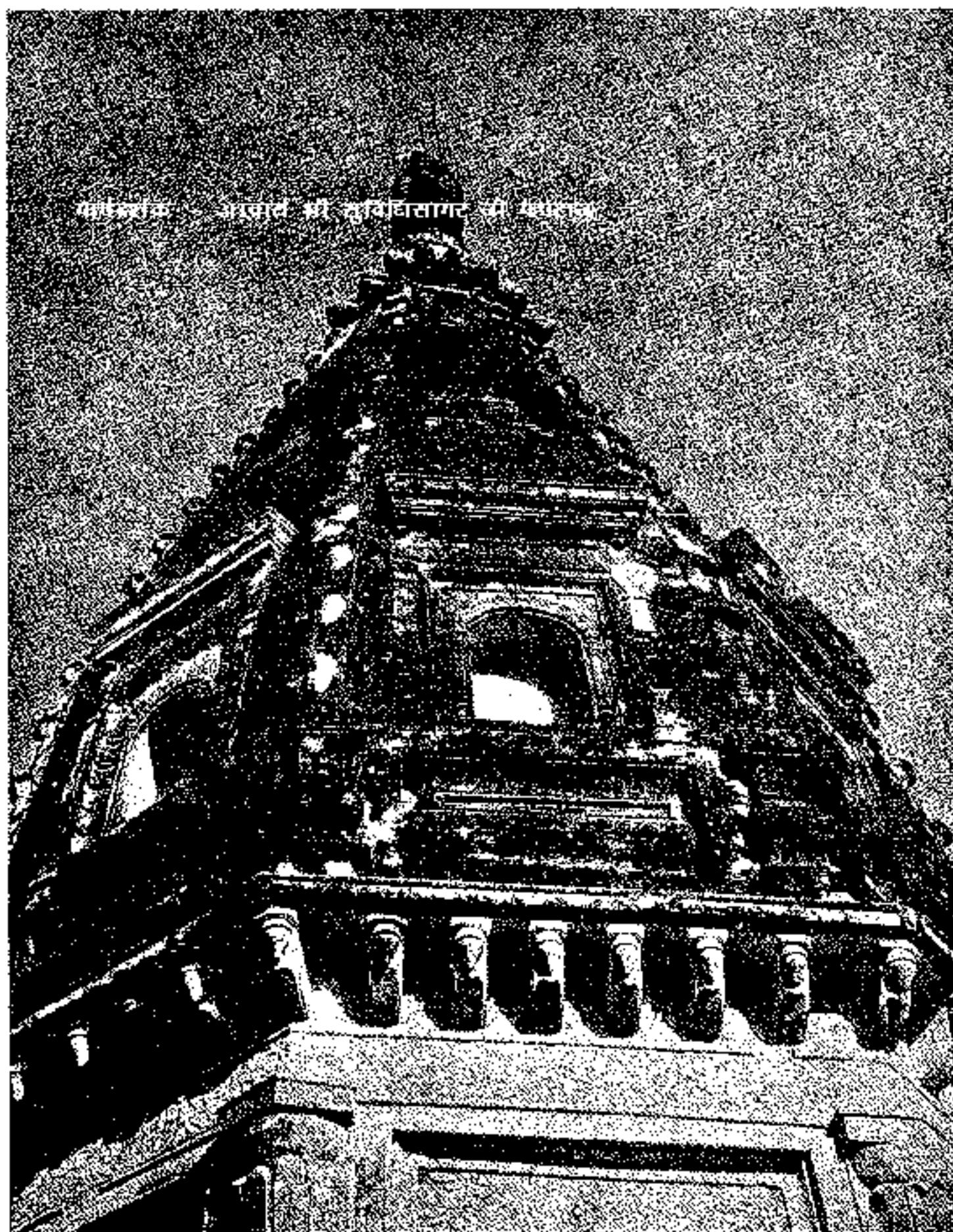
चित्रीकृ — नालंबीस डेवही



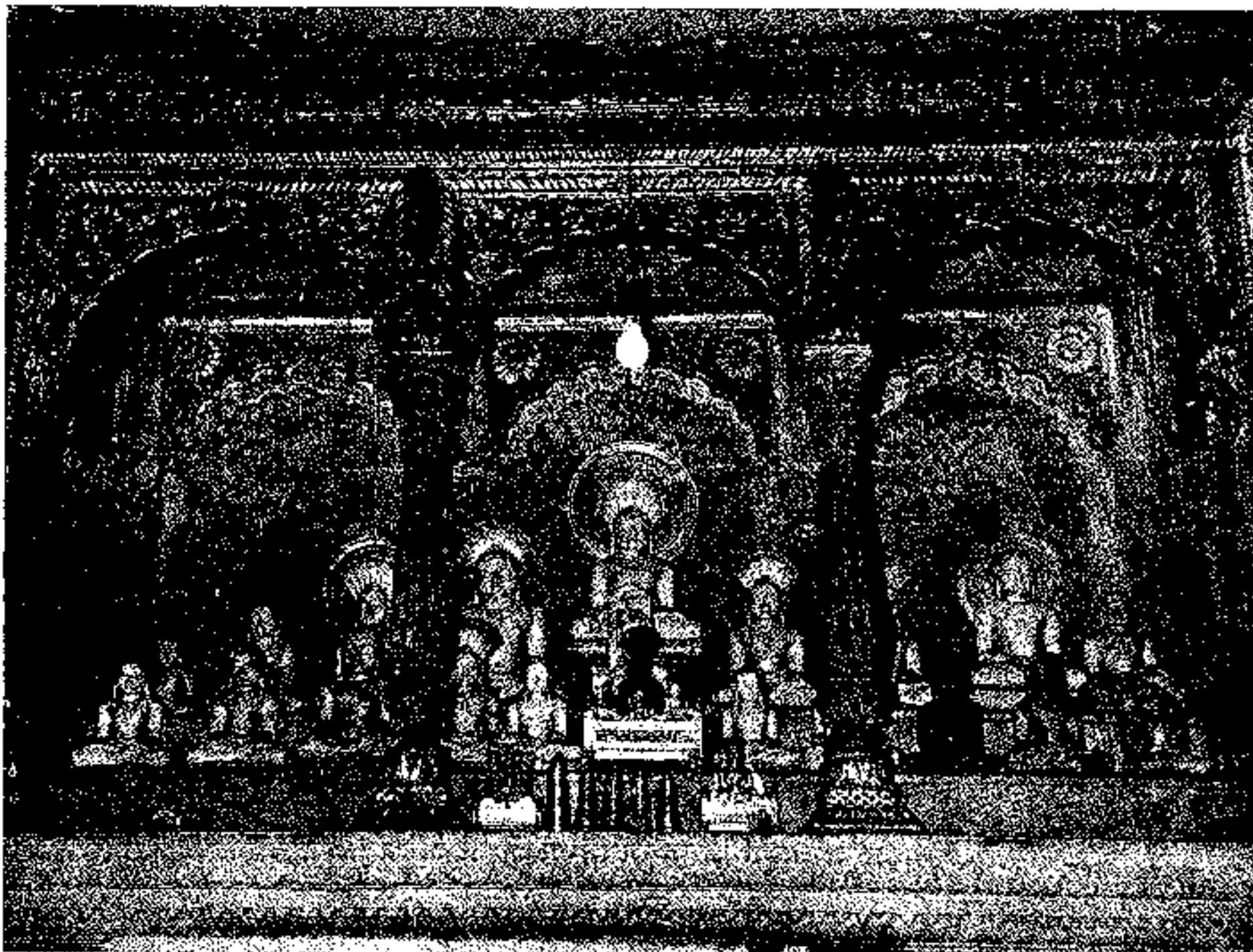
जैसलमेर किला — सुमत्नाथ-मंदिर



गवपुर — पाटोदी का मंदिर, वित्ति-चित्र



शिल्चर .... परश्वनाथ-मंदिर-शिल्चर



वाराणसी — दिगंबर जैन मंदिर, अंतःभाग

दूसरा उल्लेखनीय मंदिर द्वितीय में शताब्दी न्यूरूप-डूबी (चित्र २२२) है जिसका रथनाकाल शैलीगत आधार पर १५ वीं शताब्दी निर्धारित किया जा सकता है। यह मंदिर तीर्थकर आदिनाथ को समर्पित है। इस मंदिर में गर्भगृह, अंतराल, गूढ़-मण्डप, नव-शौकी, अष्टाकार मण्डप तथा मुख-मण्डप, ये छह भाग हैं। गूढ़-मण्डप के पार्श्व में छोटे-छोटे देवालय भी हैं। सप्तरथ-प्रकार के शिखर के चारों ओर आंगों और कर्ण-शृंगों की तीन प्रकृतियाँ भी संलग्न हैं।

कुछ उल्लेखनीय जैन मंदिर जैसलमेर के दुर्मि में भी पाये गये हैं जो पार्श्वनाथ, आदिनाथ, शांतिनाथ, संभवनाथ और महावीर आदि के हैं। इन सभी मंदिरों की अपनी निजी विशेषताएँ हैं। इन मंदिरों के विषय में ढाकी का यह मत<sup>1</sup> उल्लेखनीय है कि 'रेगिस्तानी निर्जन क्षेत्र में लगभग एक शताब्दी तक इन मंदिरों का निर्माण मानो एक वंश-परंपरानुगत क्रम में हुआ है जैसे पिता के उपरांत पुत्र जन्म लेता है। इनकी विकास परंपरा निविधि रूप में स्थिर गति से बढ़ती रही है जिसे देखकर इसकी प्रगति अथवा अन्यथा स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है।' इनमें सबसे प्राचीन मंदिर सन् १४१७ में निर्मित पार्श्वनाथ को समर्पित लक्ष्मण-विहार है। इस मंदिर में उत्कृष्ट तोरण, अलंकृत मुख-चतुष्की, रंग-मण्डप, त्रिकू-मण्डप, गूढ़-मण्डप, मूल-प्रासाद तथा मूल-प्रासाद के चारों ओर बावन देवकुलिकाएँ हैं जो जैन मंदिरों में सामान्य रूप से पायी जाती हैं। भवन, बड़े कक्ष (मूल-प्रासाद) के स्तंभ और छत के अलंकरणों में कुछ अवशिष्ट अलंकारिक विशेषताएँ प्राचीन महा-भार स्थापत्यीय शैली का स्मरण कराती हैं। सन् १४३१ में निर्मित संभवनाथ के मंदिर के रंग-मण्डप की छत अत्यंत दर्शनीय है, जिसके अलंकरण में तीन शताब्दी पूर्व की सुपरिचित अनेक विशेषताओं का उपयोग किया गया है। सन् १४५३ का निर्मित तीर्थकर चंद्रप्रभ का मंदिर रणकपुर के प्रसिद्ध घटुमुख मंदिर का लघु संस्करण-सा प्रतीत होता है। इसकी छतें पूर्वोक्त दो मंदिरों की भाँति प्रचलित परंपराओं के विपरीत हैं। सन् १४८० के निर्मित शांतिनाथ-मंदिर की कुछ छतें और संवरण (घण्टे के आकार की छत) (चित्र २२३) अपनी जटिलता के कारण विशेष उल्लेखनीय हैं। इसी वर्ष निर्मित आदिनाथ-मंदिर पूर्वोक्त चारों मंदिर की भाँति उल्लेखनीय नहीं है। इसी काल के निर्मित जैसलमेर के शेष दो मंदिरों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है।

जैसलमेर के पार्श्वनाथ-मंदिर का उल्लेख दश-आवक-चरित (सन् १२१८) की प्रशंसित में पाया जाना है। इस उल्लेख के अनुसार इस मंदिर का निर्माण किसी जगद्धर<sup>2</sup> नामका व्यक्ति ने कराया था। इस मंदिर का प्रक्षिप्त भाग पूर्वोक्त तिथि से परवर्ती है। इन मंदिरों की सशक्त शैली को इन की विशेषता के रूप में परिचित किया जा सकता है। इनमें पार्श्वनाथ का मंदिर विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह मंदिर पत्र-पुण्यों, पशु-पश्यियों, मानव-आकृतियों तथा अलंकारिक कला-प्रतीकों के समृद्ध अंकन द्वारा अति-सुसज्जित है। छत, स्तंभ, टोड़े, तोरणों की आकृतियाँ रीतिबद्ध होने पर भी आकर्षक हैं। इन मंदिरों में, विशेषकर शांतिनाथ-मंदिर में, गुबदों और कंगूरों की उपस्थिति तथा

1 ढाकी (एन ए), पूर्वोक्त, पृ. 7.

2 जैन (फैलाशनन्द). लैनियर इन राजस्थान, 1963. जोलापुर, पृ. 126.

तदनुरूप बाह्य संरचना की सरलता और सादगी सलतनत-स्थापत्य के प्रभाव को प्रदर्शित करती है।

उत्तर भारत के मध्यकालीन कला-इतिहास की दृष्टि से बीकानेर के जैन मंदिर भी महत्वपूर्ण हैं। बीकानेर का सबसे प्राचीन जैन मंदिर पार्श्वनाथ का है जिसका निर्माण भाण्ड नामक एक व्यापारी द्वारा सोलहवीं शताब्दी के लगभग प्रारंभिक काल में शुरू कराया गया और जो संभवतः सोलहवीं शताब्दी के मध्य या उसके उपरांत ही पूर्ण हो पाया। भाण्ड नामक व्यापारी वारा निर्मित कराये जाने के कारण इस मंदिर को भाण्डसर-मंदिर भी कहा जाता है। संरचना की दृष्टि से यह मंदिर एक अत्यंत महत्वाकांक्षी योजना है और इसमें भारतीय इस्लामी स्थापत्य के तत्त्वों का निश्चित रूप में उपयोग हुआ है। यह मंदिर उन प्रवृत्तियों से रहित नहीं है जो उत्तरवर्ती स्थापत्य में आकर जुड़ी हैं। यह मंदिर सामान्य भागों से युक्त है। इस मंदिर की शैली में परंपरागत तथा मुगल, इन दो शैलियों का सम्बन्ध है, जिसमें परंपरागत शैली का शिखर तथा मुगल-शैली का मण्डप विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस मंदिर के लंबे शिखर की बाह्य संरचना में बाह्य कोणों तथा लघु शिखरों से युक्त उरुशुंगों का सुंदरता के साथ उपयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक दिशा के मध्यभाग में प्रक्षिप्त दो तलों वाले गोखे हैं। इस मंदिर का विकरण देते हुए थेल्ज ने लिखा है<sup>1</sup> कि 'इस मंदिर का गर्भगृह एवं प्रदक्षिणा-पथ छितल हैं। प्रत्येक तल में चारों ओर प्रवेश-द्वार हैं, ऊपरी तल के चारों द्वार गोखों में खुलते हैं। ये चारों गोखे एक तंग सीढ़ियों द्वारा परस्पर संबंधित हैं। ऊपरी तल के मध्यवर्ती कक्ष में जैन प्रतीक सम्बसरण का आकन है जिसमें 'विश्व-नगर' की अध्यक्षता करते हुए धर्म-प्रचारक तीर्थकर सर्वतोभद्र रूप से दर्शयि गये हैं। यह मंदिर जैसलमेर के पीले पत्थरों से निर्मित है। इस मंदिर का स्थापत्य मारवाड़ और जैसलमेर के समकालीन अन्य जैन मंदिरों की भाँति अनगढ़ है। परंतु मण्डप, उसके चारों ओर की बीचियाँ तथा प्रवेश-मण्डपों के कारण यह प्रभावशाली बन पड़ा है। इन संरचनाओं का आंशिक रूप से पुनर्निर्माण सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभिक काल में हुआ है।'

दूसरा उल्लेखनीय मंदिर चितामणि राव बीकाजी का है जिसका निर्माण चितामणि राव बीकाजी ने आरंभ कराया था; जो उनकी मृत्यु के उपरांत सन् १५०५ में पूरा हो पाया। यह मंदिर एक सामान्य मंदिर है जिसमें एक गर्भगृह तथा उससे संलग्न मण्डप हैं। आगे चलकर इस मंदिर का विस्तार किया गया जिसमें एक अन्य मण्डप तथा दो दिशाओं में प्रवेश-द्वार एवं मुख-मण्डप और जोड़ दिये गये। इसका मूल-प्रासाद मध्यकालीन गुजर-शैली का है, तथा इसकी ऊँचाई कम है इसलिए ऐसा विश्वास नहीं किया जा सकता कि इसका विस्तार उत्तरवर्ती काल में हुआ। ऐसा भी प्रतीत होता है कि इस मंदिर में परंपरागत कला-प्रतीकों को गलत रूप से प्रयुक्त किया गया है। इसकी बाह्य संरचनाओं में गुंबद-युक्त मण्डपों, प्रवेश-मण्डपों तथा स्तंभों ओर उनके शीर्षों की अभिकल्पना एवं

1 थेल्ज (हरमन), दि आर्द एण्ड आकोटेक्चर ऑफ बीकानेर, 1950, ग्रॉक्सफोड, पृ 59.

स्थापत्यीय निर्माण में ग्रहमण्डार और बीकानेर की सततत-स्थापत्य-शैली के प्रभाव को ग्रहण किया गया है। इस मंदिर के एक भण्डार में सिरोह राज्य से लूटी गयी जैन प्रतिमाओं को राव रायसिंह द्वारा सन् १५३३ में सुरक्षित रखा गया था तथा इसके निकट ही इसी प्रकार का एक कुत्रिम आदिनाथ का मंदिर स्थापित कराया गया जिसमें आदिनाथ की संगमरमर निर्मित एक विशाल प्रतिमा भी स्थापित की गयी। इस मंदिर की कुछ अलंकृतियाँ समृद्ध अलंकारिक तत्वों से युक्त हैं। इसकी छत पर उत्तरवर्ती काल में भित्ति-चित्रों की रचना की गयी। इन भित्ति-चित्रों में परिवों-जैसी कुछ विदेशी मूल की देवियों की आकृतियाँ भी चिह्नित हैं।

बीकानेर की जैन मंदिर-स्थापत्य-कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण नेमिनाथ का मंदिर है जिसका निर्माण सन् १५३३ में हुआ। मूल-प्रासाद गूढ़-मण्डप तथा इसकी संलग्न दिशाओं में अर्ध-मण्डप से युक्त यह मंदिर अपनी निर्माण-योजना में पूर्वोक्त अन्य दोनों मंदिरों के समानप्राय है। इस मंदिर की योजना में मूलभूत एकता है जो अत्यंत समृद्धशाली है। इसके समस्त भाग संतुलित एवं समायोजित अलंकरण से सुसज्जित हैं। मूर्ति-शिल्पों, अभिलेखनाओं एवं कला-प्रतीकों में पारंपरिक लक्षणों का परिपालन हुआ है तथा इसमें भारतीय-इस्लामी प्रभावों से समन्वित अरब-शैली के अलंकरणों का भी समावेश है।

नागदा के अंतर्गत इकलिगी नामक स्थान पर पद्मावती-मंदिर के नाम से प्रसिद्ध एक जैन मंदिर भी उल्लेखनीय है जिसका एक भाग पहाड़ी ढांचान को उत्कृष्ट कर बनाया गया है। मंदिर के मुख्य गर्भगृह पर पाये जानेवाले विक्रम संवत् १३५६ तथा १३६१ के अभिलेख के अनुसार यह मंदिर पार्श्वनाथ को समर्पित रहा प्रतीत होता है। इसमें एक सादा मूल-प्रासाद है जिसका स्तंभाकार केंद्रवर्ती शिखर अंग-शिखरों से सुसज्जित है तथा गुंबद-दार मण्डप, जो संभवतः पुनरुद्धार के समय बनाया गया है, आगे निकले हुए प्रवेश-मण्डपों से युक्त है। अंतर्भूमि में तीन गर्भगृह हैं जिनमें से एक में सर्वतोभद्रिका-प्रतिमा प्रतिष्ठित है, अन्य दोनों गर्भगृह रिक्त हैं। इस मंदिर में अलंकरण-अभिलेखनाएँ अत्य ही है परंतु उसके कुछ भागों में देवी-देवताओं की शिल्पांकित आकृतियाँ अवश्य हैं।

नागदा में दो जैन मंदिर और भी हैं जिनमें एक श्रद्धभुद्जी-मंदिर के नाम से जाना जाता है। इस समय इस मंदिर का मात्र गर्भगृह तथा उससे संलग्न घंतराल, लंबे अनेक सतह वाले स्तंभ एवं शांतिनाथ की विशाल प्रतिमा ही शेष बच रही है। इसका निर्माण राणा कुंभा के शासनकाल के अंतर्गत विक्रम संवत् १४६५ में सारंग नामक एक व्यापारी ने कराया था। यहाँ पर कुछ अन्य मूर्तियाँ भी पायी गयी हैं जिनमें से भाव तीर्थकर कुर्यनाथ और अभिनन्दननाथ की दो प्रतिमाएँ ही पहचानी जा सकी हैं। मंदिर के बाह्य भाग में कुछ स्थापत्यीय निर्मितियों के अवशेष भी पाये गये हैं। दूसरा

1 कजिन्स (एच). प्रोफेसर रिपोर्ट ऑफ दि आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ बेस्टन इंडिया और दि इंडियन एण्ड ग  
1905., पृ 62.

मंदिर पार्श्वनाथ का है जिसका काल पंद्रहवीं शताब्दी निर्धारित किया जा सकता है। इसकी निर्माण-योजना उल्लेखनीय है। इसमें एक गर्भगृह, एक बंद बड़ा कक्ष तथा तीन छोटे कक्ष हैं। छोटे कक्षों में से अंतिम कक्ष कुछ डणों की दूरी के कारण अत्यंती तीनों से अलग है तथा इससे एक प्रवेश-मण्डप भी संलग्न है। मंदिर की बाह्य संरचना सामान्य प्रकार की है, दीवारों पर शिल्पाङ्कुतियाँ हैं, तत् उभयोदार आकार की है जिसपर पत्र-पुष्पों एवं आङ्कुतियों का अलंकरण है।

मध्यकालीन जैन मंदिरों में कुछ मंदिर फलौदी, कोटा, किशनगढ़, मारोठ, सीकर तथा राजस्थान के अन्य स्थानों में भी सुरक्षित बच रहे हैं। इनमें से कोई भी मंदिर संरचना की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय नहीं है। कोटा के चंदखेड़ी नामक स्थान के मंदिरों में से एक मंदिर भूमिगत प्रकार का है<sup>1</sup> जो सत्रहवीं शताब्दी का है। संभवतः अन्य उन्मादी धर्मनियायियों से जैन प्रतिमाओं की सुरक्षा के लिए इस मंदिर को भूमि के भीतर बनाया गया है।

अन्य जैन मंदिरों में जयपुर के सिंधी भुंताराम का मंदिर तथा पटोदी के दो जैन मंदिर उल्लेखनीय हैं। सिंधी के मंदिर में प्रांगण, गर्भगृह तथा पीछे की ओर गुंबद-मण्डप एक बड़ा कक्ष है। इसके पाश्वों में दालान है तथा सम्मुख भाग में एक गुंबद-मण्डिर प्रवेश-कक्ष है। तीनों भाग मिलकर एक गर्भगृह का रूप धारण किये हुए हैं जिनके ऊपर परंपरागत शिखर हैं।

पटोदी का मंदिर संरचना की दृष्टि से उत्तरकालीन है लेकिन कलात्मक दृष्टि से, विशेषकर भित्ति-चित्रों के लिए, उल्लेखनीय है। इसके भित्ति-चित्रों में जैन धर्म संबंधी दृश्य अंकित हैं (चित्र २२४)। यह मंदिर स्थापत्यीय एवं कलात्मक दृष्टि से मूगल प्रभाव को ग्रहण किये हुए है। इसके तीनों भाग मध्यकालीन परंपरागत शिखरों से युक्त हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है हिमालय के आंचल में जैन स्थापत्य कला का प्रतिनिधित्व करनेवाला द्वारहाट स्थित मण्ड्या नामक भाग एक ही मंदिर है। इस मंदिर में उस मंच के तीनों और निर्मित छोटी-छोटी देवकुलिकाओं के समूह हैं जिसपर संभवतः मूल मंदिर अवधारित था। मंदिर की कुछ कड़ियों तथा मंच के ग्राधार-भाग पर तीर्थकर-प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं, जो अनगढ़ हैं। यह मंदिर नितांत सादा तथा परंपराबद्ध है। इस मंदिर का निर्माण संभवतः चौदहवीं शताब्दी के लगभग, इस क्षेत्र के कल्यूरी राजाओं के शासनकाल में हुआ। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अभिलेखीय एवं मूर्ति-परक खोजों<sup>2</sup> के अनुसार दसवीं शताब्दी के अंतर्गत द्वारहाट में कम से कम एक जैन संस्थान विद्यमान रहा है।

1. जैन, पूर्वोक्त, पृ. 128.

2. लेखक ने कुछ अपने पूर्व द्वारहाट के एक मंदिर में कुछ जैन प्रतिमाओं के अवशेष वडे हुए देखे थे जिनमें एक देवी की प्रतिमा भी थी जो लगभग दसवीं शताब्दी की है। इसी स्थान पर सन् १९८३ का एक अभिलेख भी मिला है जिसमें किसी अजिका का उल्लेख है। तुलनीय एनुअल रिपोर्ट ऑफ इण्डियन एपीड्राफी, १९५८-५९, संख्या ३८३-

मध्य देश (गंगा-जमुना की घटी) के जैन मंदिर अधिकांशतः सत्रहवीं शताब्दी के हैं; या फिर उसके उत्तरवर्ती काल के। इन मंदिरों में स्थित प्रतिमाएँ अधिकांशतः पूर्ववर्ती काल की हैं। इनमें से अनेक मंदिरों का उत्तरवर्ती काल में पुनर्निमाण श्रवकों विस्तार भी हुआ है। स्थापत्यीय दृष्टि से इन मंदिरों में पूर्वकालीन स्थापत्य-कला-परंपराओं का सीमित प्रभाव भी परिलक्षित होता है। इस समय जो मंदिर सुरक्षित बच रहे हैं उनमें से कुछेक मंदिर ही हमारे ध्यान को आकर्षित कर पाते हैं। इनमें से अयोध्या, वाराणसी, क्रिलोकपुर, शीरीपुर और फिरोजाबाद के मंदिर उल्लेखनीय हैं।

तीर्थंकर आदिनाथ के जन्मस्थल होमे के कारण अयोध्या को प्रमुख जैन तीर्थों में परिणामित किया जाता है। ग्रारंभिक काल में यहाँ एक अनेक मंदिर रहे होंगे लेकिन इस समय जो मंदिर बच रहे हैं उनमें से एक ही मंदिर उल्लेख करने योग्य है, जिसे कटरा कहा जाता है। इसमें अनेक जैन प्रतिमाएँ हैं। सबसे प्राचीन प्रतिमा विक्रम संवत् १२२४ की है। अन्य प्रतिमाओं पर जो अभिलेख हैं उनके अनुसार उनका समय विक्रम संवत् १५४८ तथा १६२६ है। यह मंदिर अठारहवीं शताब्दी का है। इसके प्रांगण में सुमतिनाथ के चरण-चिह्नों पर निर्मित टोंक (चित्र २२१ ख) पर जो अभिलेख मिला है उसमें विक्रम संवत् १७८१ का उल्लेख है। इस मंदिर में गर्भगृह के ऊपर चार सतहवाला शंकवाकार शिखर है जिसकी बाह्य संरचना पर लहरदार अलंकरण है। टोंक की रचना अष्टकोणीय है जिसके ऊपर एक छोटा-सा गुबद है। यहाँ पर तीर्थंकरों के कुछ अन्य टोंक भी हैं लेकिन उनमें से कोई भी कलात्मक दृष्टि से उल्लेखनीय नहीं है।

वारावंकी जिले में क्रिलोकपुर स्थित पार्वतनाथ का मंदिर भी उल्लेखनीय है जिसका प्रासाद अष्टकोणीय है, शिखर शंकवाकार है जिसके आधार में टोड़े (चित्र २२५) लगे हुए हैं तथा शिखर के आधार की निचली सतह की भित्ति पर छोटे-छोटे तोरणदार आले बने हुए हैं। शैलीगत रूप में यह मंदिर लखनऊ की स्थापत्य-शैली से प्रभावित है; फलतः इसका रचनाकाल उन्नीसवीं शताब्दी का प्रारंभिक काल निर्धारित किया जा सकता है। इस मंदिर की पार्वतनाथ-प्रतिमा कुछ पूर्ववर्ती है।

पार्वतनाथ की जलभूमि होने के कारण वाराणसी सुप्रसिद्ध जैन तीर्थ-स्थल रही है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि भेलुपुरा में जिस स्थान पर पार्वतनाथ का मंदिर है, उसी स्थान पर पार्वतनाथ का जन्म हुआ था। विक्रम संवत् १६१६ के लिखे एक ग्रंथ में प्राप्त इस मंदिर के उल्लेख से ज्ञात होता है कि इस मंदिर का निर्माण अकबर के शासनकाल में हुआ था।<sup>1</sup> परंतु वर्तमान मंदिर बहुत उत्तरवर्ती है क्योंकि इसकी शैली उत्तरवर्ती पतनोन्मुखी मुगल शैली (चित्र २२६) के समरूप है, जो बहुत समय बाद की है। उत्तरवर्ती मध्यकाल की जैन प्रतिमाओं का इस मंदिर में एक उत्तम संग्रह है।

1 भारत के विंगंवर जैन तीर्थं. प्रथम खण्ड. संपा. जैन (बलभद्र). 1974. अन्वर्दि. पृ. 129.

आगरा, शोरीपुर और फिरोजाबाद के जैन मंदिरों में भी मध्यकालीन जैन प्रतिभाव्यों के अच्छे संग्रह हैं। इनमें से कुछ प्रतिभाएँ बहुमूल्य पत्थरों से भी निर्मित हैं। ये मंदिर-संरचना की दृष्टि से साधारण हैं। अधिकांशतः मंदिरों में एक बड़े पैमाने पर हुए पुनर्निर्माण तथा मरम्मत-कार्य के कारण उनकी मूल विशेषताओं में से एकाध ही बच रही है। यही स्थिति दिल्ली के प्रसिद्ध लाल मंदिर की है जिसका निर्माण सन् १६५६ में हुआ था। दिल्ली में एक दूसरे जैन मंदिर का निर्माण अमरपुरा में राजा हरसुखराय ने सन् १८०० में प्रारंभ कराया था जो उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में पूरा हो पाया। तेरहवीं से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक की अनेक जैन प्रतिभाएँ दिल्ली, उत्तर प्रदेश और राजस्थान के उत्तरकालीन मंदिरों में पायी जाती हैं परंतु ये प्रायः अनगढ़ और निष्प्राण हैं।

मुनीश चंद्र जोशी



## पूर्व भारत

जैनों के प्रश्नय में पल्लवित कला में पूर्व-भारतीय कला के उपादानों की स्थिति के विषय में हम इक्कीसवें अध्याय में विवेचन कर चुके हैं। इन उपादानों की संभवतः जो अंतिम झलक थी उसे भी लुप्त होने में अधिक समय नहीं लगा। विजातीय इस्लामी प्रभाव के प्रतिरोध ने हिन्दुत्व को एक ऐसा तथा रूप ग्रहण करने की दिशा में प्रवृत्त किया जो अन्य संप्रदायों के प्रति व्यापक सहिष्णु दृष्टिकोण लेकर चले। पूर्व भारत का जैन समाज, जो इस क्षेत्र में प्रत्यल्प संख्या में था, हिन्दुत्व के इस नये प्रभाव में आने से नहीं बच सका। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दुत्व के इस प्रभाव ने जैनों को अपने में समाहित कर लिया तथा उनके अभीष्ट उपादानों को अपने नवीन उपयोगों के लिए रूपांतरण कर डाला। इस रूपांतरण के लिए जैनों के अनेक देवी-देवताओं ने भी स्वयं को सहज रूप से प्रस्तुत कर दिया। इन रूपांतरणों के अनेक रोचक साक्ष्य हमें उपलब्ध हैं; उदाहरण के लिए, पश्चवनाथ का बलराम या मनसा के रूप में रूपांतरण हुआ (जिसमें उनके स्पष्टतः परिलक्षित यौनांगों को सावधानीपूर्वक छिपा दिया गया); कृष्णनाथ का शिव के रूप में तथा अंबिका का दुर्गा के रूप में रूपांतरण हुआ, आदि-आदि। इस प्रकार पूर्व भारत के जन-समाज के धर्म के रूप में जैन धर्म व्यावहारिक रूप से लुप्त हो गया, ऐसा माना जा सकता है।

तत्कालीन परिस्थिति में यद्यपि जैन धर्मनियायी हिन्दू समाज में समन्वित हो गये तथापि इससे यह तात्पर्य नहीं लिया जाना चाहिए कि उस काल में पूर्व भारत में जैन धर्म का अस्तित्व ही नहीं रहा। जैन धर्म अपने अस्तित्व में तो रहा लेकिन एक ऐसे तरंग के रूप में जो अनाहृत एवं अनपेक्षित हो और स्वयं को स्वतः ही परिवर्तित करने के लिए तत्पर हो। यह सुविदित है कि पश्चिम भारत के विभिन्न व्यापारी और महाजन मुगल-काल में पूर्व भारत के मुगल-शासन-केंद्रों और उनके निकटवर्ती विभिन्न क्षेत्रों में बस गये थे। इनमें अधिकांशतः जैन धर्मनियायी थे और वे अपने धर्म के प्रति अत्यंत निष्ठावान और बृह विश्वासी थे। वे लोग जहाँ-जहाँ वसे वहाँ-वहाँ उन्होंने अपने कार्य-कलाओं का आरंभ किया। इति कार्य-कलाओं तथा उनके प्रश्नय में पल्लवित कलाओं द्वारा पूर्व भारत में जैन धर्म और संस्कृति एक बार पुनः जीवित हो उठी।

बंगाल में मुगल-शासन का सर्वप्रथम केंद्र ढाका (बांगला देश) रहा है जिसे प्राचीनकाल में जहाँगीर-नगर के नाम से जाना जाता था। पुरनचंद नाहर<sup>1</sup> ने इस क्षेत्र से प्राप्त दो अभिलेखों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए बताया है कि इन अभिलेखों में जैन मंदिरों के निर्माण और उनकी प्रतिष्ठा कराये जाने के उल्लेख हैं। इन मंदिरों का निर्माण स्पष्टतः पश्चिम भारत से आकर यहाँ पर बसनेवाले जैन धर्मानुयायियों ने कराया था; परंतु इन मंदिरों का कोई भी अवशेष आज उपलब्ध नहीं है।

पश्चिम भारत के कुछ समृद्ध जैन परिवार मुशिदाबाद (पश्चिम बंगाल) और उसके निकट-वर्ती क्षेत्र में भी आकर बसे। मुशिदाबाद उत्तरवर्ती काल में शासन का केंद्र बना जिसने अठारहवीं शताब्दी की संकांतिकालीन राजनीतिक परिस्थितियों में प्रभावशाली भूमिका निभायी है। अठारहवीं शताब्दी में विभिन्न यूरोपीय व्यापारिक कंपनियों, विशेषकर ईस्ट इण्डिया कंपनी, द्वारा अपने व्यापारिक केंद्र स्थापित किये जाने से पटना तथा पूर्व भारत के अनेक नगरों ने महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। इन व्यापारिक केंद्रों तथा इनके निकटवर्ती क्षेत्रों में जैन धर्मानुयायी व्यापारी पश्चिम भारत से आकर एक बड़ी संख्या में बस गये।

इन परिस्थितियों में जैनों के प्रथम में कलात्मक कार्य-कलापों का तीव्र गति से क्रियान्वयन हुआ। ये कला-संबंधी कार्य-कलाप यद्यपि पूर्व भारतीय क्षेत्र में हुए किन्तु एक क्षेत्रीय प्रयास के अर्थ में वे पूर्व भारत से कहाँ तक संबंधित रहे हैं यह कहना कठिन है। पश्चिम भारत का जैन समाज प्रायः श्वेतोबर मतावलंबी रहा है। श्वेतोबर जैनों में श्वेत संगमरमर की प्रतिमाओं को बरीयता दी जाती है। श्वेत संगमरमर की प्रतिमाओं में उन्नीसवें, बीसवें, बाईसवें और तेईसवें तीर्थकर अपवाद हैं। अतः इन जैनों ने इस क्षेत्र में जहाँ-जहाँ मंदिरों का निर्माण कराया, वहाँ-वहाँ श्वेत संगमरमर की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित कीं किन्तु पूर्व भारत में श्वेत संगमरमर के उपलब्ध न होने के कारण ये प्रतिमाएँ मुख्यतः राजस्थान से मैगवायी जाती थीं और आज भी मैगवायी जाती हैं। राजस्थान में संगमरमर की खानें होने के कारण राजस्थान संगमरमर में संगतराशी और प्रतिमा-निर्माण-कला का लब्ध-प्रतिष्ठ केंद्र रहा है। राजस्थान से प्रतिमाओं के मैगवाये जाने के कारण तत्कालीन पूर्व भारत की जैन सूति मुख्यतः राजस्थानी शैली की रही है। पूर्व भारत में जैनों ने निस्सदेह जैन मंदिरों का निर्माण कराया है किन्तु उससे किसी उद्देश्यपूर्ण स्थापत्य-शैली का विकास नहीं हो सका है। यदि जन-प्रश्न में पल्लवित स्थापत्य-शैली के उदाहरण के रूप में मुशिदाबाद के निकटवर्ती जियागंज और अजीमगंज के जैन मंदिरों को रखा जाये तो यह उचित नहीं होगा, क्योंकि इन मंदिरों में मात्र संगमरमर की संगतराशी और नालीदार अलंकरण पर ही विशेष बल दिया गया है। इसके मूल में भी राजस्थानी परंपरा विद्यमान रही है। इन मंदिरों में आयातित रंगीन टाइलों तथा काँच और चीनी की पच्चीकारी का उपयोग किया गया है। जहाँ तक कलकत्ता के वहुचित बड़ीदास-मंदिर का प्रश्न है, वह पहले तो काल-क्रम की दृष्टि से विवेच्य काल के अंतर्गत आता नहीं; दूसरे, यह मात्र अलंकारिक

1 नाहर (पुरनचंद) जैन-लेख-संश्लेषण, भाग 1917, कलकत्ता।

स्थापत्य का ही एक उदाहरण है और वह भी कोई प्रभावशाली नहीं है। अतः इस विवेचन के आधार पर इस काल में जैन कला को पूर्व भारत का धोगवान नगण्य ही प्रतीत होता है।<sup>1</sup>

परसी कुमार सरस्वती

1. उत्तर-मध्यकाल में यह विश्वास किया जाता था कि विहार की राजगिर और पारसनाथ (पारसनाथ की पहाड़ी को सम्मेल-शिखर के रूप में पहचाना जाता है) वही स्थान है जहाँ अधिकाशित लीर्घकरों ने निवाण प्राप्त किया, ये स्थान जैन केंद्रों के रूप में निरंतर स्वेच्छिय रहे हैं। इन दोनों स्थानों पर उपलब्ध अभिलेखों किस लीर्घकर एवं अन्य प्रतिमाएं तथा पादुकाएं यह प्रमाणित करती हैं कि यहाँ पर जैन साधु निरंतर सक्रिय रहे हैं (ज्ञान भवालाल प्रेमचंद, जैन-लीर्घकर-संप्रह-1 (गुजराती), 1953, अहमदाबाद, पृ. 453-63 तथा 444-47). परन्तु इस काल के स्मारक यहाँ पर उपलब्ध नहीं हैं। प्रोफेसर सरस्वती ने पत्राकार द्वारा राजगिर मंदिरों के स्थान के एक न्यासधारी श्री विजयसिंह नाहर से प्राप्त सूक्ष्मा के अनुसार बताया है कि राजगिर में इस समय लीर्घी श्री विजय लन् 1800 से पूर्व तक निवास नहीं है लिस्टर (ई). विहार एवं उडीसा डिल्टिक्स गजेटिव्स, हजारीबाग, 1917, पटना, में उद्धृत पारसनाथ के लन् 1827 के विवरण में कहा गया है कि सन् 1765 में मुक्षियानाद के अगस्तसेठ शौमलचंद ने यहाँ पर एक पार्वतेनाथ-मंदिर का निर्माण कराया जिसकी छत पर पांच गुंडव थे, बीच का गुंडव सबसे बड़ा था। इस कथन से इस अध्याय के शीलीगत विवरण की पुष्टि होती है। ब्लोच (टी). एम्प्रेल रिपोर्ट अर्सेक दि आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑरेक इण्डिया, बंगाल समिति, 1902-03, कलकत्ता, पृ. 13 के अनुसार यह मंदिर भी विद्युत के शिरके से, कुछ समय पूर्व, नष्ट हो गया। इस समय जो मंदिर विद्यमान है उसका निर्माण हाल ही में हुआ है—संपादक.)



## अध्याय 27

### मध्य भारत

विवेच्य काल में विदेशी शासन द्वारा उत्तरी और मध्य भारत में कला और स्थापत्य के विकास को धंभीर आशात् पहुँचाया गया। किन्तु इनेक शासकों की प्रतिरोधक मनोवृत्ति के रहते हुए भी भारत में धार्मिक गतिविधियाँ विकासशील रहीं। वैष्णव, शाकत और जैन साधुओं ने जन-वर्ग को मानसिक व्यथाओं से रक्षा की। उसमें उन्होंने एक नयी आत्मिक चेतना जाग्रत की जिसने उसे जीवन के प्रति निराश नहीं होने दिया। भारत में शासकों और जन-साधारण के मध्य राजनीतिक सामंजस्य के दिनों में इन साधुओं ने सहिष्णुता और सद्भाव का संदेश प्रसारित किया। कुछ सूफी-संतों के साथ-साथ, इन साधुओं ने विभिन्न मतों के जन-वर्ग को सहयोगपूर्वक रहने के लिए उपयुक्त बातावरण के निर्माण का श्रेय अर्जित किया।

इस काल से पूर्व ही दिगंबर और श्वेतांबर मतों के अनेकानेक देवों और महापुरुषों के विभिन्न मूर्त्यकन विषुल भाजा में निर्मित हो चुके थे। चौबीस तीर्थकरों की मूर्तियों के अतिरिक्त सोलह विद्यादेवियों, चौबीस शासनदेवों (यक्षों और यक्षियों), क्षेत्रपालों, अष्टमातृकाओं, दश दिनपालों और नवग्रहों की मूर्तियाँ भी शास्त्रविहित रूपों में बनीं। कुछ मध्यकालीन जैन शास्त्रों में चौसठ योगिनियों, चौरासी सिद्धों और बाबन वीरों का भी उल्लेख है जिन्हें प्रचलित देव-वर्ग में स्थान दिया गया। इस धर्म की आव्यात्मिक चेतना का भी देश के विभिन्न भागों में स्वागत हुआ। इस चेतना को उत्तर-मध्यकाल में मंदिरों और मूर्तियों के व्यापक विकास ने गति प्रदान की।

इस काल के व्यापारी-वर्ग में जैनों की संख्या पर्याप्त थी। उद्योग और व्यवसाय की निर्बाध प्रगति के लिए शांतिपूर्ण बातावरण अनिवार्य था। इसलिए जैनों ने अपने-अपने भेत्रों के शासकों को अनुकूल बातावरण बनाये रखने में अत्यधिक सहायता की और युद्धोत्तेजक प्रवृत्तियों को टालने का ऐसी यथाशक्ति प्रस्तुत किया।

प्राचीन काल में भी अनेक जैन तीर्थ-स्थलों, सिद्ध-स्थेश्वरों और अतिशय-स्थेश्वरों ने उल्लेखनीय भूत्ता अर्जित की। मध्य भारत में ये अधिकतर पहाड़ियों पर या सरिताओं और जलाशयों के तटों पर होते थे और कुछ तो प्रकृति की सुखद गोद में बसे थे। इस काल में सोनागिरि, द्रोणगिरि, नैनागिरि, पालागिरि आदि स्थान प्रसिद्ध हुए। इन स्थानों तथा मालवा, ग्वालियर और बुदेलखण्ड के अन्य स्थानों पर मंदिरों का निर्माण हुआ और विविध प्रकार की मूर्तियाँ बनीं।

इस काल के मंदिर-स्थापत्य में, मूर्त्य रूप से उत्तर-भारतीय नागर या शिखर-शैली का प्रयोग हुआ। अनेक मंदिरों के अतिरिक्त स्तंभ-मण्डपों का भी निर्माण हुआ। अलंकृत छतों के आधार के लिए उनमें शिल्पाक्षित स्तंभ होते थे।

इस काल की मूर्तिकला की एक विशेषता है प्रचुरता; और, दूसरी विशेषता है विशालाकार मूर्तियों के निर्माण में विशेष रुचि। तीर्थकरों की विशालाकार पाषाण-प्रतिमाओं का निर्माण प्रचलित हो गया था। गोमट-मत के उदय से इस प्रचलन को व्यापक बल मिला और श्वेतब्लगोला की उल्लेखनीय मूर्ति कदाचित् प्रेरणा-स्रोत बनी। मध्य भारत में खालियर, अहार, बानपुर, बरहटा, देवगढ़, बहुरीबंद आदि अनेक स्थानों में विशाल मूर्तियों का निर्माण हुआ।

तीर्थकरों की मूर्तियों के अतिरिक्त शासनदेवों, नागों, नवग्रहों, क्षेत्रपालों, गंधवों, किन्नरों आदि की अतेकानेक मूर्तियाँ अब भी सुरक्षित हैं। सरस्वती, अंबिका, पद्मावती और चक्रेश्वरी देवियों की भाव्यता तो पहले ही थी, अब और भी अनेक देवियों की मान्यता एं स्थापित हुई। जैन पौराणिक कथाओं का और लोक-जीवन का सामान्य चित्रण सनकालीन कलाकृति खा रुचिकर विषय था। प्राकृतिक दृश्यों के अंकन भी यश-दश किये गये।

इस काल की प्रचुरतापूर्ण सक्षण-कला के आरंभिक रूप में मूर्तियों की एक रसता उल्लेखनीय है; तथापि, उसमें सौंदर्य-बोध का अभाव नहीं है। एक सच्चा कलाकार इसे भुला भी नहीं सकता था। देवों, देवियों, अप्सराओं आदि की कुछ मूर्तियाँ तो अंगोपांगों और भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से अत्यंत सुंघड हैं, पर ऐसी मूर्तियों की संख्या सीमित ही है। किन्तु समूचे रूप में, सक्षण-कला में सौंदर्य-बोध की यह उल्लङ्घता अक्षण न रह सकी। यही कारण है कि उत्तर-मध्यकाल की कला में वह मौलिकता, नवीनता और भावात्मक सौम्य न रह सका जो परंपरा से चला आ रहा था। खालियर, नरदर, ओड़छा, रीवा और गोड़वाना के हिन्दू शासकों और माण्डू के सुलतानों ने ललित कलाओं को संरक्षण दिया। मध्य भारत में विद्यमान अनेक स्मारक इस काल में ललित कलाओं को प्राप्त संरक्षण के पर्याप्त प्रमाण हैं।

बुदेलखण्ड क्षेत्र में निर्माण के लिए काले ग्रेनाइट पाषाण और बलुआ पाषाण का उपयोग हुआ। मध्य भारत के अन्य भागों में मंदिरों और मूर्तियों के निर्माण में विभिन्न प्रकार का बलुआ पाषाण प्रयोग में आया।

खालियर क्षेत्र में कला संबंधी गतिविधियाँ इस काल में चलती रहीं। खालियर के किले में चट्ठानें काटकर निर्मित की गयी विशाल तीर्थकर-मूर्तियाँ विद्यमान हैं। खालियर के तोमरों और उनके उत्तराधिकारियों ने स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला और संगीत को संरक्षण प्रदान किया। इस संबंध में मानसिंह तोमर का नाम सुपरिचित है।

शिवपुरी से ४० किलोमीटर उत्तर-पूर्व में नरवर (प्राचीन नलपुर) में अनेक जैन मंदिरों और मूर्तियों का निर्माण हुआ। इन मंदिरों और मूर्तियों के उपयोग में आये श्वेत पाषाण पर यहाँ इतना अच्छा प्रशिक्षण किया गया कि वह संगमरमर-सा दिखता है। नरवर के यज्वपाल, गोपालदेव और ग्रासलदेव नामक राजाओं ने कला के विकास में व्यापक योग दिया।

गुना जिले के तुमैन और चंदेरी कला के महत्त्वपूर्ण केंद्र थे। चंदेरी और उसके समीपवर्ती क्षेत्र में इस काल की पाषाण-मूर्तियाँ कहुत बड़ी संख्या में प्राप्त हुई हैं। उनमें तीर्थंकरों और देवियों के अतिरिक्त अन्य मूर्तियाँ भी हैं, जिनमें बहुत-सी अभिलिखित हैं। लगभग १४०० ई० में चंदेरी-पट्ट की स्थापना हुई। श्री भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति और उनके उत्तराधिकारियों ने उस क्षेत्र में जैन धर्म के प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। विदिशा जिले का सिरोज चंदेरी के भट्टारकों के कार्यक्षेत्र में आता था।

मालवा क्षेत्र में जैन धर्म मध्यकाल में आदि से अंत तक फैलता रहा। उज्जैन और उसके आसपास के क्षेत्र में जैन मंदिरों और मूर्तियों का निर्माण परमारों के शासन के बाद भी होता रहा।

बंदसौर जिले के भानपुरा में जैन कला की प्रगति हुई। वहाँ इस काल की अनेक कला-कृतियाँ प्राप्त हुई हैं।

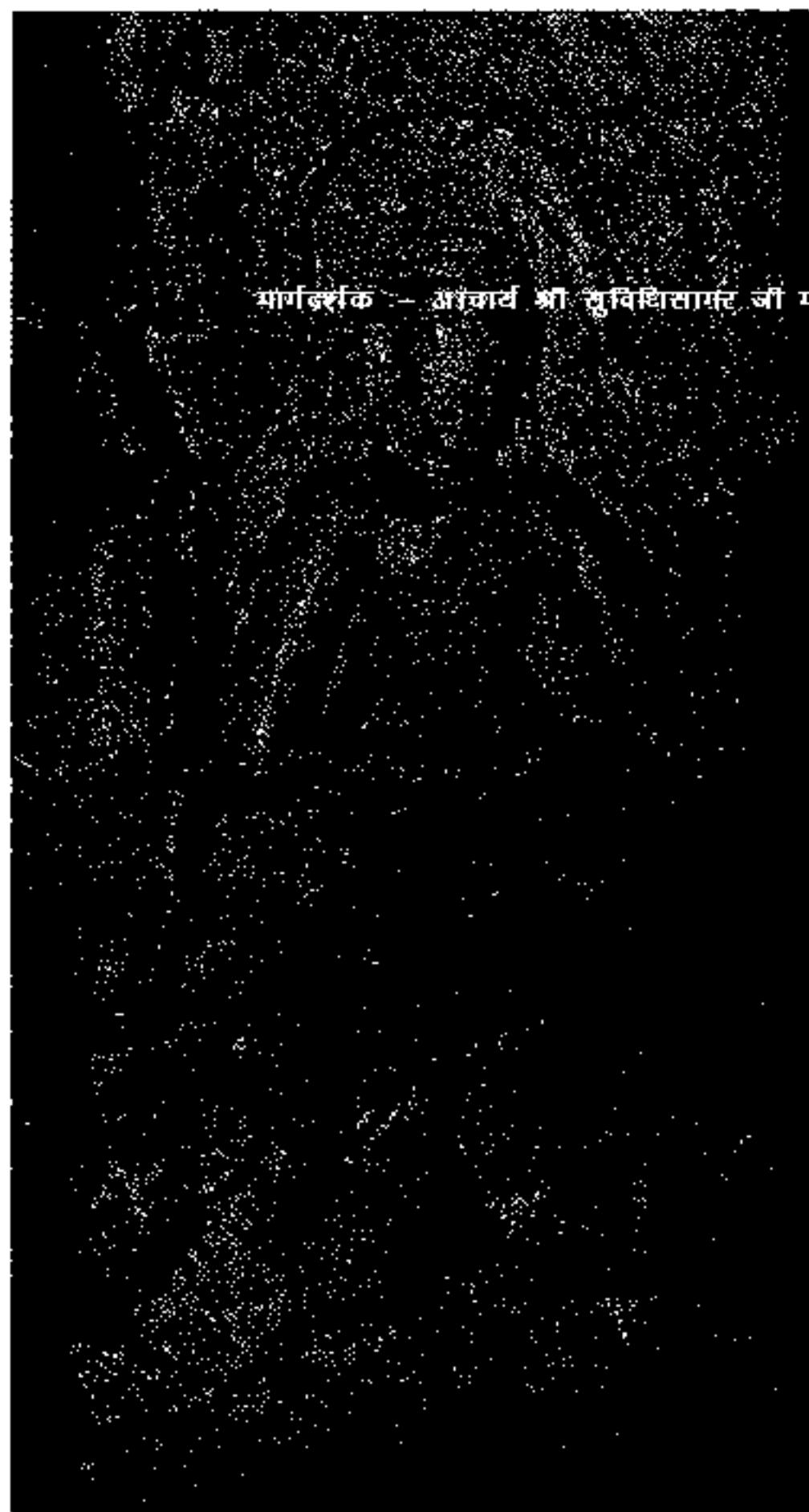
उज्जैन के सभीप मक्सी पंडहवीं शहरी में दिगंबर और श्वेतांबर दोनों संप्रदायों का केंद्र रहा। यहाँ का प्रसिद्ध पार्वताथ-मंदिर संग्रामसिंह सौनी ने १४६१ ई० में बनवाया था।

धार (प्राचीन धारा) के बनियावाड़ी नामक स्थान पर एक मंदिर में चौदहवीं और पंद्रहवीं शती की अभिलिखित मूर्तियाँ हैं। प्राचीन काल में धार शान और अनुसंधान का एक महान् केंद्र था।

माण्डू (माण्डवपुर) धार के निकट स्थित है और इस काल में निर्मित भव्य स्मारकों के लिए विस्थात है। यहाँ के राजदरबार में अनेक जैन विद्वानों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इनमें पेयद शाह, भांझण और मण्डन उल्लेखनीय हैं जिन्होंने जैन धर्म और कला को प्रश्नथ दिया। उन्होंने अनेक जैन मंदिरों और मूर्तियों का निर्माण कराया।

बड़वानी अपने अनेक जैन मंदिरों के कारण सिद्धनगर के नाम से विल्पित है। यहाँ एक चट्ठान पर उत्कीर्ण एक मूर्ति २६ मीटर ऊँची है। चूलगिरि नामक उसी पहाड़ी पर बाईस जैन मंदिर हैं।

भावुआ जिले के अलीराजपुर में विशाल जैन मूर्तियाँ और मंदिर निर्मित कराये गये।

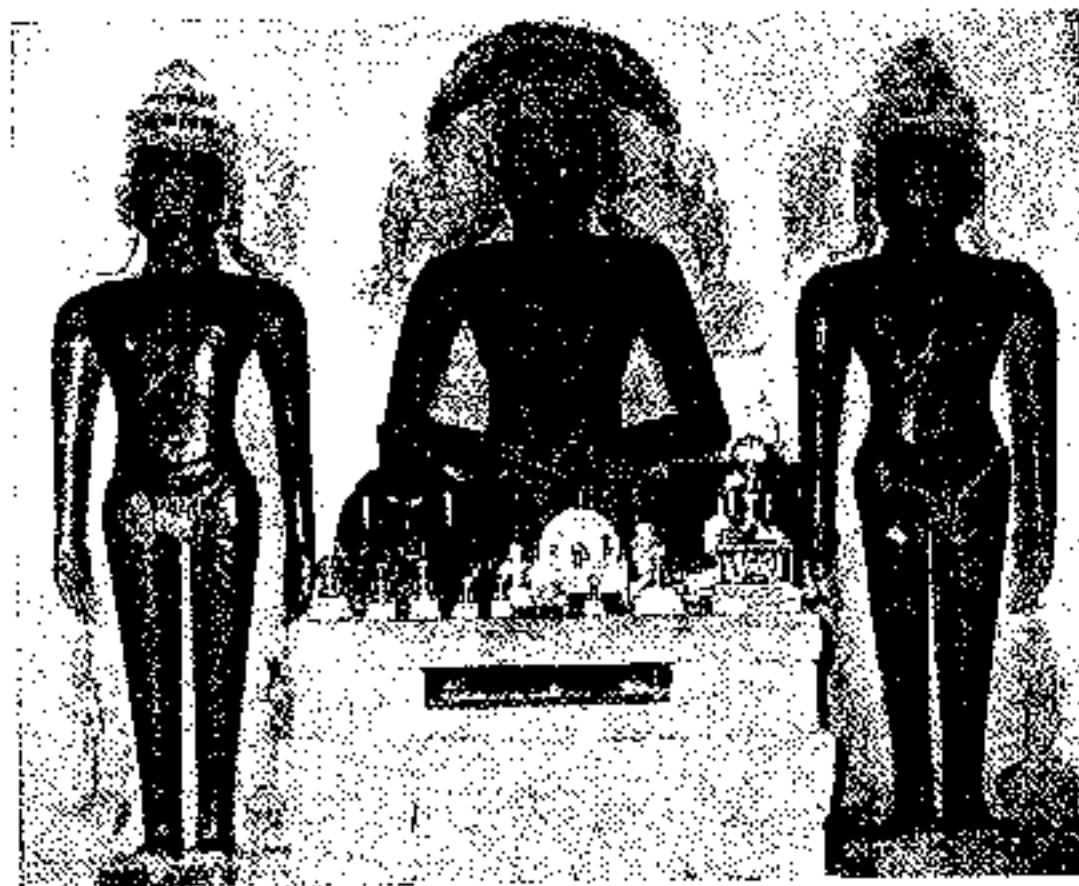


शार्णिरक - मार्गार्थ श्री सुविद्यासामह जी क

दिगंबर जैन संग्रहालय, चल्लैन — सर्वतोभद्र

वासु-स्मारक एवं सूर्तिकला 1300 से 1800 ई०

भाग 6 ]



(क) पश्चारी --- मंदिर में तीर्थकर-भूतियाँ



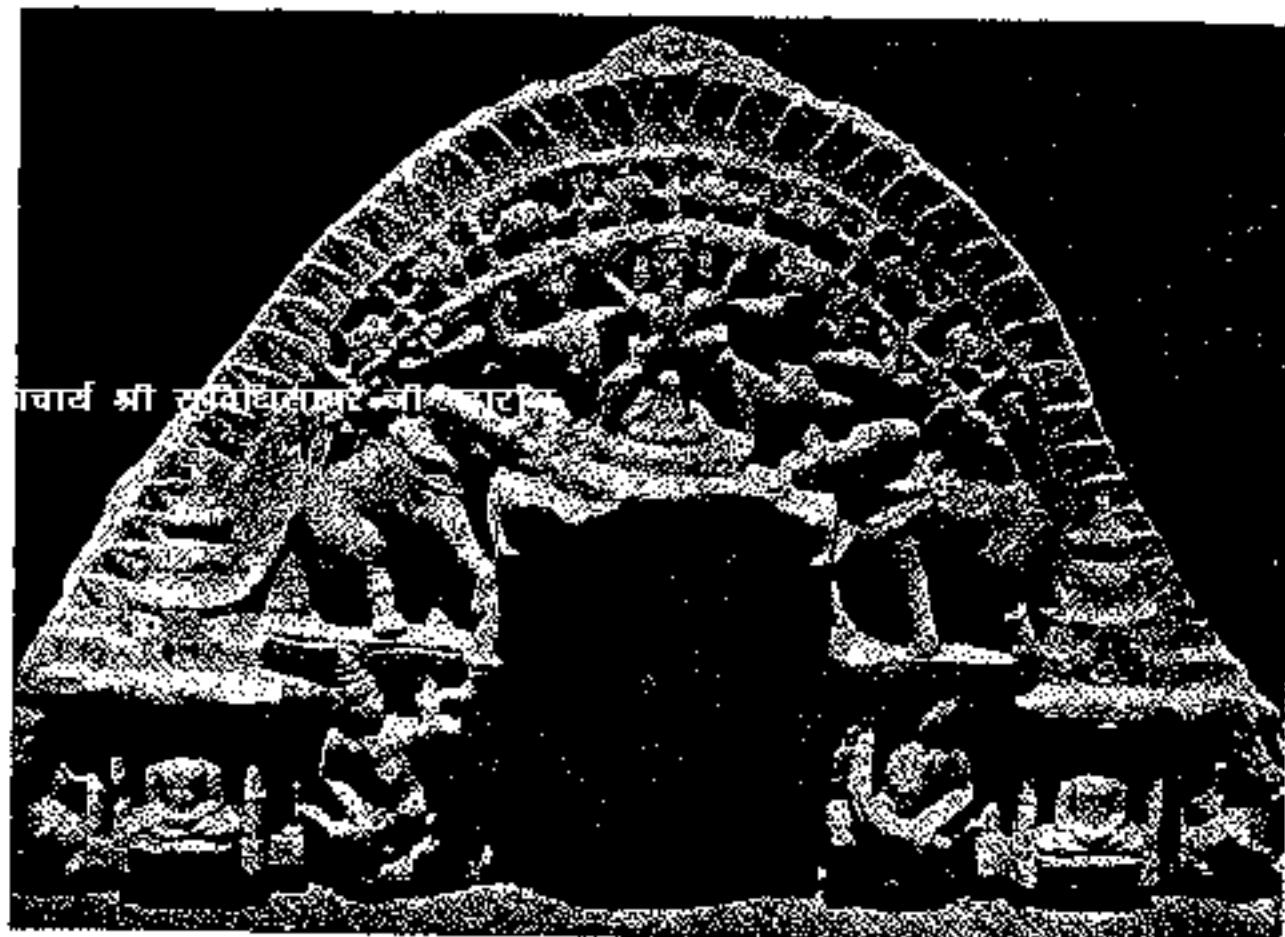
(ख) पटना — तीर्थकर पाशवंशाथ



(क) म्बालियर किला — तीर्थकर की शैलोत्कीर्ण मूर्ति



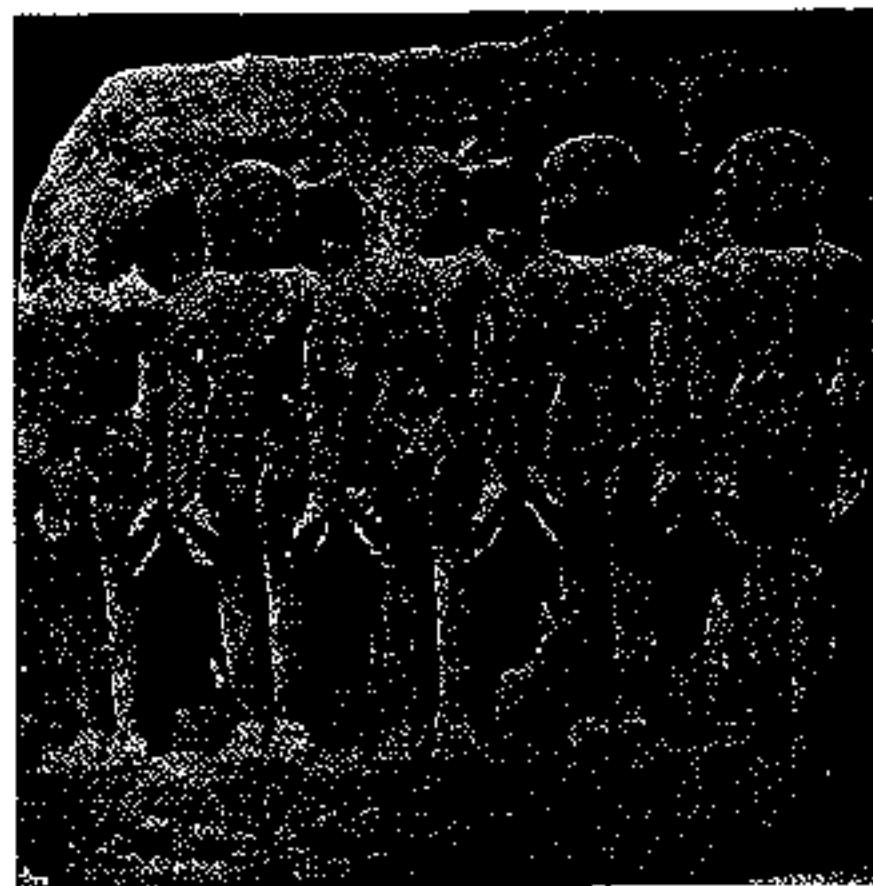
(ख) म्बालियर किला — तीर्थकरों की शैलोत्कीर्ण मूर्तियाँ



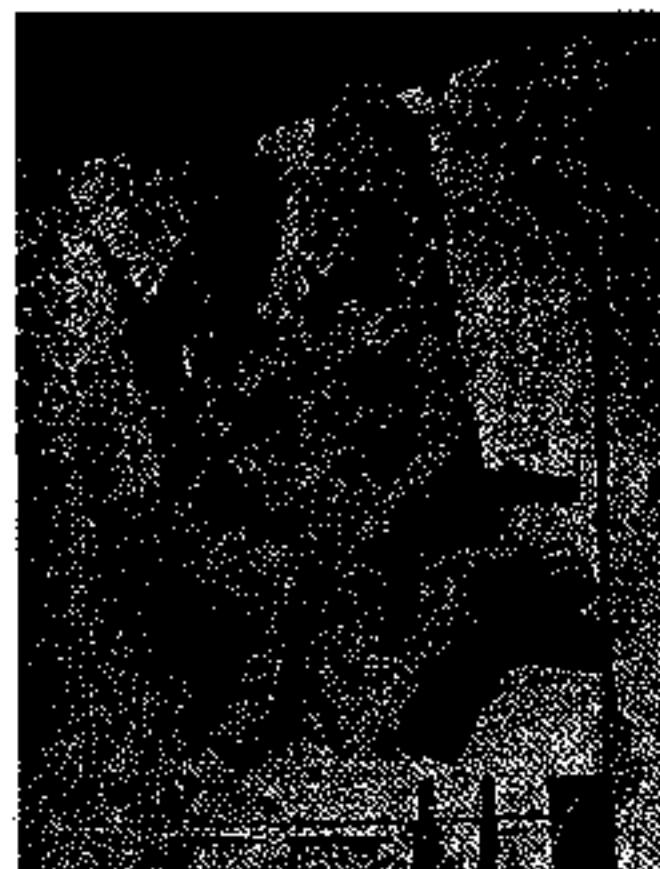
(क) दिगंबर जैन संक्षालय, उज्जैन - तीर्थकर-मूर्ति का परिकर



(ख) मरवर — तीर्थकर-मूर्ति का परिकर



(क) विंगवर जैन संग्रहालय — बाल अतिथों की सूति



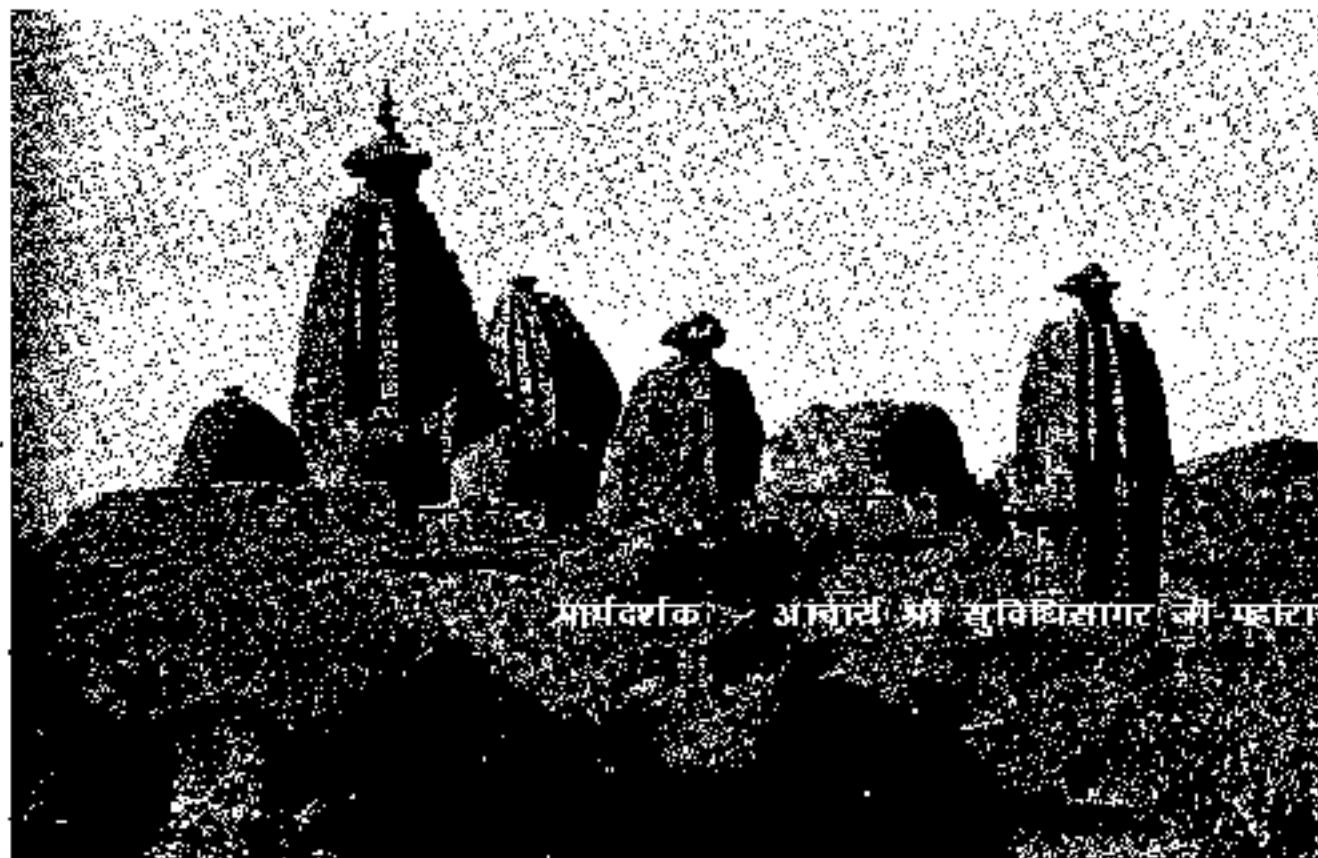
(ख) परेमाता गुप्ता — विद्याषर की सूति



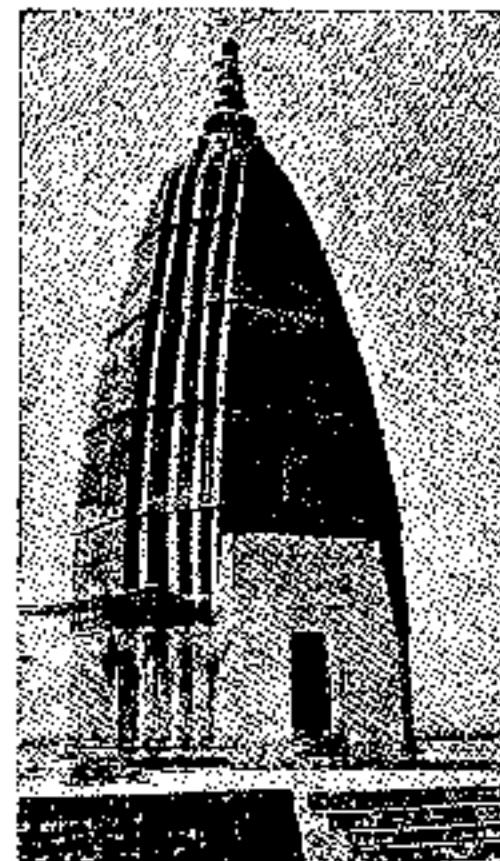
(क) शिवपुरी — अंबिका



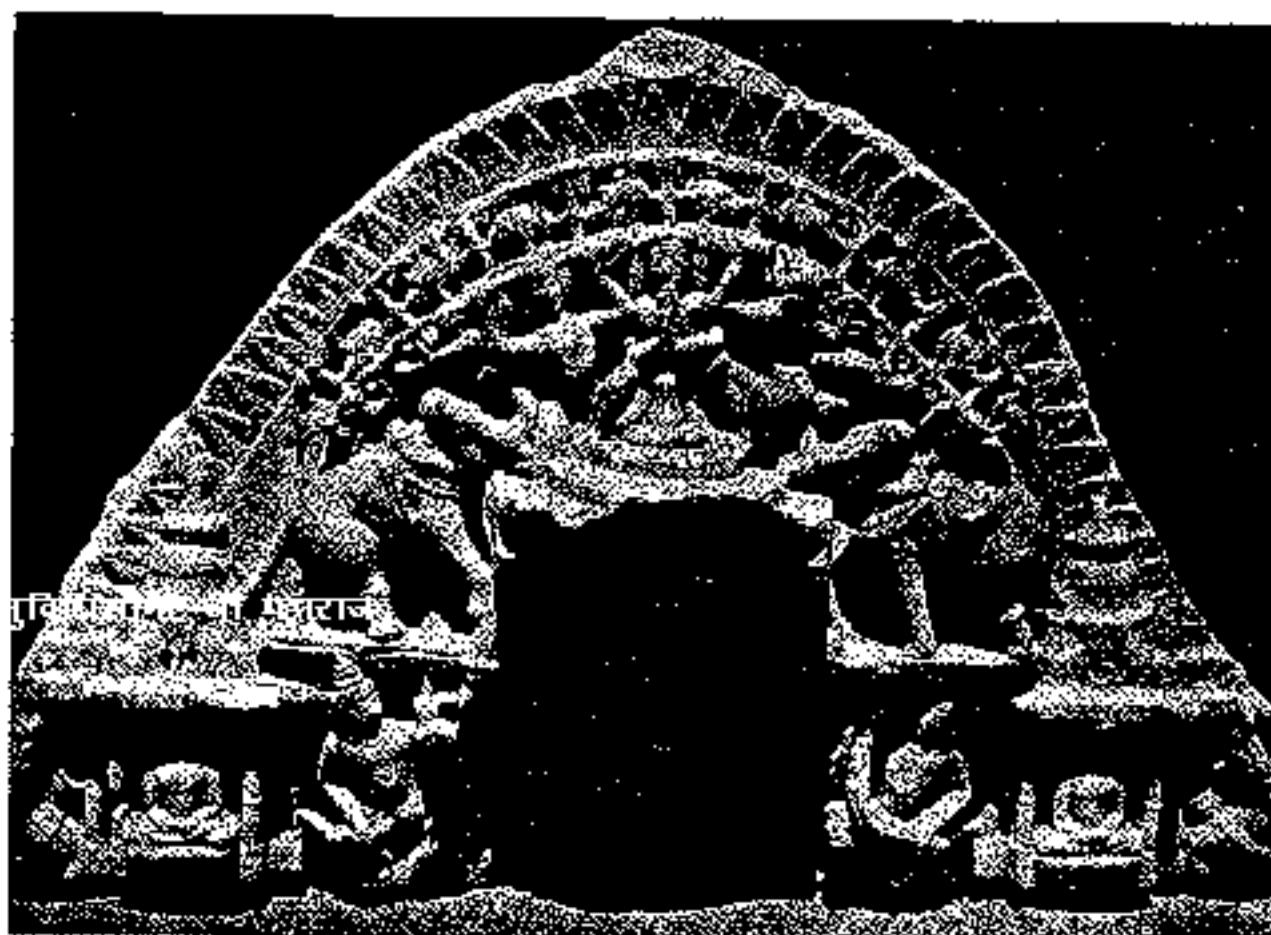
(ख) दिगंबर जैन संप्रदाय, उज्जैन — शासनदेवी की मूर्ति



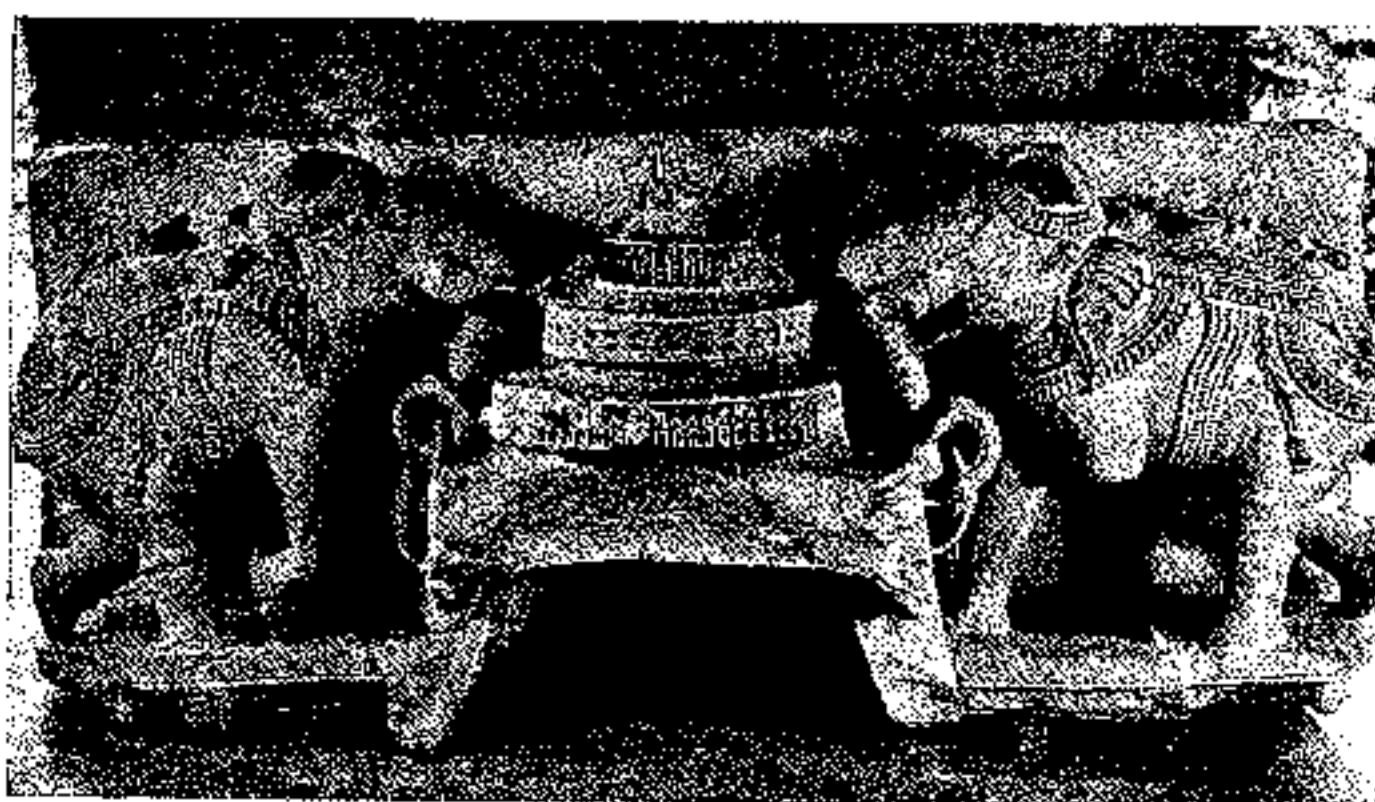
(क) बडोह — मंदिर-समूह



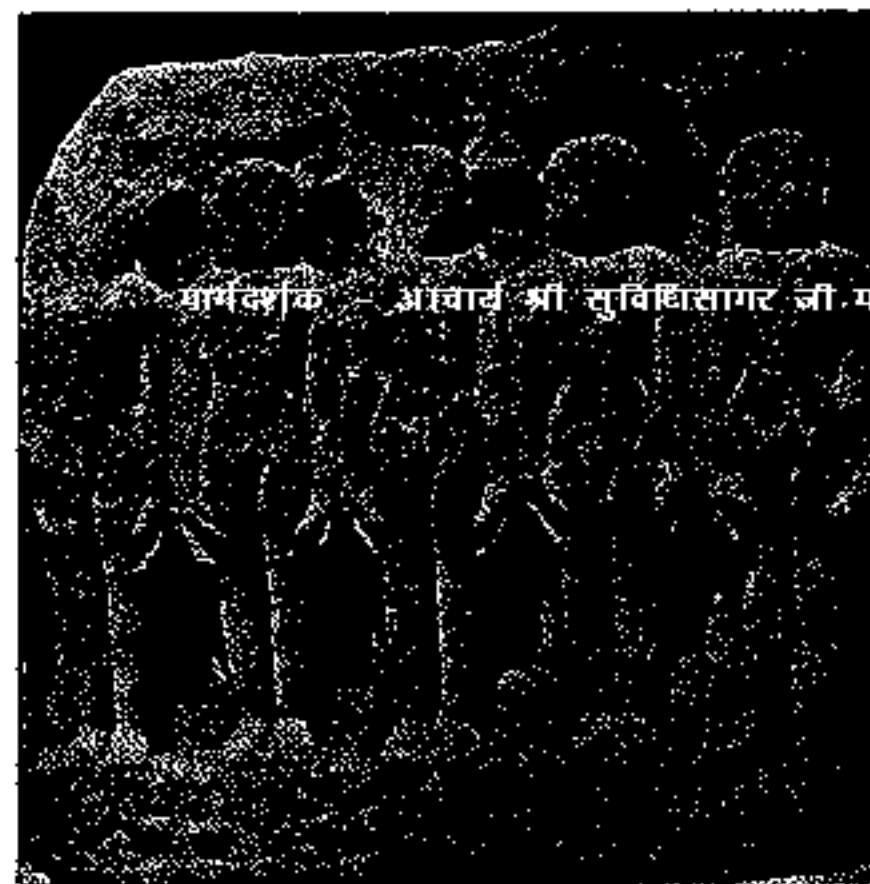
(ख) पजनारी — मंदिर



(क) दिगंबर जैन संग्रहालय, उज्जैन — तीर्थकर-मूर्ति का परिकर



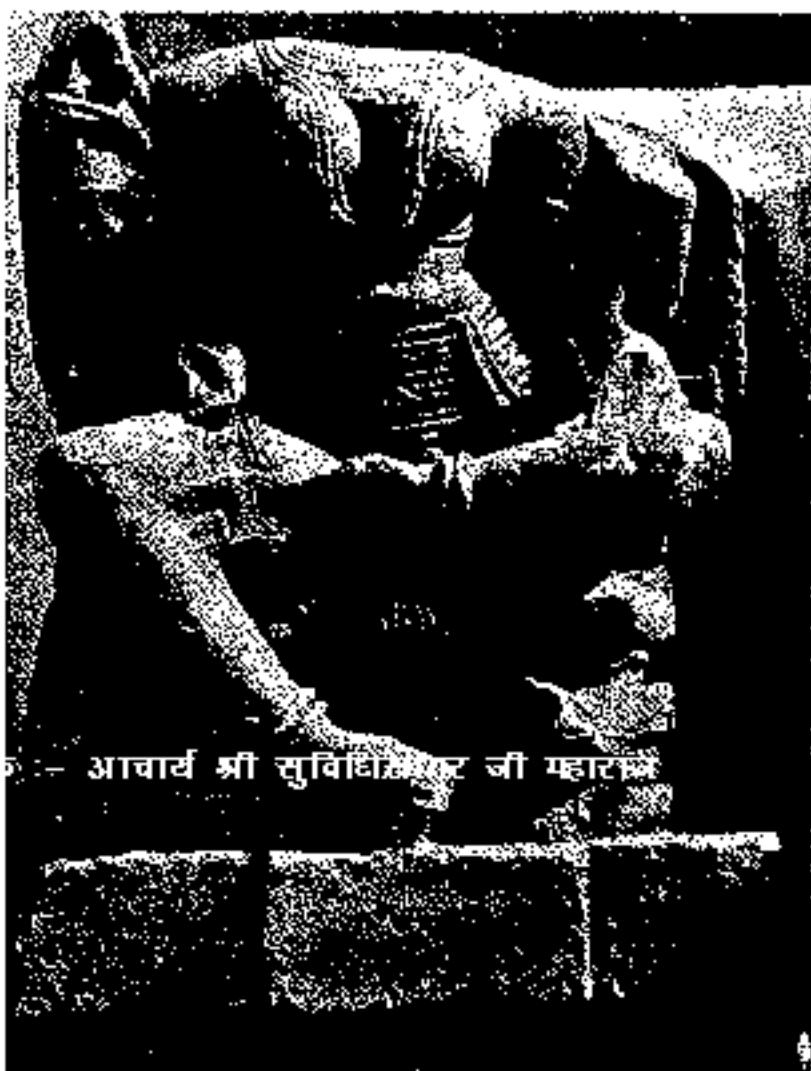
(ख) नरवर — तीर्थकर-मूर्ति का परिकर



(क) दिगंबर जैन संग्रहालय — बाल अतिथी की मूर्ति



(ख) साहित्याकाश गुफा — विद्याधर की मूर्ति



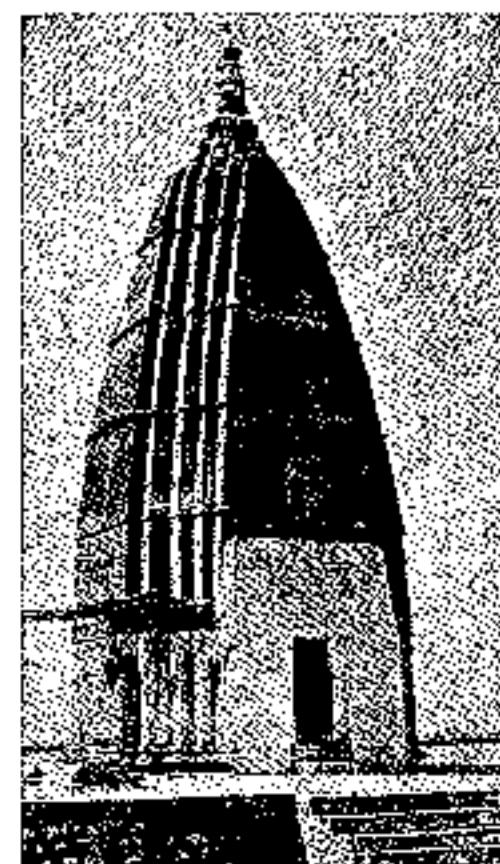
(क) शिक्षुरी — अधिका



(ख) दिगंबर बैत संग्रहालय, उज्जौन — ज्ञासनदेवी की मूर्ति



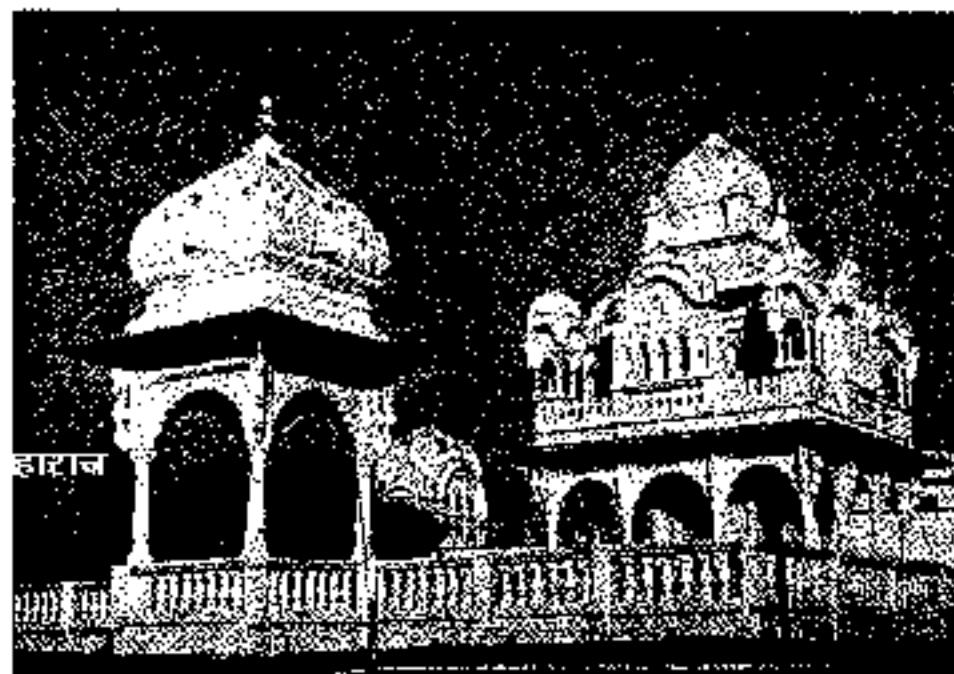
(क) बडोह — मंदिर-समूह



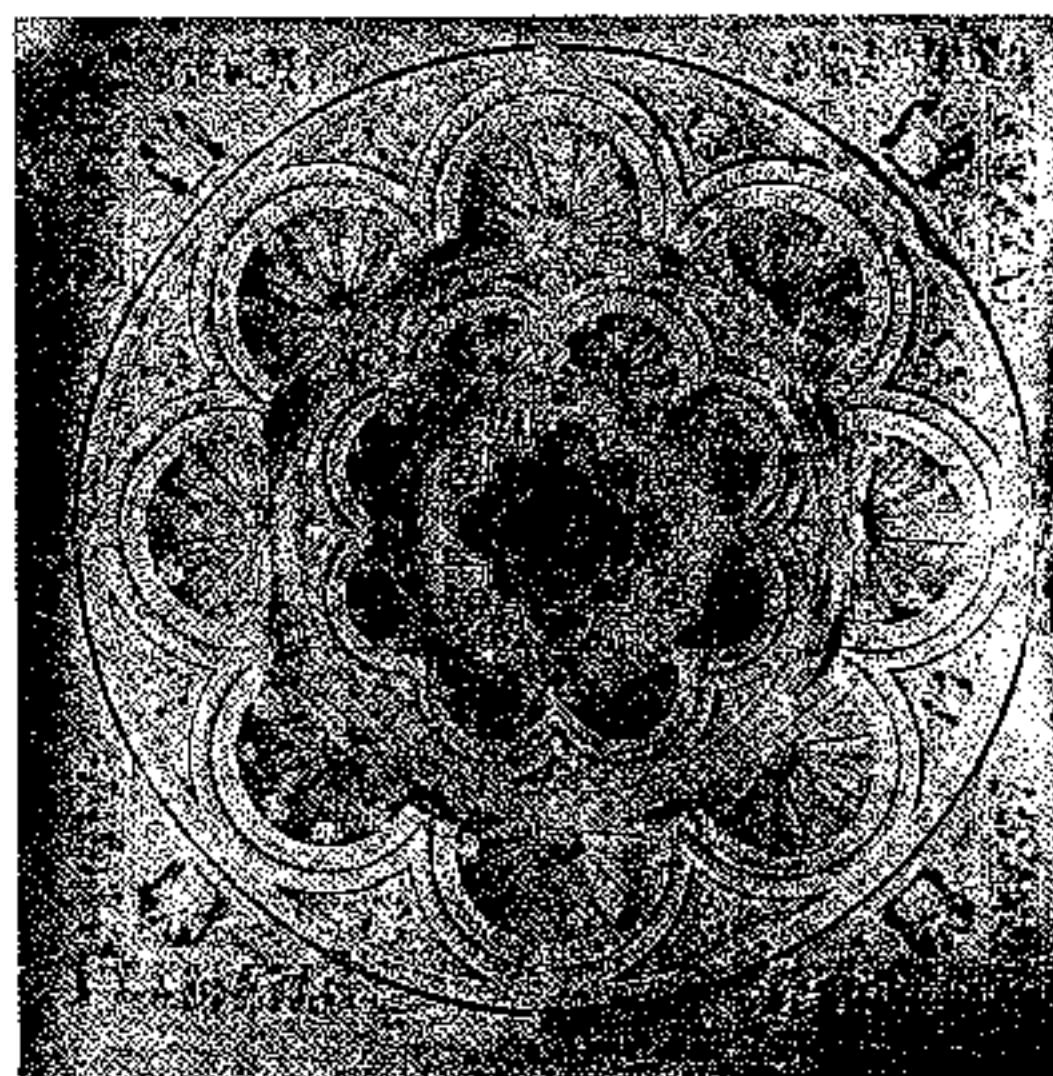
(ल) पजनारी — मंदिर

वास्तु-स्मारक एवं सूतिकला 1300 से 1800 ई०

[ भाग 6 ]



(क) मल्हारगढ़ — मंदिर का ऊपरी भाग



(ख) कोलहा — मंदिर की अलंकृत छत

कला के प्राचीन केंद्र विदिशा में इस काल में भी मंदिर और मूर्तियों का निर्माण होता रहा। यहाँ नाग-नागियों और यक्ष-यक्षियों की इस काल की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। उसी जिले के बडोह और पठारी में अनेक जैन मंदिर और कुछ उत्कृष्ट पाषाण-मूर्तियों का निर्माण हुआ।

भोपाल जिले के भद्रभदा के सभीप समसगढ़ में तेरहवीं शताब्दी की कुछ विशाल तीर्थकर-मूर्तियाँ और स्थापत्य संबंधी शिल्पाखण्ड प्राप्त हुए हैं।

विध्य क्षेत्र (बुदेलखण्ड और बघेलखण्ड) में भध्यकाल में तक्षण-कला के क्षेत्र में जैनों ने अत्यधिक कार्य किया। देवगढ़, थूबोन, सोनागिरि, द्रोणगिरि, कुण्डलपुर, पपीरा, अहार, रहली, बीना-बारहा बानपुर, बरहटा, पजनारी तथा अन्य अनेक स्थान उल्लेखनीय हैं। यहाँ कला के क्षेत्र में व्यापक कार्य संपन्न हुआ। थूबोन, कुण्डलपुर, बीना-बारहा और अहार में बारहवीं शती के अन्तर बहुत समय तक निर्माण-कार्य चलता रहा।

सामर जिले में सागर से दक्षिण-पूर्व में ७५ किलोमीटर पर बीना-बारहा सुखचैन नदी के टट पर स्थित है। वहाँ दो मंदिर और एक गंधकुटी है। पहला मंदिर चंद्रप्रभ का है। मूलनाथक को मूर्ति की स्थापना १७७५ ई० में भट्टारक महेंद्रकीर्ति ने करायी थी। इस मंदिर में महावीर की एक मूर्ति ४ मीटर ऊँची है। दूसरा मंदिर शांतिनाथ का है, उसका निर्माण १७४६ ई० में हुआ था। इसमें स्थापित शांतिनाथ की खड़गासन मूर्ति ५ मीटर से भी ऊँची है। गंधकुटी बहुत ऊँचाई पर स्थित है।

अहार टीकमगढ़ से २० किलोमीटर पूर्व में है। इस तीर्थक्षेत्र को चंदेल शासकों ने सुरचिपूर्वक संवारा था; उन्होंने यहाँ अनेक मंदिरों और सरोकरों का निर्माण कराया। यहाँ के वर्तमान मंदिरों का निर्माण ग्यारहवीं और उसके बाद की शतियों में हुआ। शांतिनाथ तथा अन्य तीर्थकरों और बाहुबली के मंदिरों के अतिरिक्त यहाँ अनेक मान-स्तंभ भी हैं। मूर्तियों के पादपीठों पर उत्कीर्ण अभिलेखों से जैनों की बहुत-सी शाखाओं का परिचान होता है जिन्होंने इस स्थान के विकास में योग दिया। अहार में एक संग्रहालय की स्थापना की गयी है।

टीकमगढ़ के सभीप बानपुर में सर्वतोभद्र-सहस्रकूट की रचना है जिसकी प्रत्येक दिशा में एक द्वार है। नागर-शैली का यह मंदिर एक मीटर ऊँचे चतुष्कोणीय अधिष्ठान पर निर्मित है। अलंकृत स्तंभ, छतें, गर्भगृह और उत्तुंग शिखर—इस मंदिर की समूची संयोजना वास्तव में ध्यान देने योग्य है। नदी-देवियों, नदीग्रहों और पुष्प-यल्लरी की संयोजना भी उत्कृष्ट अलंकरणों के साथ की गयी है। आदिनाथ, सरस्वती और अन्य देव-देवियों की मूर्तियों का अंकन सुरचिपूर्ण है। टीकमगढ़ के सभीप पपीरा और नवागढ़ नामक दो तीर्थक्षेत्र और भी हैं।

छतरपुर जिले का द्रोणगिरि भी एक महत्वपूर्ण सिद्ध-क्षेत्र है। इस क्षेत्र में प्राकृतिक सुषमा विशेषता पहाड़ियों पर तीस जैन मंदिर हैं। इनका निर्माण १४८३ ई० और १५३६ ई० के मध्य हुआ।

सोनागिरि, नैनागिरि, गढ़ा, गोलाकोट, पजनारी और अजयगढ़ भी उल्लेखनीय स्थान हैं जहाँ इस काल में जैन कला और स्थापत्य का विकास हुआ। पन्ना जिले के अजयगढ़ में चंदेल राजा बीरबर्मा के शासन-काल में, १२७६ ई० में, शत्रिनाथ की एक महत्त्वपूर्ण मूर्ति की स्थापना हुई थी। यहाँ निर्माण-कार्य बाद तक चलता रहा।

नरसिंहपुर जिले के बरहटा ग्राम के सभीप नौनिया में आदिनाथ, चंद्रप्रभ, और महावीर की विशाल मूर्तियाँ हैं। यह स्थान ग्यारहवीं से चौदहवीं शती तक जैन केंद्र रहा।

इस काल में पाषाण की मूर्तियों के अतिरिक्त, आदिनाथ, पार्वतीनाथ, महावीर आदि कुछ तीर्थकरों की धातु की मूर्तियाँ भी बनीं। सरस्वती, अंबिका, चक्रेश्वरी आदि देवियों की मूर्तियाँ भी स्वर्ण, रजत, अष्टधातु या कास्य धातु की बनीं। ये मूर्तियाँ विभिन्न मंदिरों में और खालियर, इंदौर, रथपुर बुबेला और नागपुर के संभालयों में विद्यमान हैं।

जैन धर्म और ललित कलाओं के विकास में जैन साधुओं और आचार्यों के योग का उल्लेख किया जा चुका है। उन्होंने साहित्य, सौसिक प्रबन्धनों और दृश्य कलाओं के माध्यम से ज्ञान के संवर्धन में प्रबल सहयोग दिया।

इस काल के साधुओं में आचार्य तारण-तरण-जी का स्थान सर्वोपरि है। विदिशा जिले में सिरोज के सभीप लेमरखेड़ी में १४४८ ई० (अपने जन्मकाल) से ही इन्होंने अपना सारा जीवन साधना में व्यतीत किया। गुना जिले में बेतवा नदी के तट पर स्थित मल्हारगढ़ में इन्होंने अपना अंतिम उपदेश दिया। अपने सड़सठ वर्ष के जीवन में इस महात्मा ने मानवतावादी दृष्टिकोण से ज्ञान का संदेश प्रसारित किया जिसमें सांसारिक जीवन की विषमताओं को कोई स्थान नहीं। यद्यपि शास्त्रों, मंदिरों और तीर्थ-क्षेत्रों की उपयोगिता पर उनका विश्वास था, तथापि, उन्होंने आचार की भूमिका पर आधारित वैचारिक स्वातंत्र्य का समर्थन किया। उनके बौद्ध शंथ चौदह खनों की भौति उनके अनुयायियों को सांसारिक और आत्मिक जीवन में समृद्धि और दिशा-निर्देश प्रदान करते हैं। सेमरखेड़ी और मल्हारगढ़ के स्मारक इस काल के अंतिम चरण के स्थापत्य का प्रतिनिधित्व करते हैं।

इस अध्याय के साथ कुछ विशेष चित्र दिये जा रहे हैं जिनसे इस काल में कला के विकास का परिज्ञान होगा।

चित्र २२७ में उज्जैन क्षेत्र से प्राप्त एक सर्वतोभद्र चित्रित है जिसमें ध्यानासन में स्थित तीर्थकरों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। पादपीठ पर उत्कीर्ण सिंहों के शिल्पांकन में कौशल का अभाव है। सागर जिले के पजनारी और रहली के पास स्थित पटनारंज नामक स्थान इस काल में हुए कला के छास की ओर संकेत करते हैं। (चित्र २२८ क, च)

स्वालियर किले की विशाल तीर्थकर-मूर्तियाँ (चित्र २२६ क, ख) अलग ही प्रकार की हैं। शंखोदारों के विहारालय में, जिसमें ऐसे और हाथों के अनुपात रहित अंकन में, कुशलता की कमी स्पष्ट रूप से दीख पड़ती है। फिर भी गज और अनुचरों की प्रस्तुति से एकसरता कुछ कम हो जाती है।

चित्र २३० क और ख में तीर्थकर-मूर्तियों के परिकर का उपरिभाग चित्रित है जिसमें कला का अपकर्ष द्रष्टव्य है। इनमें की प्रथम मूर्ति अब स्वालियर-संग्रहालय में है और द्वितीय दिगंबर जैन संग्रहालय, उज्जैन में है।

चित्र २३१ क में पंच बाल-वति तीर्थकर खड़गासन में स्थित हैं, उनके हाथ जंधाओं पर हैं। यहाँ सौदर्य-बोध का अभाव ध्यान आकृष्ट करता है।

फिर भी इस काल में उत्कीर्ण कुछ देव-मूर्तियों में अनुपात और सौदर्य-बोध का अच्छा लिंगाह हुआ है। उदाहरण के लिए चित्र २३१ ख द्रष्टव्य है जिसपर एक मालाधारी विद्याधर की मूर्ति अंकित है। शिवपुरी से प्राप्त अंचिका की मस्तकहीन मूर्ति (चित्र २३२ क) और उज्जैन से प्राप्त शासनदेवी की मूर्ति (चित्र २३२ ख) दर्शाती हैं कि इस काल में कला की परंपरा किस प्रकार आगे बढ़ी।

विदिशा जिले के बडोह और सागर जिले के पजनारी (चित्र २३३ क, ख) आदि स्थानों के उत्तर भृगुकालीन जैन मंदिरों में एक भी ऐसा नहीं जिसमें इससे पूर्व के काल के स्थापत्य की भव्यता विद्यमान हो, वरन् उनमें कभी-कभी उत्तर भृगुकालीन राजपूत-शैली के लक्षण दिख जाते हैं। भल्हार-गढ़ (चित्र २३४ क) इसका उदाहरण है। मंदसौर जिले में भानपुरा के निकट स्थित कोलहा के मंदिर की अलंकरण-मुक्त छत (चित्र २३४ ख) पश्चिम भारत के मंदिरों की छतों का स्मरण कराती है।

कृष्णदत्त बाजपेयी



## पश्चिम भारत

पश्चिम भारत को उन क्षेत्रों में परिगणित किया जा सकता है, जहाँ कलात्मक और स्थापत्यीय कार्य-कलाएँ ने बहुत प्रारंभिक काल में विकास पा लिया था। स्थापत्यीय संरचना वाले प्राचीनतम मंदिर के भग्नावशेष समूचे भारत में अबतक मात्र राजस्थान में ही प्राप्त हुए हैं। ये भग्नावशेष राजस्थान में जयपुर के निकटवर्ती वैराट में उस गोलाकार मंदिर के हैं जिसका समय ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी निर्वाचित किया जाता है। शिखर-मण्डित मंदिरों के विकास में भी राजस्थान का योगदान उल्लेखनीय है, जिसका साथ्य चित्तौड़ के निकट नगरी की खुदाई में प्राप्त पाँचवीं शताब्दी के एक मंदिर-शिखर के आमलक का भग्नावशेष देता है। प्रतीत होता है कि इस क्षेत्र ने उस नागर-मंदिर-शैली को विकसित करने में योग दिया है जिसका सूलरूप मुप्त और गुप्तोत्तर-काल के आद्य शिखर-मंदिरों में निहित है। ऐसे बहुत से कारण हैं जिनके आधार पर यह अनुमान लगाना कठिन नहीं कि लगभग पाँचवीं से लेकर आठवीं शताब्दी तक के संक्रान्तिकाल के मध्य निर्मित समस्त मंदिर पूर्णतया नष्ट हो चुके हैं और जो कुछ विकसित नागर-शैली के मंदिर इस क्षेत्र में मिले हैं उनमें से अधिकांशतः मंदिरों का रचनाकाल आठवीं से तेरहवीं शताब्दी के मध्य तक का लगाया जा सकता है।

पश्चिम भारत के इतिहास में मुसलमानों के विध्वंसक अभियानों के लिए तेरहवीं शताब्दी के अंतिम तथा चौदहवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्ष उल्लेखनीय रहे हैं। बार-बार होने वाले इन अभियानों से, विशेषकर अलाउद्दीन खिलजी के अभियानों से पहले ही, राजस्थान और गुजरात में हिन्दू शासकों के गढ़ों के छवस्त हो जाने के कारण इन आक्रामक विजातीय मूर्ति-भंजकों की धार्मिक ईर्ष्या तथा धन-लोलुपता ने पश्चिम भारत के असंख्य मंदिरों का जी भरकर विध्वंस किया। इन आक्रामकों द्वारा लाया गया यह प्रकण्ठ भेदभावात मात्र मंदिरों के विध्वंस तक ही सीमित नहीं रहा अपितु इसने उत्पीड़ित जनसमाज के हृदय एवं मस्तिष्क को भी आड़ोलित कर दिया। इस क्षेत्र का जन-समाज जब इस आघात को सहकर ऊपर उठने में सफल हुआ तो उसके अंदर कुछ नये मान-मूल्यों ने स्थापना पायी जिसके साथ उसे अपने कुछ समृद्ध पारंपरिक मान-मूल्यों को छोड़ना भी पड़ा। अतः एक प्रकार से मध्यकाल नेभावी पीढ़ियों में स्वयं ही प्रवेश पा लिया।

मेवाड़ के गुहिला शासकों ने खिलजियों द्वारा विजित चित्तौड़ को एक दशक के मध्य ही स्वतंत्र करा लिया। यह विजित जाति की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी क्योंकि चित्तौड़ राजपूतों का एक

परंपरागत सुदृढ़ केंद्र था। सन् १३११ में चित्तोड़ की स्वाधीनता के तत्काल बाद, भेवाड़ के शासकों ने जन-समाज के और अपने आत्मबल को ऊचा उठाने का कार्य हाथों में लिया। इसके लिए उन्होंने आक्रमणकों द्वारा ध्वस्त प्राचीन मंदिरों का पुनरुत्थान तथा नये मंदिरों का निर्माण भी कराया। यह कहा जाता है कि मंदिर एवं भवनों आदि के निर्माण-कार्यों का सूचिपात राणा लाला ने किया जिसका अनुसरण उसके उत्तराधिकारी राणा भोकल ने किया। किंतु राजस्थान में एक प्रकार का स्वर्णयुग राणा कुंभा (सन् १४३८-६८) के शासनकाल में आया। राणा कुंभा अपने सफल सैन्य अभियानों की भाँति ही कलात्मक सूजन कराने में प्रदीप था। उसने अपनी महस्त्वाकांक्षा के अनुरूप चित्तोड़ को भव्य भवनों, प्रासादों और मंदिरों से सुसज्जित करने के लिए अनेक दक्ष वास्तु-शिल्पियों को प्रश्न दिया। उसके बनवाये भवनों एवं मंदिरों के शीर्ष-भाग मण्डप से अलंकृत हैं। उसने सूत्रधारों (शिल्पियों) के साथ ही मध्यकालीन भारत के प्रसिद्ध वास्तुविदों तथा वास्तु-विज्ञान-ग्रंथों के प्रणेता विद्वान् लेखकों को भी सेवा में नियुक्त किया जिनमें प्रमुख शिल्पी थे। मण्डन उसके द्वारा लिखे वास्तु-विज्ञान ग्रंथों में 'प्रासाद-मण्डन' तथा 'राजवल्लभ-मण्डन' उल्लेखनीय हैं। इन भवन-विमर्श के कार्य-कलापों से मंदिर-निर्माण के एक नये युग का समारंभ हुआ। इस क्षेत्र के जैनों ने भी अहंतों के ध्वस्त मंदिरों का पुनरुद्धार तथा नये मंदिरों का निर्माण कराकर पवित्र कार्थों के संपादन में अपने उत्साह का प्रदर्शन किया।

इस काल में वास्तु-विज्ञान पर ठक्कर फेर्नामक एक जैन द्वारा सन् १३१५ में लिखे गये 'वास्तु-सार' ग्रंथ (जिसमें लेखक द्वारा दिये गये विवरण के अनुसार दिल्ली पर अलाउद्दीन खिलजी का शासन था)।<sup>1</sup> से प्रतीत होता है कि जैन पश्चिम भारत में मुसलमानों के आक्रमणों का सामना करते हुए भी मंदिर-निर्माण की परंपरा को यथाविधि संरक्षित बनाये रखने में सफल रहे। वास्तु-सार में लेखक ने मंदिर की नागर-बौद्धी को पश्चिम-भारतीय रूप में रूपांतरित करते हुए उसकी चिन्हास-रूपरेखा तथा ऊचाई के विस्तार का प्रतिपादन किया है। इस ग्रंथ के अनुसार मंदिर को 'प्रासाद' कहा गया है। मंदिर का अंतर्भूमि मूल-गभार या गर्भगृह कहलाता था। वास्तुसार के अनुसार मंदिर की संरचना में गर्भगृह से आगे अक्षीय रेखा पर स्थित तीन मण्डप होते थे। इन तीनों मण्डपों में पहला मण्डप, जो गूढ़-मण्डप (अंतराल) कहलाता था जिसे एक कक्ष का काम करता था। इसके उपरांत, मध्य भाग में एक बड़ा कक्ष होता था जिसे रंग-मण्डप, नवरंग या नृत्य-मण्डप कहते हैं। जिसमें नृत्य एवं नाटकीय कलाओं के प्रदर्शन किये जाते थे। तीसरा मण्डप, बलन-मण्डप या मुख-मण्डप कहलाता था जो प्रवेश-मण्डप होता था, जिससे होकर मंदिर में पदार्पण किया जाता था। इसी प्रकार लंबरूप धुरी के आधार पर मंदिर के तीन भाग होते थे। मंदिर का निचला आधार-भाग अधिष्ठान कहलाता था, मध्य का भाग मण्डोबर तथा ऊपरी भाग शिखर होता था जो आमतौर से मण्डित होता था। यह ग्रंथ मंदिर के आधार-

1. अब्रवाल (वी एस) स्टडीज इन इविष्ट्यन भार्द. 1965, वाराणसी, पृ 271-75. वास्तु-सार के भूलिपाठ एवं उसके हिस्सी अनुवाद का एक संस्करण जैन-विष्विध-ग्रंथ-माला सीरीज, 1936, जयपुर, से भगवानदास जैन द्वारा प्रकाशित कराया गया है। ठक्कर फेर्न के समय के लिए इस संस्करण का पृष्ठ 10 देखिए।

भाग अधिष्ठान को भी दो भागों, जगती-पीठ तथा प्रासाद-पीठ, में विभक्त करता है। जगती-पीठ भू-सतह से ऊपर उठा हुआ मंचाकार भाग है जबकि प्रासाद-पीठ मंदिर के ठीक नीचे की चौकी है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में तलघर के विभिन्न स्तरों (सतहों), शिखर के विभिन्न भागों तथा मण्डोवर-भाग की संरचनाओं आदि का विवरण दिया गया है और उनके लिए विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है। इस ग्रन्थ का महत्व इस तथ्य में निहित है कि इसने तेरहवीं शताब्दी से लेकर पंद्रहवीं शताब्दी तक की उस महत्वावधि में जबकि पश्चिम-भारत में मंदिर-वास्तु की पुनर्जीवीकरण की प्रक्रिया पूर्ण पराकाष्ठा पर थी, नागर-शैली के मंदिरों की समृद्ध परंपरा को आगे बढ़ाया।

प्रतीत होता है कि पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य राणा कुम्भा द्वारा दी गयी राजनीतिक स्थिरता ने जैनों के लिए एसे वातावरण का निर्माण किया जिसमें जैनों ने मात्र मेवाड़ में ही नहीं अपितु सभीप-वर्ती अन्य क्षेत्रों में भी मंदिरों का निर्माण कराया। राणा कुम्भा और उसके उत्तराधिकारी के शासन-काल के अंतर्गत चिराङ्ग में दिगंबर जैनों के अनेकानेक मंदिरों का निर्माण हुआ जिनमें जैन कीति-स्तंभ के निकटवर्ती आदिनाथ का मंदिर सबसे प्राचीन है। गिर्लार पहाड़ी के तीन प्रसिद्ध मंदिर—समरसिंह का मंदिर (सन् १४३८), संप्रति राजा का मंदिर (सन् १४५३) तथा मेलक-बसही (सन् १४५५) पंद्रहवीं शताब्दी के मध्यकाल की निर्मितियाँ हैं। ये समस्त मंदिर नागर-शैली-मंदिरों के सोलंकी रूपांतरण पर आधारित हैं; जो ठक्कर फेरु द्वारा वास्तु-सार में उल्लिखित इस प्रकार के मंदिर के सामान्य विवरण को पूर्णतः प्रभाणित करते हैं।

जैनों द्वारा कराये गये स्थापत्यीय निर्माणों की दृष्टि से पंद्रहवीं शताब्दी पश्चिम-भारत के लिए विशेष उल्लेखनीय प्रतीत होती है। इस काल में इस क्षेत्र के उस मध्यकालीन स्थापत्य को सुस्थिर किया गया जिसे जेम्स फर्मूसन<sup>1</sup> ने मध्य शैली (मिडिल-स्टाइल) कहा है। इस मध्य शैली की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति इस युग के वास्तुविदों द्वारा तीर्थकरों के लिए निर्मित एक अनूठे प्रकार के मंदिर में देखी जा सकती है। यह शैली नागर-शैली मंदिरों की सोलंकी एवं बघेल-शैलियों के पूर्ववर्ती अनुभवों पर आधारित है। इन मंदिरों में अधिष्ठान, देवकुलिकाएँ (चारों ओर देवालय के आकार की संरचनाएँ), अंग-शिखरों के समूह से युक्त शिखर, स्तंभों पर आधारित मण्डप, गवाक्ष (छतदार खिड़कियाँ) आदि प्रमुख भाग होते हैं। मध्य में केंद्रवर्ती वर्गिकार गर्भगृह-युक्त इन मंदिरों की विच्छाल-रूपरेखा की विशदता ने एक तर्ये रूपाकार को अन्म दिया है। इस प्रकार के मंदिर जैनों में प्रायः चौमुख (चतुर्मुख) के नाम से जाने जाते हैं जो भारतीय वास्तुविद्या-विषयक शंथों में उल्लिखित सर्वतोभद्र-प्रकार के मंदिरों के सामान्यतः अनुरूप हैं।

चौमुख-प्रकार के मंदिर का श्रेष्ठतम उदाहरण मेवाड़ में सदरी के निकट रणकपुर अथवा रनपुर स्थित आदिनाथ या युगादीश्वर-मंदिर है। यह मंदिर नैसर्गिक सौदर्यमयी उपत्यका में अनेकानेक जैन मंदिरों के मध्य उस स्थान पर स्थित है जिसे मेवाड़ के पौच्छ पवित्र स्थलों के अंतर्गत माना जाता है।

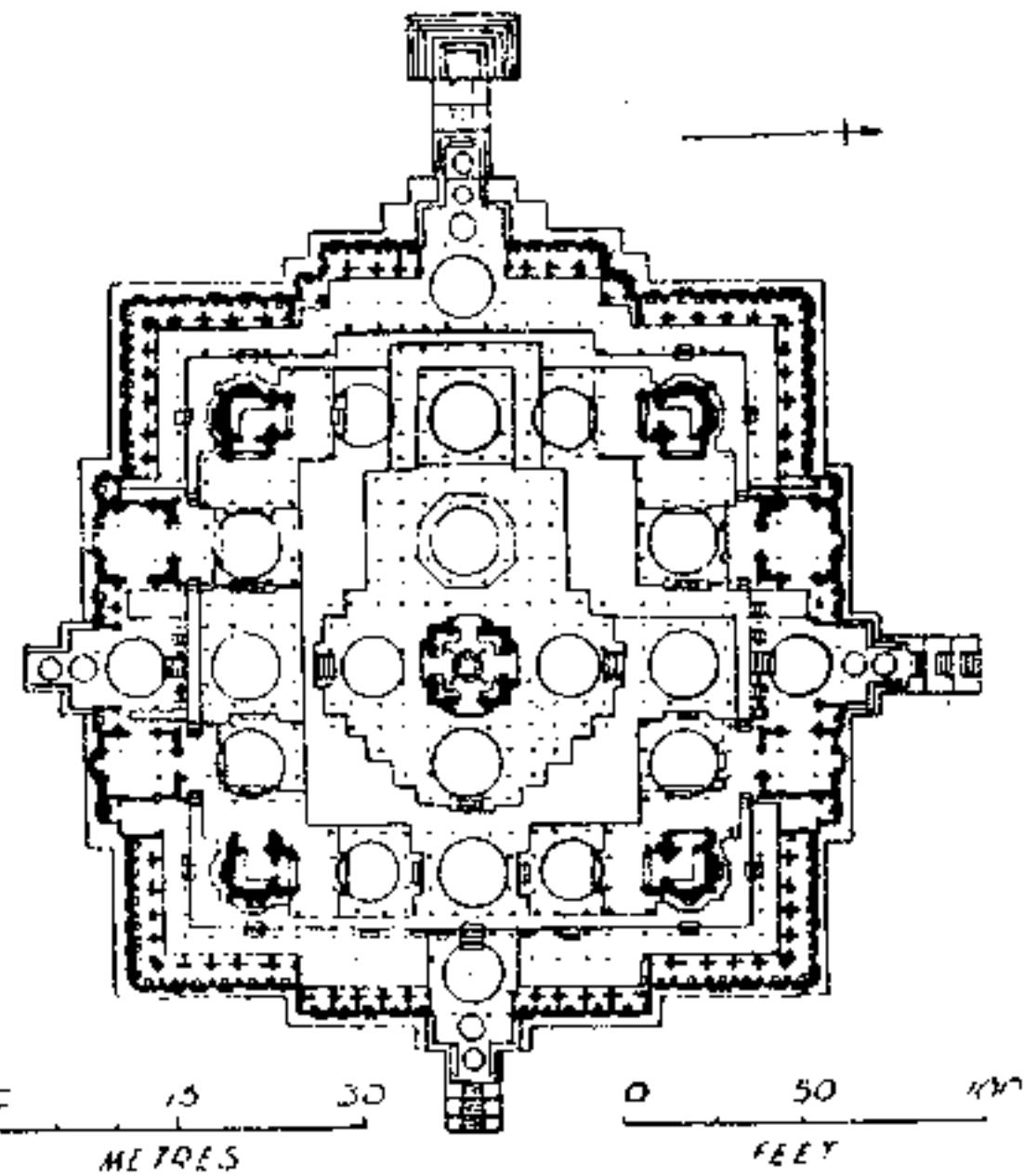
1 फर्मूसन (जेम्स) हिन्दू प्रैक इन्डियन एवं इंस्टर्न अर्ट्सिटेक्चर, 1, पुनर्मुद्रित, 1967, दिल्ली, पृ. 60.

मंदिर के मुख-मण्डप के प्रवेश-द्वार के पास्तंभ में लगे एक स्तंभ पर अंकित अभिलेख के अनुसार इस मंदिर का निर्माण सन् १४३६ में एक जैन धर्मनियायी धरणाक के आदेशानुसार देपाक नामक वास्तुविद् ने किया था। इस अभिलेख में राणा कुंभा के उल्लेख से ज्ञात होता है कि इस भव्य चौमुख-मंदिर के निर्माण में कला और स्थापत्य के महान् प्रशयदाता राणा कुंभा का योग रहा है। यह मंदिर ३७१६ वर्ग-मीटर क्षेत्र में फैला है, इसमें उनतीस बड़े कक्ष तथा चार सौ छोटे स्तंभ हैं। इससे स्पष्ट है कि इस मंदिर की योजना निस्संदेह ही महत्वाकांक्षी रही है।

इस मंदिर की विन्यास-रूपरेखा यद्यपि जटिल है तथापि भारी या बेढील नहीं है (रेखाचित्र २३)। जब इस मंदिर के बग्कार गर्भगृह से, जिसमें चौमुखी प्रतिमा स्थापित है, अच्युतन प्रारंभ करते हैं तो इस मंदिर की एक सुस्पष्ट ज्यामितीय कम्बलद्वता दीख पड़ती है। पश्चिमवर्ती पहाड़ी ढलान पर स्थित होने के कारण मंदिर के जगती या अधिष्ठान-भाग को इसके पश्चिम दिशा में प्रत्येक ऊँचा बनाया गया है। उस मंच के, जिसके अंदर कक्ष हैं, ऊपर केंद्रवर्ती भाग में बग्कार गर्भगृह स्थित है। इसके चारों ओर की प्रत्येक भित्ति के मध्य एक-एक द्वार है। प्रत्येक द्वार रंग-मण्डप में खुलता है और इस रंग-मण्डप का द्वार एक दोतले प्रवेश-कक्ष में खुलता है। इस मण्डप के बाद एक अन्य कक्ष आता है जो आकर्षक है। यह कक्ष भी दोतला है; इस भाग में सीढ़ियाँ हैं, इसलिए इसे बलन या नालो-मण्डप कहा जाता है। लगभग ६२ मीटर तथा ६० मीटर लंबे-चौड़े क्षेत्रफल के आयताकार (प्रायः बग्कार) दालान जिसमें चारों ओर प्रक्षिप्त बाह्य भाग की मुख्य संरचनाएँ सम्मिलित नहीं हैं, के चारों ओर की दीवार मंदिर की ऊँचाई की बाह्य संरचना में मुख्य स्थान रखती है। इस सीमा-भित्ति के भीतर की सतह पर द६ देवकुलिकाओं (चित्र २३५) की एक लंबी पंक्ति है। ये देवकुलिकाएँ अन्य देवी-देवताओं की प्रतिमाओं की स्थापना के लिए लघु देवालय के आकार की हैं। देवकुलिकाओं के शिखर, बाह्य ओर से देखने पर, इस भित्ति के शीर्ष पर किये गये अलंकरण से भी ऊपर निकली हुई स्तूपिकाओं की पंक्ति की भाँति दिखाई पड़ते हैं। इनसे परे मंदिर के शीर्ष पर पाँच शिखर हैं, जिनमें से सबसे बड़ा और प्रमुख शिखर गर्भगृह को मण्डित किये हुए है (चित्र २३६)। शेष चार शिखर चारों कोनों पर स्थित देवालयों को मण्डित किये हुए हैं। इसके अतिरिक्त बीस गुंबद और भी हैं जो स्तंभाधारित प्रत्येक कक्ष के ऊपर छत के रूप में निर्मित हैं। इस आयताकार मण्डप में किसी भी प्रवेश-मण्डप से प्रवेश किया जा सकता है। ये प्रवेश-मण्डप दो तल वाले हैं और तीन ओर की भित्तियों के मध्य में स्थित हैं। प्रवेश-मण्डप अत्यंत मनोहारी हैं। इन प्रवेश-मण्डपों में सबसे बड़ा पश्चिम की ओर है जिसे निस्संदेह मुख्य प्रवेश-मण्डप माना जा सकता है। इन प्रवेश-मण्डपों से होकर स्तंभों पर आधारित अनेकानेक बराभरों तथा मुख्य मण्डप को पार करते हुए केंद्रवर्ती बग्कार गर्भगृह तक पहुँचा जा सकता है। गर्भगृह २ मी० × ३०.५ मी० लंबा-चौड़ा आयताकार (प्रायः बग्कार) कक्ष है जिसके चारों ओर स्तंभों पर आधारित कक्ष हैं। गर्भगृह की आंतरिक संरचना स्वस्तिकाकार कक्ष के रूप में है जिसमें संगमरमर की चौमुख-प्रतिमा प्रतिष्ठित है।

इस मंदिर की विशेषता उसकी ऊँचाई या विशद विन्यास-रूपरेखा और उसपर सुदक्षतापूर्ण निर्माण ही नहीं वरन् उसकी विविधता तथा उसके विभिन्न भागों की बहुलता है। उसका मात्र

कोई एक भाग पर ही नहीं बरन् उसका समूचा रूप ही विशिष्ट है, जिसके लिए जेम्स फर्यूसन द्वारा उसकी की गयी प्रशंसा यहाँ उद्धृत की जा सकती है ।<sup>1</sup> फर्यूसन के अनुसारः 'इसके अनेकानेक मंदिर और इन भागों के सामान्यतः लघु आकार वद्यपि इस मंदिर के एक स्थापत्यीय वैभवपूर्ण संरचना होने के दावे में जावक हैं परंतु इन भागों की विविधता, प्रत्येक स्तंभ पर किया गया



रेखाचित्र 23. रणकपुरः बुगादीश्वर-मंदिर की रूपरेखा (फर्यूसन के अनुसार)

एक दूसरे से सर्वथा भिन्न सूक्ष्मांकन का सौंदर्य, उनका व्यवस्था-क्रम, उसकी मोहकता, सपाठ छतों पर विभिन्न ऊँचाईयों के गुंबदों का सुखचिपूर्ण समायोजन तथा प्रकाश के लिए बनायी गयी संरचनाओं की विधि—ये समस्त विवेषताएँ मिलकर एक अत्युत्तम प्रभाव की सृष्टि करती हैं। जहाँ तक मुझे जात है, भारत में वस्तुतः इस प्रकार का कोई अत्यं भंदिर या भवन नहीं है जिसके अंतर्भूमि में स्तंभों का इतना लावण्यपूर्ण संयोजन रहा हो, और उसकी संरचना कुल मिलाकर इस मंदिर की भाँति प्रभावोत्पादक रही हो ।

1 फर्यूसन (जेम्स), पूर्वोक्त, पृ. 47-48.

रणकपुर का यह चौमुख-मंदिर यद्यपि स्थापत्य-कला का एक उत्कृष्टतम् उदाहरण नहीं है तथापि यह विवेच्य काल के पश्चिम भारत के शिखर-मण्डित 'मध्य शैसी' में निर्मित जैन मंदिरों में दर्शनीय स्थान रखता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यकालीन जैन मंदिरों के पीछे बहुविविधिता की भावना मुख्य प्रेरणा-रूप में कार्यस्त रही है। यह चौमुख-मंदिर बहुविविधिता की इसी भावना पर आधारित है। यही समव है कि पश्चिम भारत के अन्य प्रमुख जैन केंद्रों में भी इसी प्रकार के मंदिरों का निर्माण हुआ। माउण्ट आबू (आबू की पहाड़ी) पर स्थित प्रसिद्ध दिलचाड़ा-मंदिर-समूह में भी तीर्थकर पार्वतनाथ को समर्पित इसी प्रकार का एक चौमुख-मंदिर है। इस मंदिर की चौमुख-प्रतिमा पर उत्कीर्ण अभिलेख से यह जात होता है कि इस मंदिर का निर्माण सन् १४५६ में हुआ था। यह मंदिर रणकपुर के चौमुख-मंदिर के नितांत अनुरूप है। इसकी विन्यास-रूपरेखा के अनुसार इसमें आर मण्डप हैं जो गर्भगृह के चारों ओर संलग्न हैं। इसका मुख्य प्रवेश-द्वार पश्चिम दिशा में है। यह मंदिर रणकपुर-मंदिर की अपेक्षा यथेष्ट बड़ा है और इसकी छत-रचना में यहीं के अति प्रसिद्ध तेजपाल-मंदिर से प्रेरणा ली गयी है। दो तसवाले गर्भगृह तथा मण्डपों की बाह्य भित्तियाँ जैन देवी-देवताओं की प्रतिमाओं से पूर्णरूप अलंकृत हैं। भूरे पत्थर से निर्मित यह मंदिर अपने शिखर सहित ऊँचाई में दिलचाड़ा के समस्त मंदिरों में सबसे ऊँचा है।

एक अन्य उल्लेखनीय चौमुख-मंदिर पालीताना की निकटवर्ती शशुज्य पहाड़ी स्थित जैन मंदिरों के एक महान् नगर करलचासी-टुक में निर्मित है। यह मंदिर उत्तरी शिखर के शीर्ष पर अवस्थित है। इसका निर्माण सन् १६१८ में हुआ। चतुर्मुख योजना वाले इसके गर्भगृह का सेत्रफल ७ वर्गमीटर है और इसकी ऊँचाई ३० मीटर से अधिक है। यह मंदिर एक उत्तुंग शिखर से घण्डित है। इसमें चारों दिशाओं में अपेक्षित चार द्वार हैं लेकिन इसमें मण्डप मत्र एक ही है जो गर्भगृह के पूर्वी द्वार से जुड़ा हुआ है। मुख्य प्रवेश-कक्ष में पहुँचने का मार्ग इस कक्ष से होकर है। यद्यपि इस मंदिर की विन्यास-रूपरेखा पश्चिम-भारत के प्रचलित नागर-शैली के मंदिरों के अनुरूप है और इसे सर्वतोमद्र-शैली की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, फिर भी इसमें अन्य तीन प्रवेश-मण्डपों, उनके चारों ओर बरामदों, प्रत्येक प्रवेश-मण्डप के ऊपर दूसरे तले और उसमें गवाक्ष-मुक्त खिड़कियों के कारण यह माना जा सकता है कि इसके नियोजन में चौमुख-मंदिर की अभिकल्पना का ज्ञान निहित है। इस मंदिर में पश्चिमी भित्तियों से संलग्न बाह्य कक्षों की एक पंक्ति है जो स्तंभ-शुक्त बरामदे द्वारा निभक्त की गयी है। कुल मिलाकर यह मंदिर एक सजीव स्थापत्यीय संरचना का उदाहरण है जो जैनों के विशदीकरण तथा बहुविविधिता की भावना के अनुरूप है।

विशदीकरण एवं बहुविविधिता की यही भावना जैन स्थापत्य में कई पीढ़ियों तक क्रियाशील रही प्रतीत होती है। जैन अनेक पवित्र स्थानों पर मंदिर-नगरों का निर्माण कराने के लिए सुविदित रहे हैं। उनके बनवाये मंदिर-नगरों में विहार की पारसनाथ पहाड़ी (सम्मेदशिखर), गुजरात में शशुज्य एवं गिरनार की पहाड़ियों, राजस्थान में आबू की पहाड़ी एवं कनटिक (अवणबेलगोला) की विष्णगिरि पहाड़ी में स्थित मंदिर-नगर उल्लेखनीय हैं। इन मंदिर-नगरों में पश्चिम

भारत की शत्रुंजय एवं गिरनार की पहाड़ियों में स्थित दो मंदिर-नगर सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं (चित्र २३७, २३८)। शत्रुंजय पहाड़ी-स्थित मंदिर-नगर इन सबों में सबसे बड़ा है और यह पलिताना शहर के दक्षिण में है। यहाँ के मंदिर इस पहाड़ी की दो चुड़वाँ चोटियों पर हैं जो समुद्र की सतह से ६०० मीटर ऊँची हैं। ३२० मीटर लंबी इस प्रत्येक चोटी पर ये मंदिर पंक्तिबद्ध रूप से निर्मित हैं। यह पंक्ति प्रायः अंगेजी के 'एस' अक्षर के आकार की है। मंदिरों की कुल संख्या ८६३ है। विभिन्न आकार और प्रकार के इन बहुसंख्यक मंदिरों के अतिरिक्त यहाँ पर एक चौमुख-शैली का सर्वाधिक उल्लेखनीय आदिनाथ का मंदिर भी है जो उत्तरी शिखर के शीर्ष पर स्थित है। इस मंदिर के विषय में पहले ही विस्तृत चर्चा की जा चुकी है। इसके दूसरी ओर शत्रुंजय के दक्षिणी शिखर और विमल-वसही के मध्य में प्रथम तीर्थकर मूलनायक श्री-आदीश्वर का मंदिर एक प्रभुत्व स्थान रखता है। यह समूचा तीर्थ-क्षेत्र ही मुख्य रूप से प्रथम तीर्थकर को समर्पित है। प्रवेश-द्वार पर उत्कीर्ण अभिलेख के अनुसार इस मंदिर का वर्तमान प्रवेश-मण्डप मंदिर के सातवें पुनर्जिमणि के अंतर्गत चित्तीड़ (राजस्थान) के रत्नसिंह के मंत्री कर्मसिंह द्वारा सन् १५३० में बनवाया गया है। सन् १६० के बने इस प्राचीन मंदिर की अपेक्षा यह प्रवेश-मण्डप स्पष्टतः उत्तरवर्ती है जिसे जीर्णोद्धार करते समय संभवतः किसी प्राचीन प्रवेश-मण्डप के स्थान पर बनवाया गया है। यह मंदिर दोतला दिखाई देता है जिसपर एक उत्तुग शिखर भण्डित है तथा आधार के चारों ओर छोटे-छोटे बहुत-से देवालय निर्मित हैं। इस मंदिर में भाग एक कक्ष है। मंदिर की विन्यास-रूपरेखा उत्तर शिखरवर्ती चौमुख-मंदिर की अपेक्षा अत्यंत सरल है। बाहु संरचना उल्लेखनीय रूप से अति अलंकृत है और विशिष्ट गुणों को प्रदर्शित करती है। यह मंदिर पूर्व-दिशावर्ती बाहु-भित्ति के सम्मुख भाग, स्तंभ-युक्त प्रवेश-द्वार तथा उसका ऊपरी तल, अर्द्धवृत्ताकार लोरण जिसे विशेष प्रकार के परिवलित स्तंभ अतिरिक्त आधार प्रदान किये हुए हैं—आदि समस्त विशेषताओं के लिए उल्लेखनीय है। पर्सी ब्राह्मन के अनुसार<sup>1</sup>, 'इस मंदिर के विभिन्न अंग किसी भी प्रकार से एक दूसरे के समरूप नहीं हैं। अतः यह मंदिर अपने समग्र रूप में असमरूप है। यह मंदिर उन विभिन्न मंदिर-भागों का एक सम्मिश्रण है जो स्वयं में उत्तम माने गये हैं। परंतु इन विभिन्न सर्वोत्तम उपांगों के सम्मिश्रण की प्रक्रिया इस मंदिर में भली-भाँति संपादित नहीं हो सकी है।' शत्रुंजय पहाड़ी के ये मंदिर अलग-अलग अपनी स्थापत्यीय विशेषता नहीं रखते परंतु इन असंख्य मंदिरों का समग्र प्रभाव, बातावरण में व्याप्त नीरवता कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो दर्शकों के लिए अत्यंत आकर्षक हैं। इस मंदिर-नगर की एक विशेषता यह भी बतायी जाती है कि आज तक किसी भी व्यक्ति ने सौंभ के बाद इस नगर में प्रवेश नहीं किया।

दूसरा मंदिर-नगर शत्रुंजय के पश्चिम में १६० किलोमीटर दूर, समुद्र-तल से लगभग ६०० मीटर ऊँचे गिरनार की विशाल पहाड़ी चट्ठान पर स्थित है। यद्यपि यहाँ शत्रुंजय की भाँति मंदिरों की बहुलता नहीं है किन्तु गिरनार के अनेक मंदिर वहाँ की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं। यहाँ के मंदिर-समूह में सबसे बड़ा नेमिनाथ-मंदिर है जिसका यहाँ के शिलालेख के अनुसार तेरहवीं शताब्दी में जीर्णोद्धार हुआ था।

1 ब्राह्मन (पर्सी) इण्डियन आर्कीटेक्चर (बुड्डिस्ट एवं हिन्दू), 1965, वंडई, पृ 135.

जिस कालावधि की हम चर्चा कर रहे हैं उस काल के भी कुछ मंदिर यहाँ हैं जिनमें समरसिंह और संप्रति राजा के मंदिर और मेलक-वसही नामक मंदिर उल्लेखनीय हैं। ये सभी मंदिर पंद्रहवीं शताब्दी के हैं और इनके विषय में ऊपर लिखा गया है।

जहाँ तक आबू पहाड़ी स्थित दिलवाड़ा के मंदिरों का प्रश्न है उनमें से अधिकांशतः मंदिर सन् १३०० से पूर्व के निर्मित हैं। इनमें से विमल-वसही (सन् १०२१) तथा लूण-वसही (सन् १२३०) दोनों ही भारत के समूचे जैन स्थापत्य में सर्वोत्कृष्ट मंदिर होने का दावा कर सकते हैं। यहाँ हमें इस तथ्य के उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है कि दिलवाड़ा के मंदिरों द्वारा जो कलात्मक विशेषताएँ प्रस्तुत की गयी हैं वे समूचे मध्यकाल के अंतर्गत पश्चिम-भारत के जैन मंदिरों में न्यूनाधिक क्षेत्र में अपनायी जाती रही हैं। दिलवाड़ा का पित्तलहर-मंदिर भी उल्लेखनीय है जिसे भीमशाह ने चौदहवीं शताब्दी में तीर्थ्यकर आदिनाथ की प्रतिष्ठा के लिए निर्मित कराया था। इस मंदिर की विन्यास-रूपरेखा पश्चिम भारतीय नागर-शैली के मंदिरों की-सी है जिसमें गर्भगृह, गूढ़-मण्डप और नवधीकी, ये तीन भाग हैं। गर्भगृह में आदिनाथ की १०८ मन (४०३१ किलोग्राम) भारी एक पीली की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। कहा जाता है कि इस प्रतिमा का निर्माण सूत्रधार मण्डन के पुनर्देव ने किया था।

इन प्रसिद्ध मंदिर-नगरों के अतिरिक्त पश्चिम भारत में जैन धर्म के अनेक केंद्र रहे हैं जहाँ अनेक उल्लेखनीय मंदिर विद्यमान हैं। इनमें से रणकपुर का उल्लेख उसके प्रसिद्ध चौमुख-मंदिर के कारण पहले ही किया जा चुका है। रणकपुर का उल्लेख यहाँ पर उसके १५वीं शताब्दी में निर्मित दो अन्य मंदिरों के लिए भी किया जा सकता है। इन मंदिरों में से एक मंदिर पार्वतनाथ का है जो अलंकरण रहित जगती पर आधारित है। इसकी विन्यास-रूपरेखा नागर-शैली के एक सामान्य मंदिर के समान है। इसकी गवाहन्युक्त स्तिथिकियों अस्थविक अलंकृत होने के कारण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। राष्ट्रस्थान के पश्चिम-इक्षिणवती रेगिस्तानी जैसलमेर के क्षेत्रीय मंदिरों में भी जैन कला का प्रभाव देखा जा सकता है। यहाँ के दो मंदिरों का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। पहला मंदिर गढ़ के भीतर सन् १५४७ में राढ़क जयसिंह द्वारा निर्मित पार्वतनाथ का मंदिर है जिसमें तीरण, मण्डप और गर्भगृह जैसे सामान्य भाग हैं परंतु इसकी भित्तियों पर लगभग एक सहस्र प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। दूसरा मंदिर, सन् १६७५ में सेठ थारुशाह द्वारा निर्मित लुथेर्व का मंदिर है। यह मंदिर भित्तियों की पाषाण-निर्मित स्तिथिकियों पर की गयी तक्षण-कला के लिए विशेष उल्लेखनीय है। इस प्रकार का तक्षण, और वह भी इतने बड़े पैमाने पर, भारत के किसी अन्य मंदिर में मिलना दुलंभ है। मंदिर की भित्तियाँ झरोखों से अलंकृत हैं जो इसके बाह्य दृश्य को अतिरिक्त सौंदर्य प्रदान करती हैं।

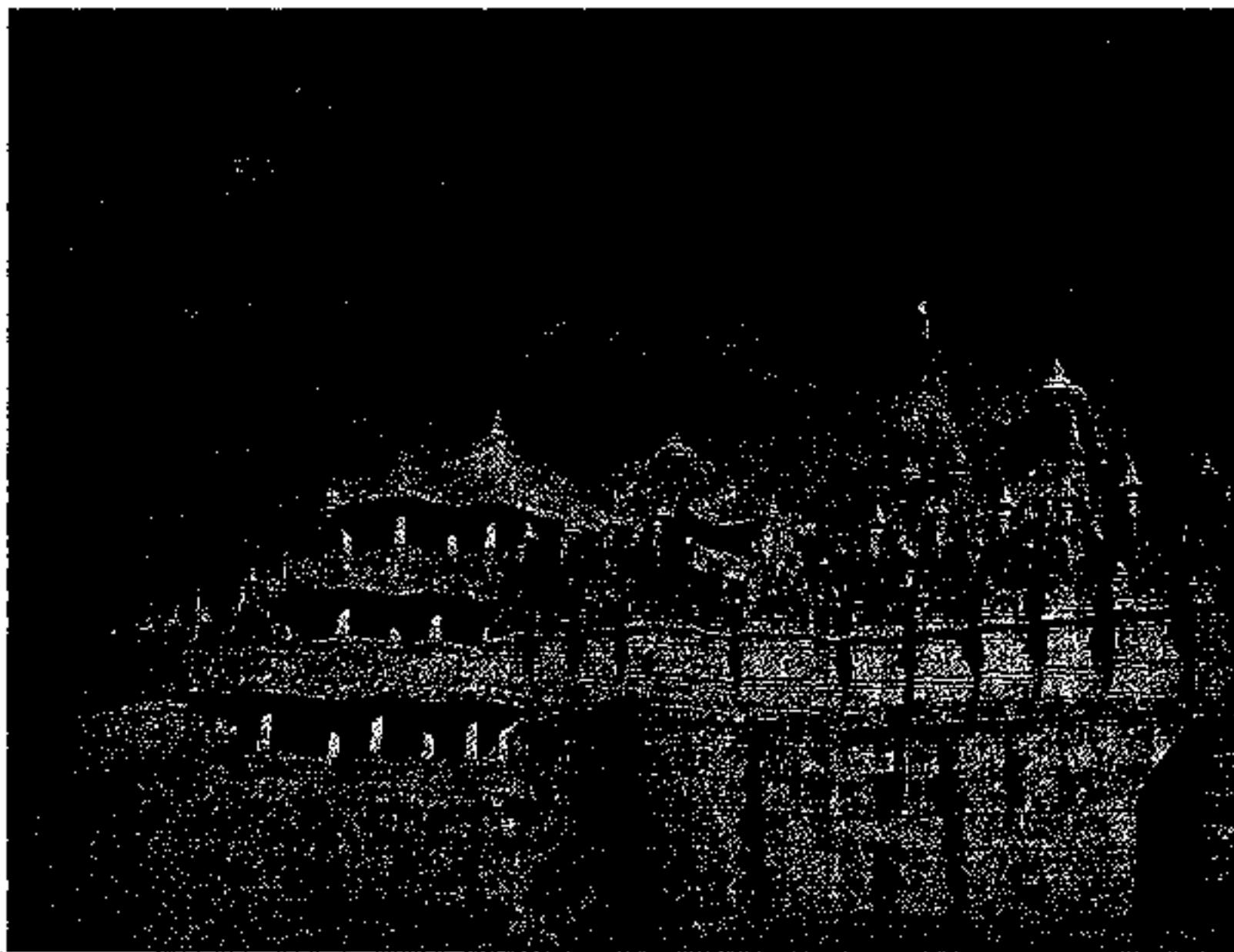
पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य पश्चिम भारत में स्थापत्य-कला के अतिरिक्त प्रतिमा-कला भी व्यापक रूप से प्रचलित रही है। इस काल में प्रतिमाओं का निर्माण पाषाण और धातु दोनों में ही होता रहा है। प्रतीत होता है कि इस काल में प्रतिमाओं का निर्माण प्रचुर संख्या में होता था। प्रतिमाओं की यह प्रचुर संख्या मंदिरों के लिए आवश्यक प्रतिमाओं की संख्या के अनुरूप रही होगी।

इस विषय में शाह का कथन सत्य प्रतीत होता है कि 'पश्चिमी भारत में धर्म-तत्त्व पायी गयी सहस्रों जैन कास्थ प्रतिमाओं के लिए एक विशेष अध्ययन की आवश्यकता है क्योंकि इनमें से अधिकांशतः प्रतिमाएँ शैलीगत रूप में पश्चिम शैली के उन लघुचित्रों से संबंधित हैं जिनका पहलवन मध्यकाल में हुआ।'<sup>1</sup> यहाँ यह उल्लेख भी उपयुक्त रहेगा कि दक्षिण-पश्चिम राजस्थान के ढूँगरपुर निकटवर्ती क्षेत्र से कुछ ऐसी अभिलेखांकित धातु-प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं जिनमें अनेक दक्ष धातु-मूर्तिकारों के नाम अंकित हैं<sup>2</sup> ; जिनमें से एक अभिलेख में लुम्बा या लुम्भा, नाथा, लेपा, आदि मूर्तिकारों के नाम मिले हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार चित्तौड़ के जैता और मण्डन जैसे सूत्रधार वास्तु-निर्माण में विशेष दक्ष थे इसी प्रकार कुछ अन्य धातु-मूर्ति-निर्माण के दक्ष सूत्रधारों ने दक्षिण-पश्चिम राजस्थान में धातु-प्रतिमाओं के निर्माण का केंद्र स्थापित किया, जिससे वे पश्चिम भारत में अकोटा (बड़ोदा) तथा सवंतगढ़ (जिला सिरोही) के मूर्ति-निर्माण-केंद्रों की प्रतिष्ठा को पुनर्जीवित कर सके।

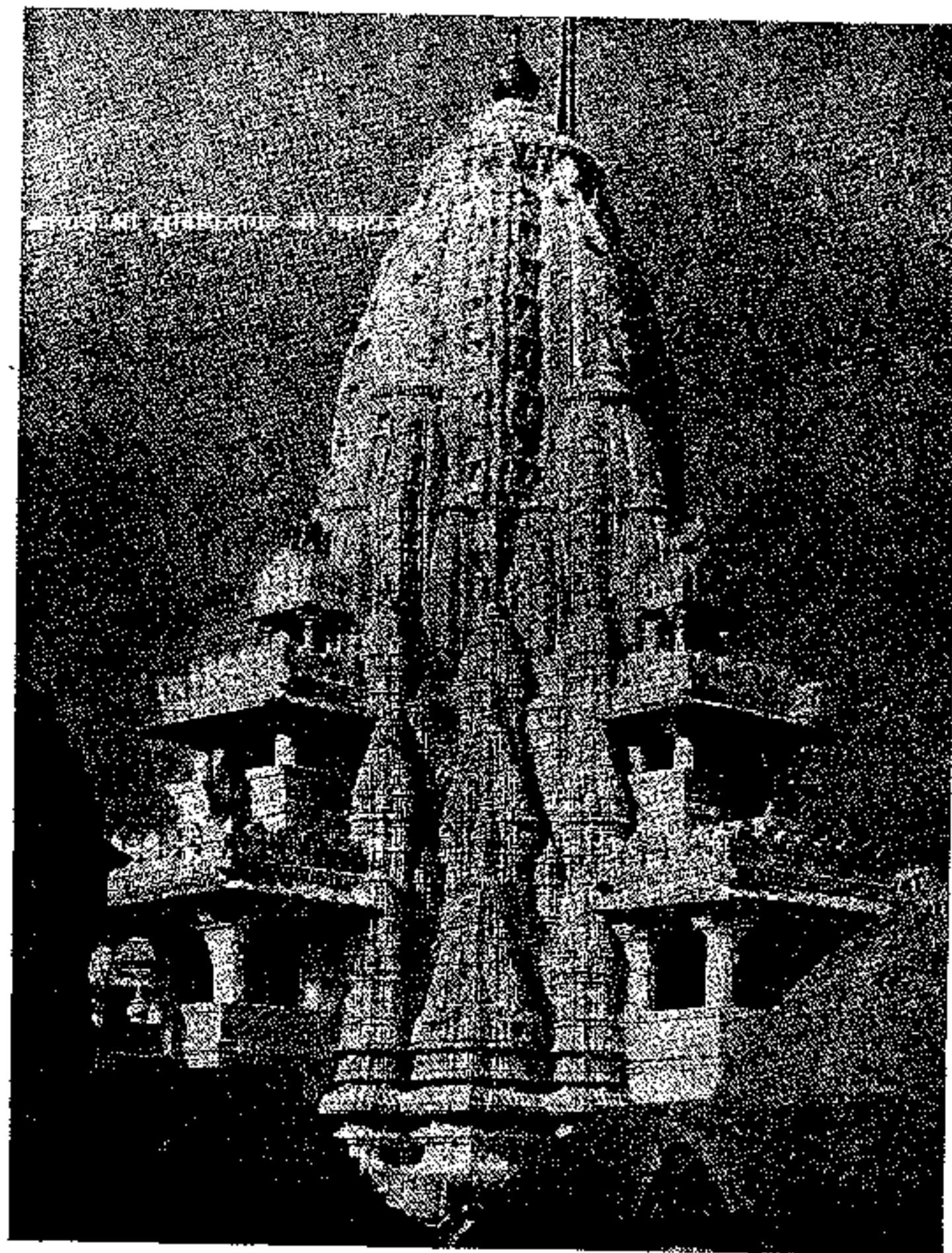
मध्यकालीन पश्चिम भारत के जैन मंदिर इस काल की पाषाणों से गढ़ी गयी प्रतिमाओं, उनकी कलात्मकता, उनके आकार-प्रकार की विविधता और उन प्रतिमाओं द्वारा की गयी जैन धर्मनियायियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के मूक साक्षी हैं। ये प्रतिमाएँ प्रायः कठोर संगमरमर में उत्कीर्ण की गयी हैं जिससे स्वतः ही स्पष्ट है कि इन प्रतिमाओं के गढ़ने में मूर्तिकारों को कितना अधिक परिश्रम करना पड़ा होगा। दिलवाड़ा के मंदिरों के अंतर्भूत में उत्कीर्ण प्रतिमाओं की संपत्ति परंपरा ने इस काल के मूर्तिकारों को अमूल्य प्रेरणा प्रदान की है। रणकपुर स्थित पूर्वोक्त चौमुख-मंदिर के स्तंभ भी अभिकल्पनाओं की विविधता के लिए अद्भुत हैं, क्योंकि, मंदिर के ४२० स्तंभों में से किसी भी स्तंभ की अभिकल्पना एक दूसरे के समरूप नहीं है (चित्र २३९)। मूर्तिकार ने छेनी को इस निपुणता से खलाया है कि वह संगमरमर में हाथी-दींत की-सी नकाशी करने में सफल सिद्ध हुआ है (चित्र २४०, २४१)। इस काल के मूर्तिकारों की मुख्य अभिरुचि आलंकारिक अभिकल्पनाओं के उत्कीर्णत में ही रही है। मानव-आकृति के अंकन की अपेक्षा मूर्तिकारों ने देव-प्रतिमाओं के अंकन में निस्संदेह धर्म-शंथों एवं शिल्प-कला संबंधी शंथों का अध्ययन कर उनके निर्देशन का परिपालन किया है, तभी वे इन देव-प्रतिमाओं द्वारा तत्कालीन वास्तिक मार्गों को पूरा कर सके हैं। इन देव-प्रतिमाओं, जिनमें नायकों, विद्वावरों, अप्सराओं, विद्यादेवियों तथा जैन धर्म के अन्य देवी-देवताओं का अंकन सम्मिलित है, तथा आलंकारिक आकृतियों, जो सामान्यतः मंदिरों की भित्तियों, छतों तथा बेड़े आदि पर उत्कीर्ण हैं, के अंकन में उनका प्रयास शशीकृत तथा अत्यंत रुदिकद्ध रहा प्रतीत होता है (चित्र २४२ तथा २४३ से तुलना कीजिए)। ये मूर्तिकार अपनी कृतियों में अभीष्ट आकृतियों का मात्र बाह्य आकार ही पकड़ सके हैं, उसकी अंतरात्मा को नहीं; जिसके परिणामस्वरूप आकृतियाँ सामान्यतः अरोचक बनकर रह गयी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन प्रतिमाओं को गढ़नेवाले हाथ पर्याप्त अभ्यस्त हैं लेकिन उनके

1 शाह (ज्ञानकांत प्रेमानन्द) स्वर्णीक इन जीव धार्म, 1955, बनारस, पृ 24.

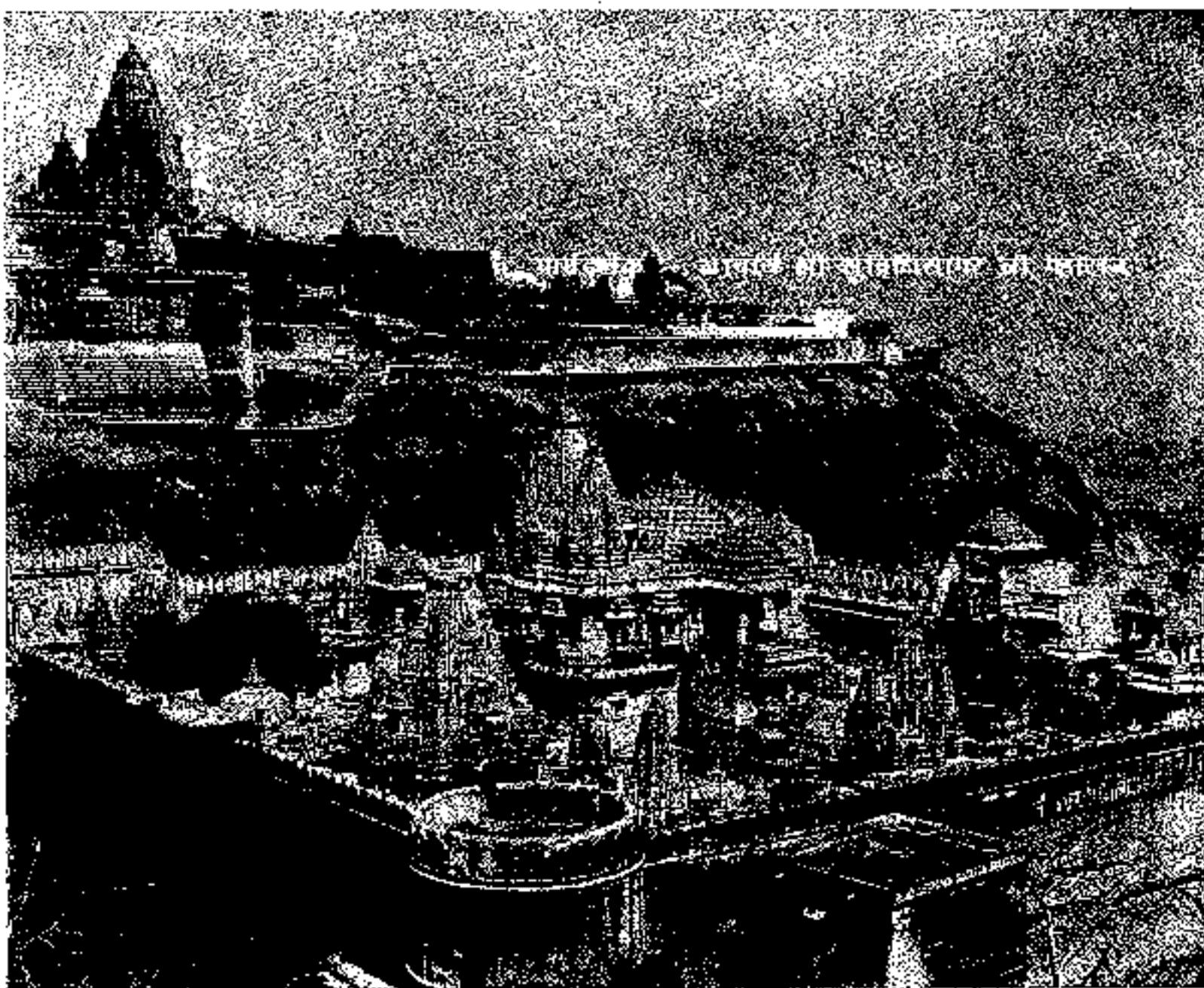
2 अग्रवाल (आर सी). सब फैमस शक्लपत्रसं एण्ड आर्कीटेक्चर ऑफ मेवाड़, इण्डियन हिस्ट्रीरिकल क्राउन्स, 33, 1958, पृ 332-33.



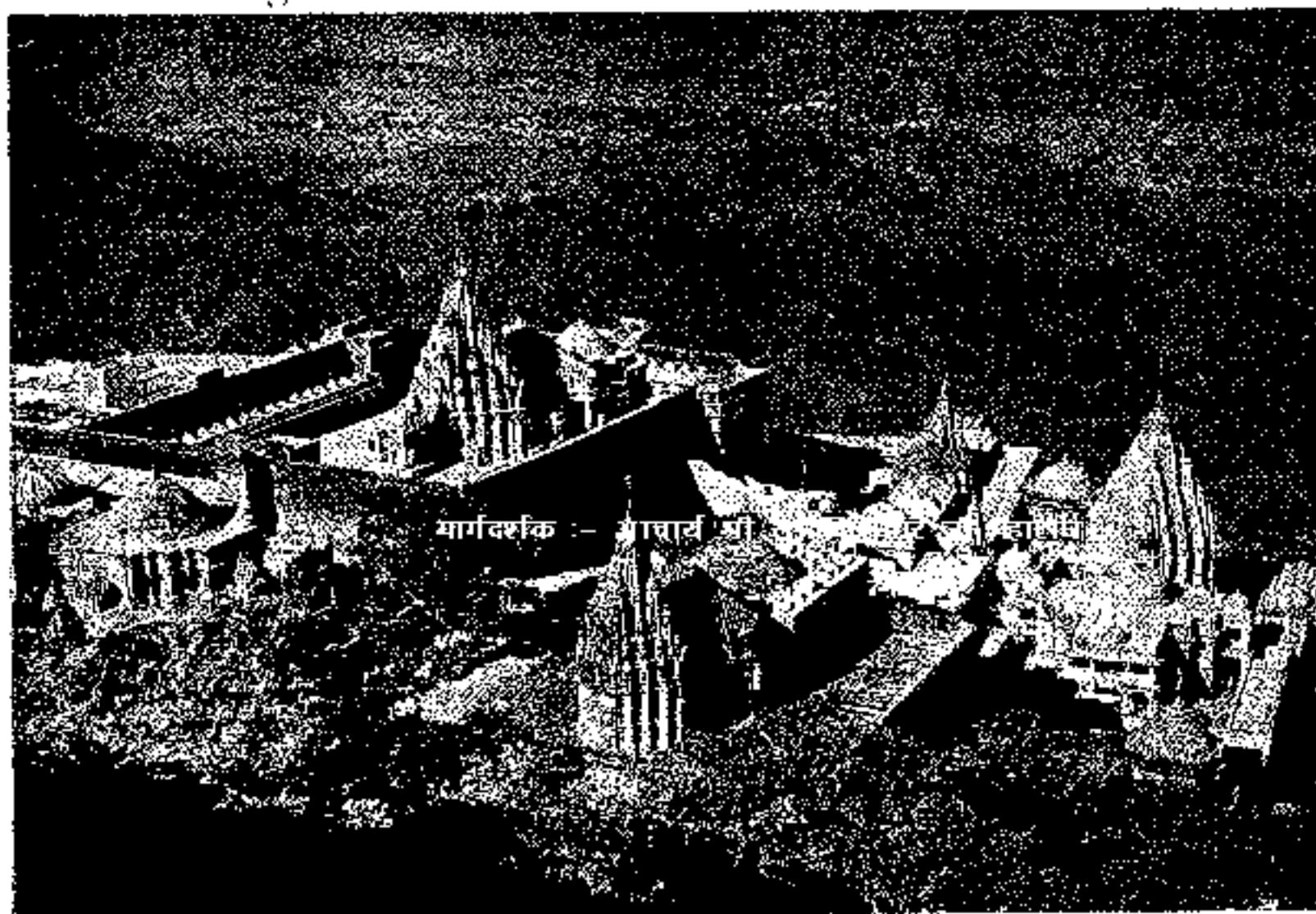
राणकपुर -- आदीनवरमंदिर, वहिपगि



रागड़पुर - आदीश्वर-मंदिर, मध्यवर्ती गढ़गृह

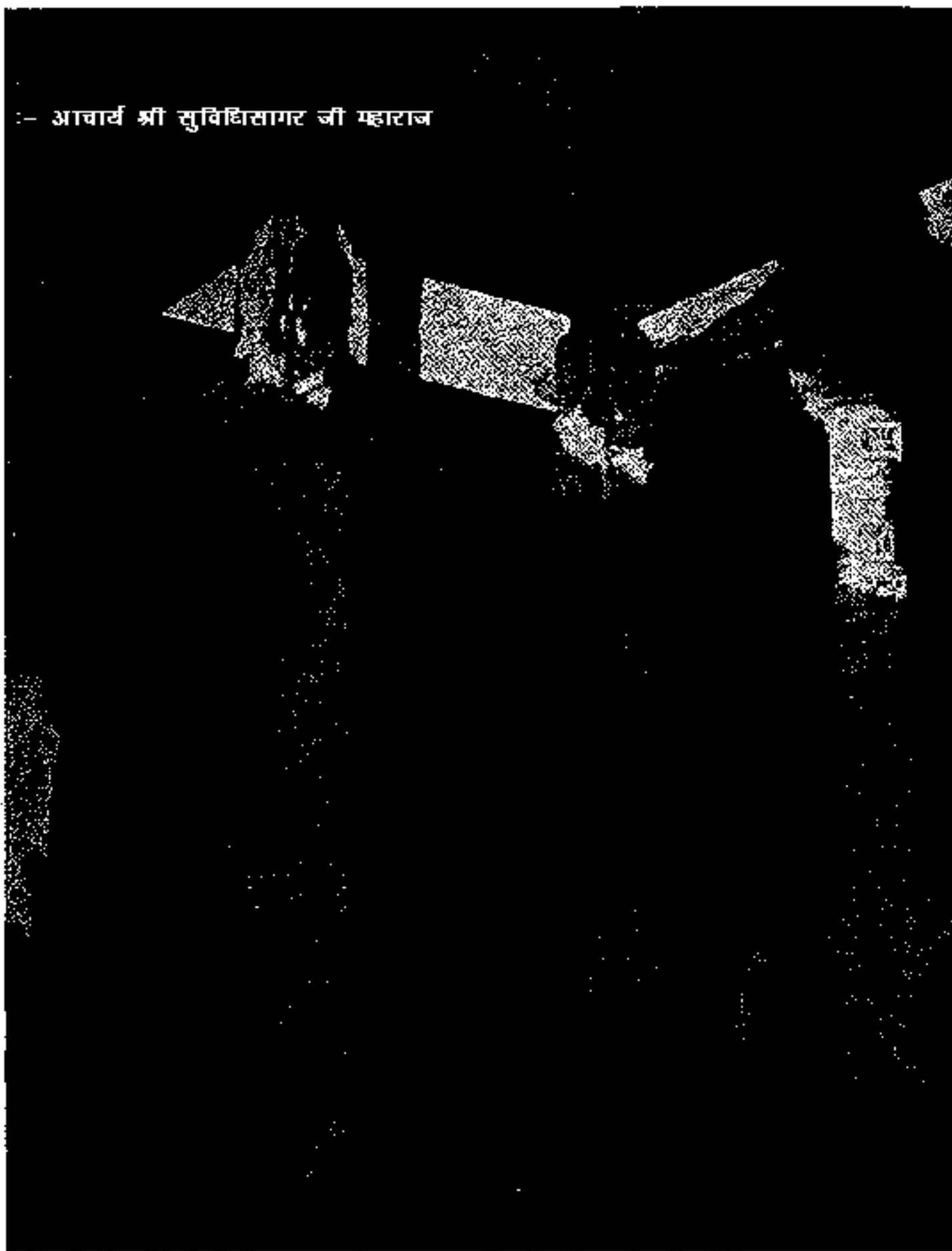


श्रवणबुजय — मंदिरनगर का एक भाग



गाँदरिक — ग्वालियर की  
मूर्तिकला

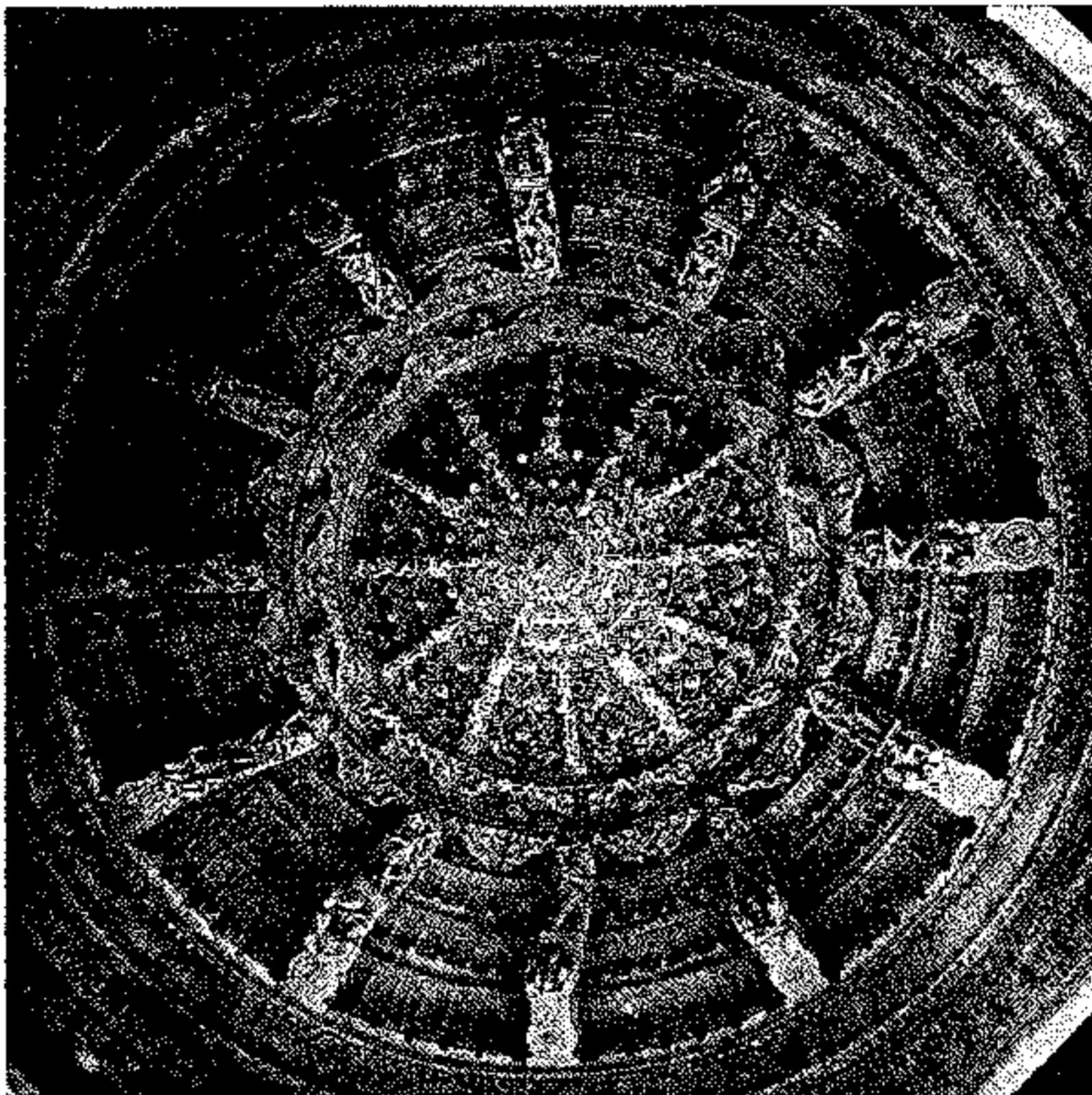
ग्वालियर — मंदिरनगर का एक भाग



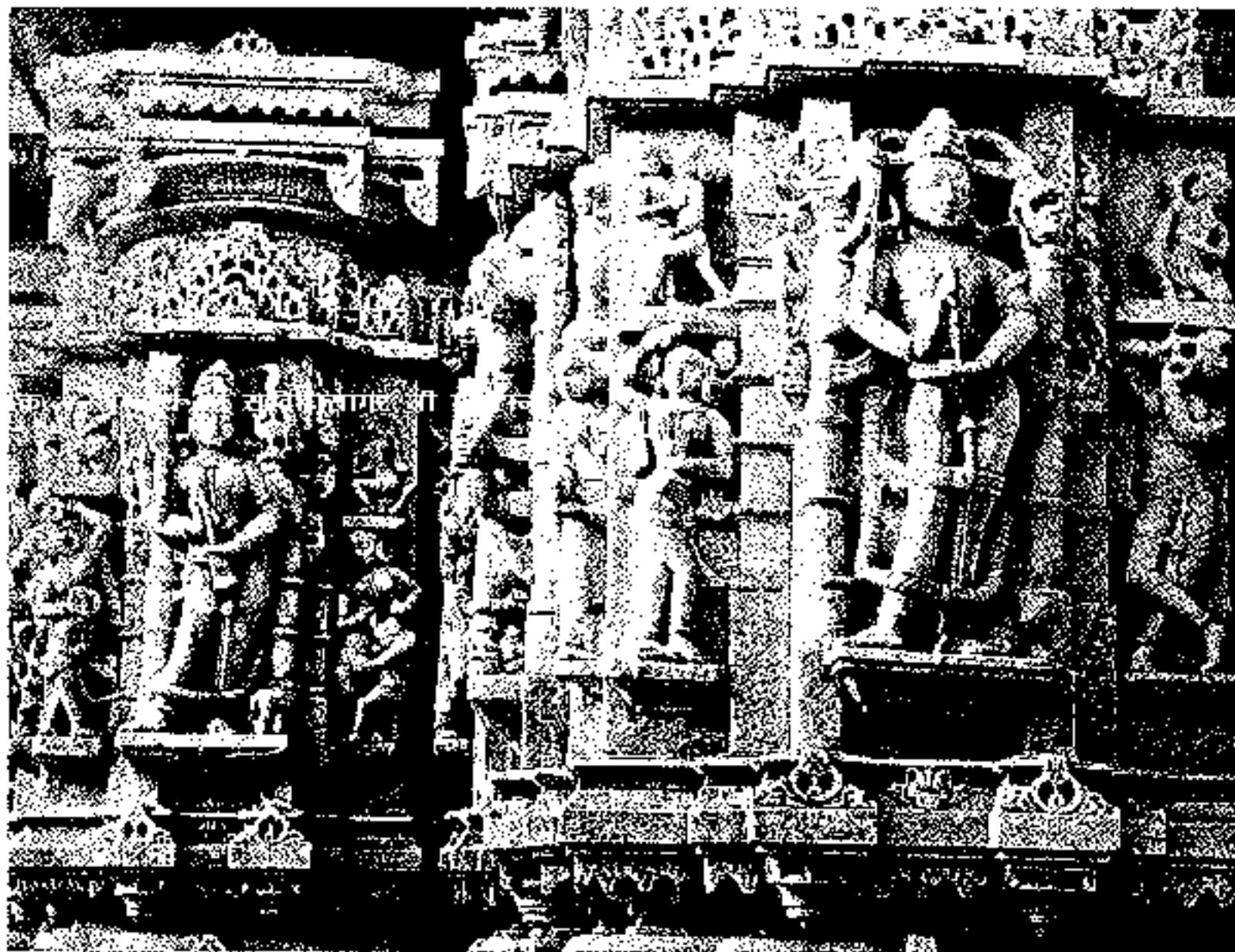
राणकपुर — आदीश्वर-मंदिर, एक मण्डप



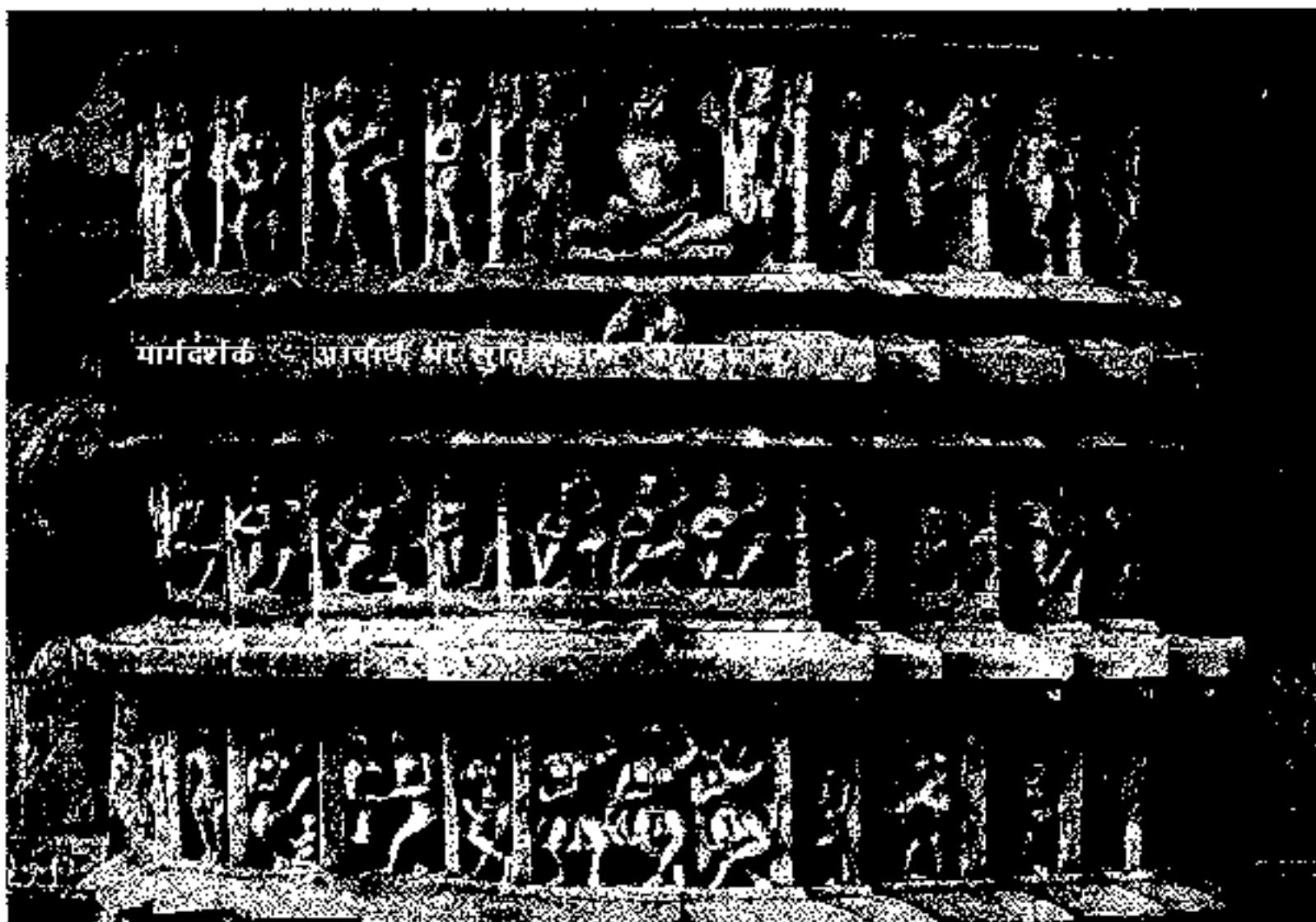
राणकपुर — शादीश्वर-मंदिर, एक छत



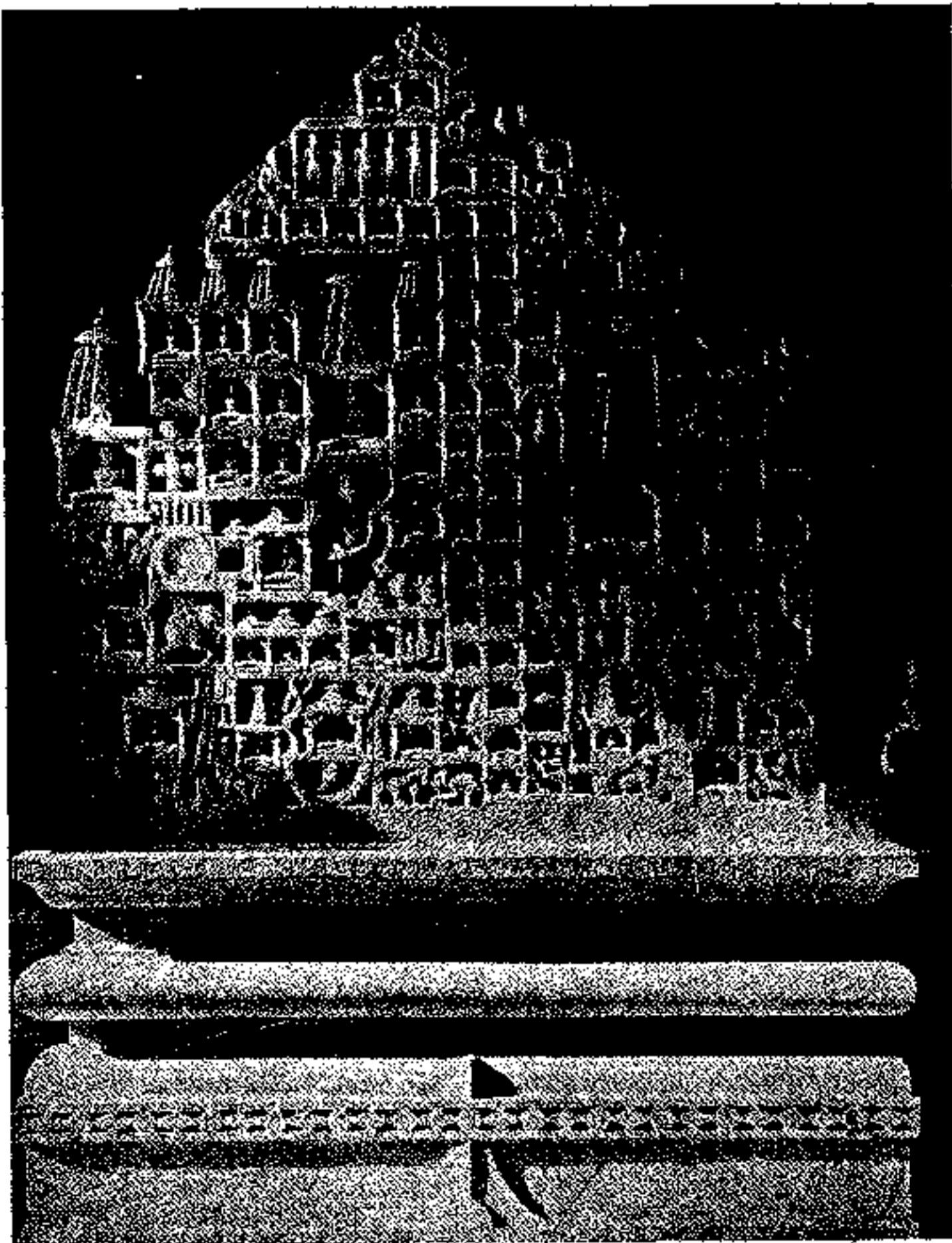
राणकपुर — आदीश्वर-मंदिर, एक छत



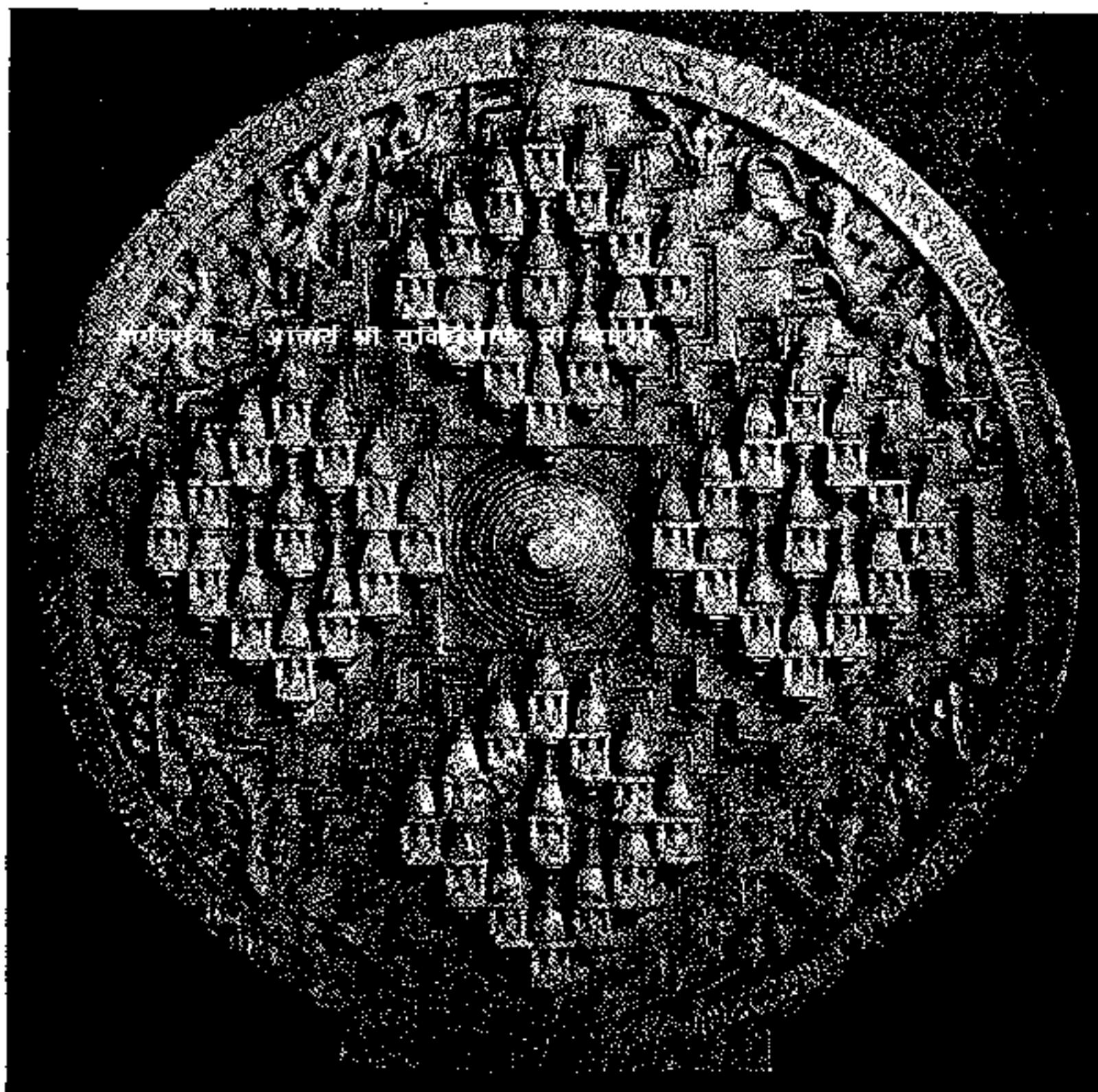
राणकपुर — पार्श्वनाथ-मंदिर, बहिमिति का एक भाग



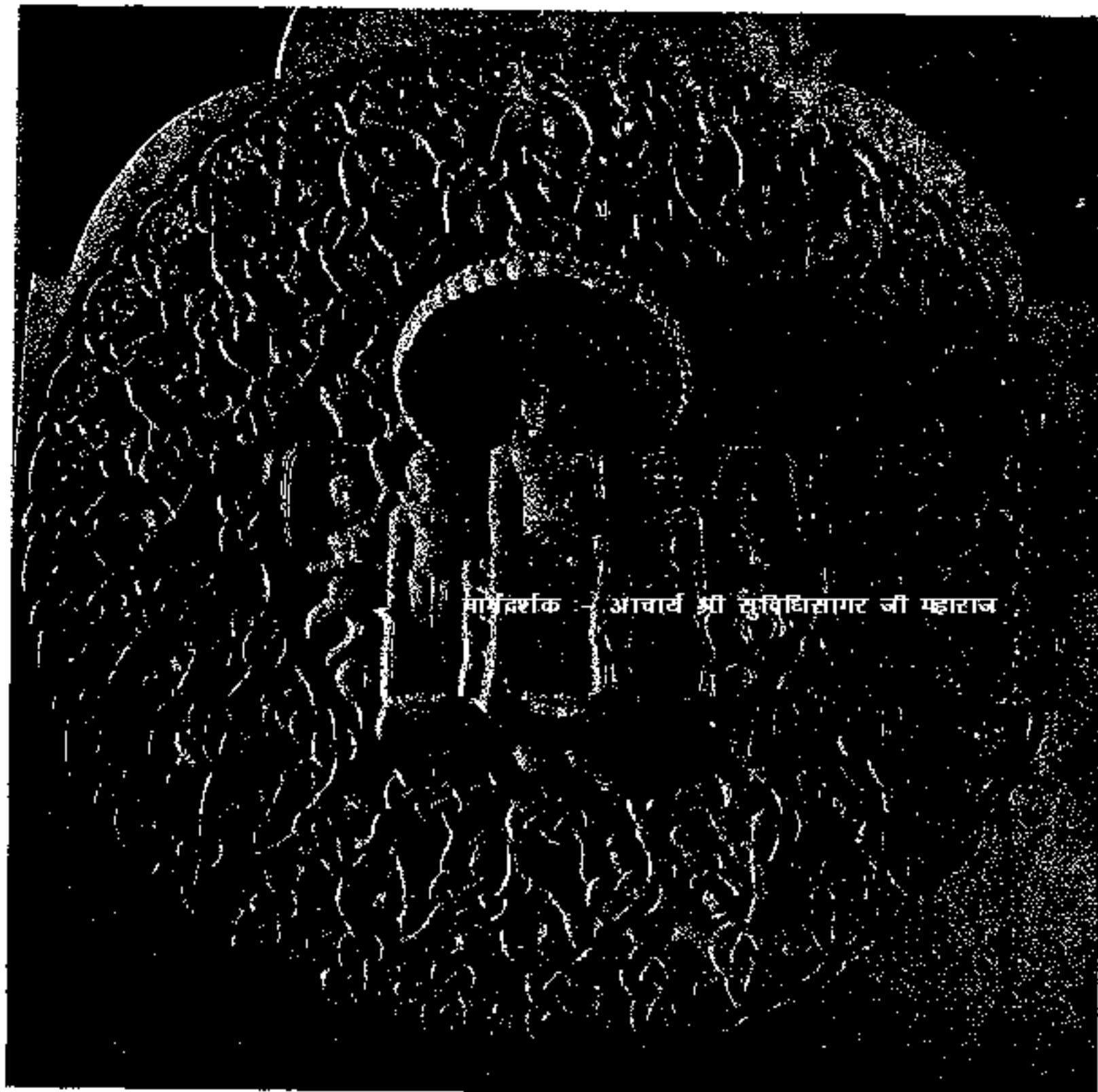
रानकपुर — पार्श्वनाथ-मंतिर, बहिकिति का एक भाग



राणकपुर — शत्रुजय-गिरभार-पट्ट



राणकपुर — मंदीरवर-कीण-पट्टु



संग्रहक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

राणकपुर — तहसील काशीनाथ

पीछे कार्य करनेवाला मस्तिष्क यदा-कदा ही उत्प्रेरणा प्रहण कर सका है। इस प्रकार, मध्यकालीन जैन प्रतिमाएँ अपने पूर्ववर्ती शास्त्रीय काल के उत्तरवर्ती मूर्तिकारों द्वारा छोड़ी गयी परंपरा का पालन करनेवाली सर्वोत्तम उत्तराधिकारिणी के रूप में हमारे सामने आती हैं।

वहि हम पश्चिम भारत के समसामयिक लघुचित्रों के शिल्पियों का उल्लेख करें सो हम पायेंगे कि उन्होंने भी मानव-आकृति को जैसा होना चाहिए वैसा ही चित्रित करने में अपनी अभिरुचि प्रदर्शित नहीं की। इन लघुचित्रों में अंकित मानव-आकृतियाँ अपने आकार और ऐंट्रिक सौदर्य खो चुकी हैं। मानवाकृतियाँ विशुद्ध चमकदार रंगों और 'जरखेज' रेखाओं में भाव एक सपाट अभिकल्पना की भाँति अंकित हैं। इस काल की प्रतिमाओं ने अपने सुधड़ आकार को बनाये रखा है क्योंकि यह मूर्ति-रूपायन का एक अनिवार्य पक्ष है लेकिन इससे भी अविक महत्वपूर्ण पक्ष उसके विषयगत या विषयगत तत्त्व को, जैसे मुख्याकृति पर सार्थक भावों की अभिव्यक्ति को, प्रायः पूर्णतः नकार दिया गया है। मूर्तिकारों ने समकालीन चित्रकारों का अनुकरण कर पत्र-पुष्पों तथा ज्यामितीय आलंकारिक अभिकल्पनाओं के प्रति एक गहरी अभिरुचि प्रदर्शित की है और उन्होंने इन आलंकारिक अभिकल्पनाओं का प्रयोग पाषाण या बातु-निर्मित प्रतिमाओं में किया है। अलंकरण की इस भावना ने समूचे पश्चिम भारत के मंदिरों की भित्तियों, छतों एवं स्तंभों पर उत्कीर्ण लहरदार पत्रावलियों तथा पत्र-पुष्पों की अभिकल्पनाओं में स्थान पाया है। इन अभिकल्पनाओं के सूक्ष्म निरीक्षण से जात होता है कि इनके अंकन में शिल्पी के हाथ और मस्तिष्क दोनों ही प्रायः सदैव समान-रूप से सजग रहे हैं। आलंकारिक रूपाकारों के प्रति उनकी सृजनात्मक अभिरुचि इस तथ्य से भी प्रभाणित होती है कि उन्होंने इन अलंकरणों में ग्राव-देशज अभिकल्पनाओं का भी समर्वेश किया है, जिन्हें उदाहरण के रूप में रणकपुर के चौमुख-मंदिर के कुछ स्तंभों में देखा जा सकता है।

इस काल में बहुविविधिता पर जो बल दिया गया है वह प्रतिमाओं में भी पाया जाता है। मध्यकालीन जैन प्रतिमा-कला का विशिष्ट योगदान उन उच्च रूप से विकसित परंपराबद्ध शिल्प-प्रतीकों में निहित है जो अपना धार्मिक महत्व रखते हैं। रणकपुर के पाषाण निर्मित शत्रुघ्न-गिरनार-पट्ट (चित्र २४४), नंदीश्वर-द्वीप-पट्ट (चित्र २४५), सहस्र-फण-पाश्वनाथ, तथा पाटन<sup>1</sup> से प्राप्त कांस्य-निर्मित सहस्रकूट, कोलहापुर<sup>2</sup> से प्राप्त नंदीश्वर और सूरत<sup>3</sup> से प्राप्त पंच-मेरु—ये कुछ ऐसे उल्लेखनीय शिल्प-प्रतीक हैं जिनके निर्माण के पीछे शिल्पियों के लिए एक ही आकार की बहुविविधिता भुख्य प्रेरक शक्ति रही प्रतीत होती है। मध्यकालीन पश्चिम भारत की जैन कला और स्थापत्य के इस सर्वेक्षण से एक ही समरूप तथ्य उद्घाटित होता है और वह है रूपाकारों को बहुविविधिता के साथ पुनःप्रस्तुतीकरण की प्रबल भावना।

### प्रशोक कुमार भट्टाचार्य

1 शाह, वही, पृष्ठ 64.

2 वही, चित्र, 63.

3 वही, चित्र 78.

## दक्षिणापथ

### सामान्य विशेषताएं

दक्षिणापथ के तेहरहवीं शती से पूर्व के सामाजिक-धार्मिक इतिहास में महत्वपूर्ण भूमिका का निवाह करने के उपर्युक्त जैन धर्म को इस क्षेत्र के उत्तरी और पूर्वी भागों में शक्तिसंपन्न बीरबीच मत के और दक्षिणी भाग में सात्त्विक श्रीबैण्डव मत के प्रबल विरोध का सामना करना पड़ा। चौदहवीं शती के आरंभ से भारत के अन्य धर्मों के साथ इस धर्म को भी इस्लाम के कारण आघात पहुँचा। इस्लाम उन मुस्लिम शासकों का धर्म था जो तुंगभद्रा से उत्तर के क्षेत्र के अधिपति बन गये थे। कहा जाता है, इस ज्वार पर अधिकार पाने के लिए १३४६ ई० में हरिहर और बुक्क नामक दो भाइयों ने विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की। इस राजघराने के सदस्य यज्ञपि स्वयं ब्राह्मण धर्म का पालन करते थे तथापि उन्होंने जैन धर्म तथा अन्य धर्मों को सदा समर्थन दिया। इस तथ्य की अत्यंत सार्थक पुष्टि बुक्क-प्रथम के उस प्रसिद्ध अभिलेख से होती है जिसमें वृत्तांत है कि एक बार १३६८ ई० में जब श्री-बैण्डवों और जैनों में गंभीर विवाद छिड़ गया तब स्वयं सआट् बुक्क-प्रथम ने ही उन दोनों की मध्यस्थिता की और उनकी स्थायी संधि करा दी। इस प्रकार साम्राज्य से समर्थन प्राप्त करके जैनों ने अपने क्रिया-कलाप को—क्रमशः साहित्य और ललित कलाओं—पूर्व-परिचित क्षेत्र में विस्तृत किया। विजयनगर-साम्राज्य-काल में आदि से अंत तक ब्राह्मण धर्म के अनुयायियों ने साहित्यिक कृतियों का सूजन किया और सर्वनात्मक कलाओं का विकास किया; उनके साथ ही साथ जैन धर्म के अनुयायियों ने भी वैसी ही अत्यंत भव्य कृतियों की सर्जना की। इस प्रकार की कृतियों की संख्या दक्षिणापथ के कल्नड भाषी भागों और पश्चिमी समुद्र-तट के क्षेत्रों में उन भागों से अधिक है जो दक्षिणापथ के आंध्र प्रदेश या दक्षिणी महाराष्ट्र के अंतर्गत आते हैं। वास्तव में, इस धर्म को उत्तरी कर्नाटक में मुस्लिमों की यातनाओं का सामना करना पड़ा, इसका प्रमाण लगभग सोलहवीं शती के धारवाड़ जिले में स्थित मुलगुण्ड के एक कल्नड अभिलेख से मिलता है जिसमें वृत्तांत है कि जब ललितकीर्ति के शिष्य जैन गुरु सहस्रकीर्ति पार्श्वनाथ-जितालय में थे कि उसमें मुस्लिमों ने आग लगा दी और वे निविकल्प भाव से बैठे-बैठे भस्मसात् हो गये।<sup>1</sup> यह घटना वास्तव में रोमांचकारी थी किन्तु इस गुरु ने भी अपने

1 सारद्व इतिहास, 15, क० 695.

उस धर्म के गौरव की रक्षा का एक उदाहरण प्रस्तुत कर दिया जो इस बात पर बल देता है कि उसके अनुयायी अहिंसा के मार्ग पर चलें, चाहे यातनाएं कितनी ही कठोर हों।

विजयनगर शासक देवराय-प्रथम (१४०४-२२ ई०) की रानी भीमादेवी एक जैन महिला थी। उसने थवणबेलगोला की मंगायि-बस्ती में शार्तिनाथ की एक मूर्ति की स्थापना की।<sup>१</sup> उसने जैन आधारों को भी संरक्षण दिया। इसके बाद का शासक देवराय-द्वितीय (१४२२-४६ ई०) भी जैन धर्म को संरक्षण देता रहा। १४२४ ई० में उसने वरांग नेमिनाथ की बसदि को तलुब का वरांग नामक श्राम दान किया।<sup>२</sup> इसके अतिरिक्त १४२६ ई० में उसने राजधानी हम्पी में भी एक चैत्यालय का निर्माण कराया।<sup>३</sup> कृष्णदेवराय (१५०६-२६ ई०) के शासन की यह विशेषता थी कि उस समय सभी धर्मों के अनुयायियों को उदारता और समान रूप से संरक्षण प्राप्त था। १५१६ ई० और १५१८ ई० में उसने जैन बसदियों को दान दिया और १५२८ ई० में बेल्लारी जिले के चिप्पिरि में भी एक बसदि को दान दिया।<sup>४</sup> सभ्राट के अतिरिक्त, उसके कुछ अधिकारियों ने भी जैन धर्म को महान् उत्कर्ष प्रदान किया। इस संदर्भ में एक धर्मनिष्ठ जैन सेनापति इरुण्ण (१३८४-१४४२ ई०) का उल्लेख किया जाना चाहिए जिसने हरिहर-द्वितीय और देवराय-द्वितीय के अधीन अपने सेवाकाल में इस साम्राज्य के विभिन्न भागों में मंदिरों का निर्माण कराकर, उन्हें उदार सहायता देकर और जैन गुरुओं को संरक्षण प्रदान करके इस धर्म की स्वेच्छापूर्वक सेवा की।<sup>५</sup>

जैन धर्म के अनुयायियों ने विभिन्न प्रादेशिक राजदरबारों में भी अपना स्थान बनाया क्योंकि धर्म का प्रचार साम्राज्य की राजधानी की अपेक्षा कहीं अधिक सरलता से किया जा सकता था। इस प्रकार यह धर्म कोंगल्वों, चंगाल्वों, संगीतपुर (हुदुवल्ल) के शालल्वों तथा अन्य सामंतों के और गोरसोप्पा राजाओं और कार्कल के भैररस औडेयरबंशियों के राजदरबारों में लोक-प्रिय हो गया। आविलनाड के प्रभुओं और कप्पटूर, मोरसुनाड, बिदनूर, बागुनजिसीमे, नुगोहुल्लि तथा अन्य स्थानों के महाप्रभुओं के छोटे-बड़े सामंतों की कृपा भी इस धर्म को प्राप्त हुई जिन्होंने पदिच्ची दक्षिणापथ के विभिन्न भागों पर पंडहवीं से सत्रहवीं शती तक शासन किया।<sup>६</sup> इन्होंने जैन धर्म को जो संरक्षण प्रदान किया उसकी पुष्टि अनेकानेक अभिलेखों और स्मारकों से होती है। यद्यपि, जैसा कि कहा भी जा सका है, सेलंगाना और दक्षिणी महाराष्ट्र में यह वर्म इस काल में इतना स्थल्य प्रचलित रहा कि उसकी कड़ी जुड़ी रही।

१ एशियाफिया कार्टोग्राफिका, २, प्रस्तावना, पृ. 29.

२ सालेतोर, (बी ए) मिडीवल जैनिश्व, पृ. 301.

३ वही, पृ. 302-03.

४ वही, पृ. 301.

५ वही, पृ. 306 तथा परवर्ती।

६ वही, पृ. 313 तथा परवर्ती। / राइस (बी एल) मैसूर १९३५ क्रृग्रं क्रृष्ण हस्तिपांडल, १९०९, संदर्भ, पृ. 203.

जिनालय या वसदि के स्थापत्य का विवरण देखे समय उसके विभिन्न भागों का परिचान कर लेना उपयोगी होगा। विभिन्न भागों की संयोजना की दृष्टि से जैन मंदिर और किसी समकालीन ब्राह्मण मंदिर में अधिक अंतर नहीं होता। तथापि, पह उल्लेखनीय है कि कुछ अभिलेखों में जैन मंदिर की रचना के विषय में सूचना विद्यमान है। उदाहरण के लिए, निङ्गल्लु में स्थायी रूप से निवास करते हुए शासन करनेवाले इरुगोणदेव-चौल नामक सामंत के समय का १२७८ ई० की तिथि से अंकित एक अभिलेख अनंतपुर जिले के अमरपुरम<sup>1</sup> से प्राप्त हुआ है जिसमें वृत्तांत है कि एक विशेष दान द्वारा जो भी आय हो उसका उपयोग ब्रह्म-जिनालय नामक मंदिर के 'उपान से स्तूपी तक' (उपतादि-स्तूपी-पर्यंतम्) पाषाण से पुनर्निर्माण में किया जाये जिसमें महा-मण्डप, भद्र-मण्डप, लक्ष्मी-मण्डप, गोपुर, परिमूत्र, वंदनमाला, मान-स्तंभ और मकर-तोरण सम्मिलित हों।<sup>2</sup> उत्तरी कनारा जिले के बीलगि से प्राप्त, १५८१ ई० के एक कन्नड़ अभिलेख में<sup>3</sup> लिखा है कि किसी सामंत ने स्तूपय-वसदि का और मण्डप, भूनिवास, चंद्रशाला आदि का निर्माण कराया तथा एक राजवंश की महिला ने शांतीश्वर के लिए गंधकुटी-बस्ती का निर्माण कराया।

जैन स्थापत्य के उदाहरण चार बगों में रखे जा सकते हैं। प्रथम बग में हम्पी के मंदिर<sup>4</sup> आते हैं जिनमें शिखर-भाग सोपानबद्ध और सूच्याकार होता है। इसमें संदेह नहीं कि शिखर की यह विधा ब्राह्मण मंदिरों की रचना में भी स्वीकृत हुई पर बहुत-से जैन मंदिरों की यह विशेषता उनकी अपनी है। दूसरा बग उत्तर कनारा जिले के भटकल और दक्षिण कनारा जिले के मूढविद्री (मूढविदुरे) के कुछ विशाल पाषाण-निर्मित मंदिरों का है। इन मंदिरों की सबसे प्रमुख विशेषताएँ ये हैं कि इनकी छतें ढालदार किन्तु समतल होती हैं, और इनके पाइवंभागों में एक विशेष प्रकार की पाषाण-निर्मित जाली की संयोजना होती है। इन मंदिरों में और नेपाल के अधिकांश भाग में विद्यमान काष्ठ-निर्मित भवनों में अत्यधिक समानता है। पर, इस समानता का कारण इससे अधिक कुछ नहीं प्रतीत होता कि दोनों क्षेत्रों की समान परिस्थितियों ने समान रचनाओं को जन्म दिया। इस प्रकार की छतें भटकल की प्रत्येक घास की झोपड़ी में, यहाँ तक कि द्वितीय आवास-गृह में भी देखी जा सकती हैं। छत का इस पद्धति से पाषाण द्वारा निर्माण इस क्षेत्र में प्रचलित घास की छत का अनुकरण मात्र है, जिसकी आवश्यकता यहाँ की जलदायु ने अनिवार्य कर दी और यह संभव इसलिए हुआ क्योंकि इस क्षेत्र में जहाँ चाहें वहीं लैटराइट पाषाण की बड़ी-बड़ी चट्टानें काटकर निकाली जा सकती हैं।<sup>5</sup> तीसरा

1 एनुमल रिपोर्ट ऑफ साउथ इण्डियन एथिरल, 1916-17, परिशिष्ट सी, अमांक 40.

2 वही, पृ 74, 113-14.

3 एनुमल रिपोर्ट ऑफ कन्नड़ रिपब्लिक एवं प्राचीन फॉर्म 1939-40; पृ 75, अमांक 88.

4 लांगदूरस्ट/हम्पी छंडस. 1933, दिल्ली, पृ 94-95, रेखाचित्र 44.

5 कजिन्स (एच). व चान्दुलयन आर्किटेक्चर ऑफ द कनारीज इण्डियन, ऑर्किटेक्चरल सर्वे ऑफ इण्डिया, न्यू इंडीरियल सीरिज, 42; 1926, कलकत्ता, पृ 134-35।/पर्सी ब्राउन, इण्डियन आर्किटेक्चर, बुद्धिस्व एण्ड हिन्दू, चतुर्थ संस्करण, 1959, बंबई, पृ 132।

वर्ग विशेष रूप से उल्लेखनीय है, उसके अंतर्गत भूडबिद्री के आसपास निर्मित जैन गुरुओं की निषीधिकारी आती है। इन स्मारकों की रचना परोड़ा के समान सूच्याकार है, इनमें एक-के-ऊपर-एक कई तल होते हैं और ऊपर का तल नीचे के तल से छोटा होता जाता है। प्रत्येक तल की सीमा उसका बाहर निकला उत्तीर बनाता है और सबसे ऊपर एक स्तूपी होती है। नीचे वर्ग में वे मंदिर आते हैं जिनके गर्भगृह पर एक अतिरिक्त तल होता है। इसके उदाहरण हैं दक्षिण कनारा जिले के बेणूर की शांती-इवर-बस्ती और वेमुलवाड़ से प्राप्त<sup>2</sup> कुछ अधिक प्राचीन एक ऐसी लघु पूजा-वस्तु जो एक जैन मंदिर की अनुकूलि पर बनी है। नौमुखी-बस्ती (चतुर्मुख-बस्ती) नामक एक और भी विधा है जिसका एक सर्वोत्तम उदाहरण कार्कल में है<sup>3</sup>। यह प्रष्टव्य है कि अधिकांश जैन मंदिर उत्तराभिमुख हैं। जिनका मुख अन्य शिलालेखों में है उनकी संस्था बहुत कम है। उत्तराभिमुख होने की इस विशेषता से प्राचीन तमिल साहित्य में उल्लिखित 'बड़किकरूतल' (अर्थात् उत्तराभिमुख आसीन) नामक तपस्या का स्मरण हो आता है जिसे साधु पुरुष या राजपरिवार के सदस्य सांसारिक बंधनों से मुक्ति-लाभ के लिए धारण किया करते थे।

### विजयनगर के स्मारक

विजयनगर साम्राज्य की राजधानी हम्पी के जैन मंदिरों में गणगिति-मंदिर (चित्र 247) उल्लेखनीय है जिसका निर्माण हुरिहर-द्वितीय के शासनकाल में दुक्क-द्वितीय के भंत्री हरुग ने १३८५ ई० में कराया था। इस मंदिर के सामने एक उत्तुंग मान-स्तंभ है जिसपर उत्कीर्ण अभिलेख में उपर्युक्त वृत्तात है। इसके अतिरिक्त उसमें इस मंदिर का उल्लेख कुथु-जिननाथ-चेत्यालय के नाम से हुआ है। आमूलचूल पाषाण से निर्मित इस उत्तराभिमुख प्रासाद में 'गर्भगृह, अंतराल और अर्ध-मण्डप हैं और महा-मण्डप भी, जिससे एक पूर्वाभिमुख उप-गर्भगृह संलग्न है। स्तंभ प्राचीन शैली के, भारी और चतुष्कोणीय हैं। सोपानबद्ध स्तूपाकार शिखर-भाग में छह तल हैं जिनमें नीचे की अपेक्षा ऊपर का तल लघुतर होता गया है और जिनका निर्माण आडे शिला-फलकों से हुआ है। श्रीवा चतुष्कोणीय है और निम्न चतुष्कोणीय शिखर स्तूपी के आकार का है।'<sup>4</sup> 'लम्मुख-न्द्वार के पाषाण-निर्मित सरदल पर एक साथु की आसीन मूर्ति उत्कीर्ण है जिसके मस्तक पर त्रिलोचनी है और दोनों ओर एक-एक चमर ढुलाये जा रहे हैं। मुख-मण्डप की समतल छत पर ईंट-चूने से बनी एक अलंकृत परिधिका है जिसमें तीन बड़ी देवकुलिकाएँ हैं। उपर्युक्त सरदल की भाँति इनमें भी एक-एक साथु-मूर्ति

1 शारन, पूर्वोक्त, पृ 156-57, चित्र 102, रेखाचित्र 4.

2 श्रीनिवासन, (पी आर) 'एण्डिकितीज अफि तुलुनाड' दृष्टेक्षणस ओफ द ग्राह्य-यॉलोगिकल सोसायटी ऑफ सांख्य इण्डिया, 1, 1955, पृ 78; /गोपालकृष्ण मूर्ति (एस). जैन वेस्टिजेज हन ग्राउंड, ओष्ठ प्रदेश वर्तन्मेष्ट श्राक्य-यॉलोगिकल सोसायटी, 12, रेखाचित्र 26 जी, एन.

3 श्रीनिवासन, पूर्वोक्त पृ 79, रेखाचित्र 1.

4 देवकुंजारि (टी). हम्पी. 1970. मई दिल्ली. पृ 41.

आसीन-मुद्रा में है; पर वे चूने से बनी थीं और अब इनके खण्ड-खण्ड ही बच रहे हैं। यह मंदिर सातवाहनी से निर्मित हुआ है, इसमें एक भी हिंदू मूर्ति नहीं है और इन खण्डहरों में यह मंदिर निश्चित ही सर्वाधिक भवत्त्वपूर्ण स्मारक है।<sup>1</sup>

हेमकूटम् पहाड़ी पर स्थित मंदिर-समूह उत्तराखण्ड: जैन मंदिरों का ही रूप है भाग-उत्तराखण्ड है। इनमें अधिकतर मंदिर त्रिकूटाचल (तीन गभालियों-सहित) हैं और उनके शिखर-भाग उसी विशेष शैली में सोपानबद्ध सूच्याकार हैं (चित्र २४८ और २४९ क)। अधिकांश मंदिरों के गभालियों में मूर्तियाँ नहीं हैं। इन मंदिरों की विशेषता यही है कि इनमें तीन गभालिय हैं—पूर्वाभिमुख, पश्चिमाभिमुख और उत्तराभिमुख; तीनों का एक ही अर्ध-मण्डप है; तीनों की एक मुख-चतुष्की है। भित्तियों की संरचना बड़े-बड़े आयताकार शिला-फलकों को सुंदरता से जोड़कर की गयी है और मध्य में एक आड़ी पट्टी अलंकरण के रूप में रखी गयी है। प्राचीन शैली के भारी चतुष्कोणीय स्तंभों से बड़े-बड़े टोड़े निकले हैं। सोपानबद्ध सूच्याकार शिखर-भाग पाषाण-निर्मित है और उनका ऊपरी भाग चतुष्कोणीय स्तूपी के आकार का शिखर है।<sup>2</sup> इन मंदिरों के गभालियों में मूर्तियों की अनुपस्थिति और उनके शिखर-भाग की शैली से किसी को संदेह हो सकता है कि वे वास्तव में जैन मंदिर हैं या नहीं। वों भी इन्हें मूलतः जैन सिद्ध करने का कोई आधार भी नहीं। वास्तव में, उनमें निस्सदिह बहुत-से शिव-मंदिर हैं। उनमें से कुछ शैलीगत आधार पर चौदहवीं शती के माने गये हैं। यद्यपि त्रिकूट-शैली के ये मंदिर कुछ ऐसे स्थानों पर स्थित हैं जिससे वे जैन माने जा सकते हैं, जैसे वर्षमानपुर (श्रावुनिक बहुमणी) जो एक जैन केंद्र था, और आलमपुर के उत्तर में प्रगतुर जो कदाचित् उससे भी प्राचीन जैन केंद्र था।<sup>3</sup> इस शैली का एक जैन मंदिर बेलगाम में भी है। उसका समय १२०५ ई० से भी पहले का माना जाता है।<sup>4</sup> हम्पी में हस्तशाला के समीप एक मंदिर हेमकूटम् के मंदिरों की ही शैली का है। उसमें गर्भगृह, अर्ध-मण्डप, महा-मण्डप और भुख-मण्डप हैं, किन्तु उसका शिखर-भाग अब बचा नहीं है। गर्भगृह की भित्तियाँ लम्बे-चौड़े आयताकार शिला-फलकों की सुंदर जुड़ाई से बनी हैं। इसके अर्ध-मण्डप और महा-मण्डप के स्तंभ समतल, भारी धनाकार हैं, और प्राचीन शैली के हैं। यहाँ के अभिलेखों में चूत्तांत है कि पार्श्वनाथ के इस मंदिर का निर्माण देवराय-द्वितीय ने १४२६ ई० में कराया था।

### श्रवणबेलगोला के स्मारक

महान् जैन केंद्र श्रवणबेलगोला<sup>5</sup> के अनेक जैन मंदिरों में से कुछ का निर्माण विक्रम्य काल में हुआ। ये मंदिर द्रविड़-शैली के हैं और इनके अलंकरण होयसल-शैली में निर्मित किये गये हैं।

1 लाग्हवस्ट, वही, पृ 130-32.

2 देवकुंजारि, वही, पृ 49.

3 योपालकृष्ण मूर्ति, वही, पृ 50-51. चित्र 14, रेलाचित्र 39 क, ल.

4 कजिन्स, वही, पृ 121-22, चित्र 135.

5 एपिक्राफ्टिस कर्नाटिक, 2, 1923, पृ 1-32 और उनके चित्र.

मंगायिन्बस्ती इस काल का आरंभिक मंदिर है, वह कदाचित् १३२५ ई० में बना। इस मंदिर में उत्कीर्ण अभिलेखों के अनुसार इसे बेलुगुल के मंगायि ने बनवाया था। यह एक साथारण मंदिर है, इसमें गर्भगृह, शुक्नासा और नवरंग हैं। इसमें पार्श्वनाथ की एक खड़गासन प्रतिमा है, उसके पादपीठ पर उत्कीर्ण अभिलेख में वृत्तांत है कि इसका दान पण्डिताचार्य की शिष्या और विजयनगर के देवराय-प्रथम (राज्यारोहण वर्ष १४०६ ई०) की रानी भीमादेवी ने किया था।

इस स्थान पर इस काल का एक और लघु मंदिर है—सिद्धर्बस्ती, (१३६८ ई०) जिसमें लगभग एक मीटर ऊँची एक आसीन सिद्ध-मूर्ति विराजमान है। मूर्ति के दोनों ओर एक-एक स्तंभ हैं, उनपर अशिल्प उत्कीर्ण है, शिल्पालय इन्हें कोटि का है, और उनके शीर्ष-भाग की संयोजना शिखराकार है। एक उत्तरकालीन मंदिर है चेन्नाण्ण-बस्ती (१६७३ ई०)। उसमें गर्भगृह, मुख-मण्डप और बरामदा हैं और चंद्रनाथ की एक आसीन मूर्ति विराजमान है। उसके समक्ष एक मानस्तंभ भी है।

### दक्षिण कनारा के स्मारक

दक्षिण कनारा में पश्चिमी समुद्र-तट पर जैन धर्म लगभग चौदहवीं शती से प्रचलित हुआ। उत्तरकालीन शतियों में यह धर्म अत्यधिक प्रभावशाली हो गया और उसके अनुयायियों ने साहित्य के अतिरिक्त ललित कलाओं की समृद्धि में भी बहुत योगदान किया। कार्कल, मूडबिड़ी और बेणूर जो जैन धर्म के महान केंद्र हैं वे इसी काल में बने। इन स्थानों पर अनेकानेक जैन बस्तियों का होना इस तथ्य के साक्षी हैं। इन स्थानों में से जिन-काशी के नाम से विल्यात मूडबिड़ी, बेणूर (बंशपुर) और ब्रतपुर के कुछ जैन मंदिर इस काल के स्थापत्य के अत्यंत महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं। इनमें भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है होस-वसदि या त्रिभुवन-चूडामणि-वसदि जिसे सहस्र-स्तंभ-वसदि कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें अनेक स्तंभों की संयोजना है (चित्र २४६ ख)। यहाँ की वसदियों में यह सुंदरतम है। इसका निर्माण १४२६ ई० में विजयनगर-सम्राट् देवराय-द्वितीय के शासनकाल में हुआ था। दो प्राकारों के मध्य निर्मित इस चंद्रनाथ-वसदि के समक्ष एक उत्तुग मान-स्तंभ और एक अलंकृत प्रवेश-द्वार है। सबसे ऊपर का तल काष्ठ-निर्मित है। इस पूर्वाभिमुख मंदिर के गर्भगृह के समक्ष तीर्थंकर-मण्डप महिंग-मण्डप और चित्र-मण्डप नामक तीन मण्डपों की संयोजना है। इसके सामने इससे अलग एक मंदिर और है जिसे भैरादेवी-मण्डप (चित्र २५० क, ख) कहते हैं; इसका निर्माण १४५१-५२ में विजयनगर-सम्राट् मलिककार्जुन इम्मदि देवराय (१४४६-६७) के शासनकाल में गोपण ओडेयर ने कराया था।<sup>1</sup> इस मंदिर की छत की, बरम् उत्तर और दक्षिण कनारा जिलों के कार्कल तथा अन्य स्थानों के मंदिरों की छतों की भी एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उनके बरामदा के ऊपर के छद्मिट का ढाल पीछे की ओर है जिसे आवास-गृहों की घरस की छत के अनुकरण पर बना भाना जाता है। इस स्थान के अन्य मंदिरों के अतिरिक्त इस मंदिर का भी बहिर्भगि ब्राह्मण मंदिरों के बहिर्भगों की अपेक्षा अधिक समतल है। उनके स्तंभ पाषाण के होकर भी काष्ठ-निर्मित से लगते हैं क्योंकि

1 सालेश्वर, वही, पृ 352.

अष्टकोणीय बनाने के लिए उनके कोणों को कहीं अधिक और कहीं कम छील दिया गया है, और वरामदों की ढालसहित छतों की शैली तो काष्ठ-निमित छतों की शैली के इतने समान है कि इस मंदिर के मूल रूप में काष्ठ-निमित होने की संभावना त्यागी नहीं जा सकती . . . स्तंभों के मध्य संयोजित होने वाले कलक यहाँ पाषाण-निमित हैं जबकि भारत के किसी भी स्थान में ये काष्ठ-निमित होते हैं . . . इन मंदिरों के बहिर्भाग जितने समतल हैं अंतर्भाग उतने ही अलंकृत हैं। उनके शिल्पांकनों की प्रचुरता और विविधता इतनी अधिक है जितनी कहीं भी नहीं देखी जा सकती। कोई भी दो स्तंभ एक-समान नहीं मिल सकते और उनमें बहुत-से तो इस सीमा तक अलंकृत हैं कि वे विलक्षण ही लगते हैं।<sup>1</sup> त्रिभुवन-चूडामणि-बस्ती की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसके पीठ के चारों ओर उत्कीर्ण मूर्तियों की एक पट्टी बनायी गयी है जिसके विविध दृश्य कदाचित् जैन साहित्य से लिये ये हैं।

विशेष शैली में निमित मनोहर निषीधिकाओं का और एक समूह साधुओं की सूति में, मूढबिद्री के समीप स्थित है (चित्र २५१)। उनमें आकार और भव्यता का बड़ा अंतर है; किसी के तीन तल हैं, किसी के पाँच तो किसी के सात। किन्तु ये तल द्रविड़-मंदिरों के तलों के समान नहीं हैं, अर्थात् यहाँ उनकी भाँति कूटाच्छन्न गर्भगृहों और स्तूपाकार छतों की संयोजना नहीं है। एक तल से दूसरा तल ढलवी छत द्वारा विभक्त होता है, जैसा कि काठमाण्डू के पगोडाओं में और चीन या तिब्बत में होता है। भारत में ये बहुत विलक्षण लगते हैं। पहली विलक्षणता तो यही है कि साधुओं के स्मारक इस स्थान के अतिरिक्त कहीं भी नहीं पाये जाते; दूसरी विलक्षणता यह है कि इन वास्तु-कृतियों के अंगोपांग भारत के किसी भी भाग में स्थित किसी भी वास्तु-कृतियों के अंगोपांगों से सर्वथा भिन्न प्रकार के हैं।<sup>2</sup>

मूढबिद्री से १५ किलोमीटर उत्तर में स्थित कार्कल में कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण जैन मंदिर हैं। यहाँ के उपग्राम हिरियंगड़ि में लगभग छह मंदिर हैं जिनमें एक तीर्थकर-बस्ती है। इनमें से एक शांतिनाथ-बस्ती के विषय में एक अभिलेख में बृत्तान्त है कि इसे बहुत-से व्यक्तियों ने दान किया, जिनमें कुछ कुलीन महिलाएँ भी थीं। यह अभिलेख होयसल बल्लाल-दूतीय के शासनकाल में १३३४ ई० में उत्कीर्ण हुआ था।<sup>3</sup> यहाँ की सबसे विशाल बस्ती के समक्ष स्थित मान-स्तंभ स्थापत्य-कला का एक उत्तम निर्दर्शन है। कार्कल में ही प्रसिद्ध चतुर्मुख-बस्ती (चित्र २५२ क) है; उसका निषण १५८६-८७ ई० में हुआ था। इसके चारों द्वारों से इयाम पाषाण द्वारा निमित तीर्थकर अर्ह, मलिल और मुनि-सुद्रवत की उन मूर्तियों के समक्ष पहुँचा जा सकता है जो आकार और प्रकार में एक-समान हैं। इस मंदिर के स्तंभों की कला साधारण है और ढाल-सहित छद्मिट लंबे शिला-फलकों से बने हैं जो एक-के-ऊपर-एक संयोजित हैं और जिनके ऊपर एक दोहरी पट्टी की संयोजना है। उल्लेखनीय है कि इस

1. कार्यसत (जै) हिल्डी औक्स हॉण्डियन एच ईस्टन ब्रिकेटर, 2, 1910, प 76-77, बुडकट्स 303-305; /बाउन, बही, प 156; चित्र 102 क, रेखाचित्र 1.

2. कार्यसत, बही, प 79-80.

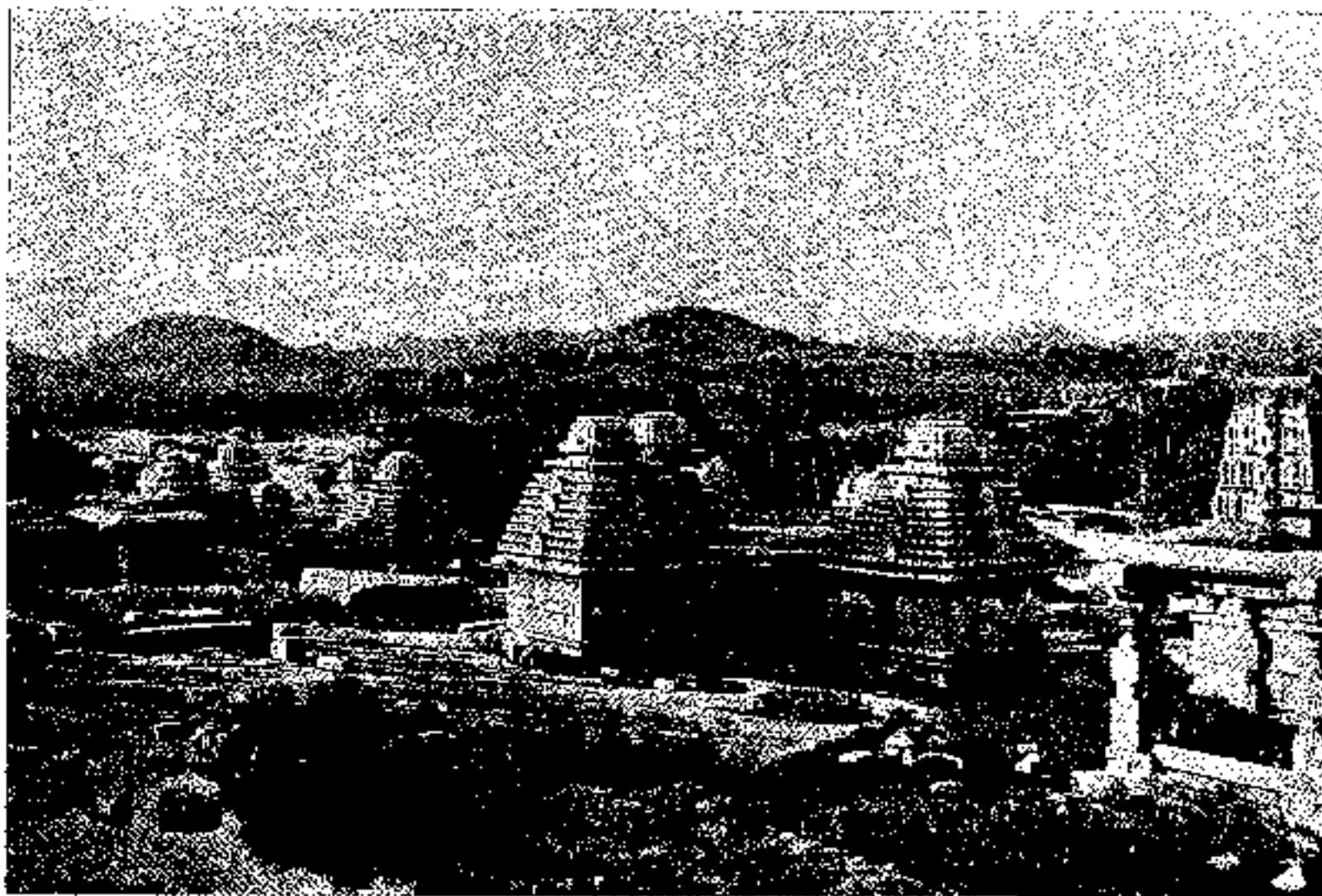
3. रमेश (के बी), हिल्डी औक्स साड्य कला 970, बारवाड़, प 298.



हरया — गंगाटु-धरि और उसके सामने स्तंभ

आस्तु-लदारक एवं पूर्तिकला 1300 से 1800 ई०

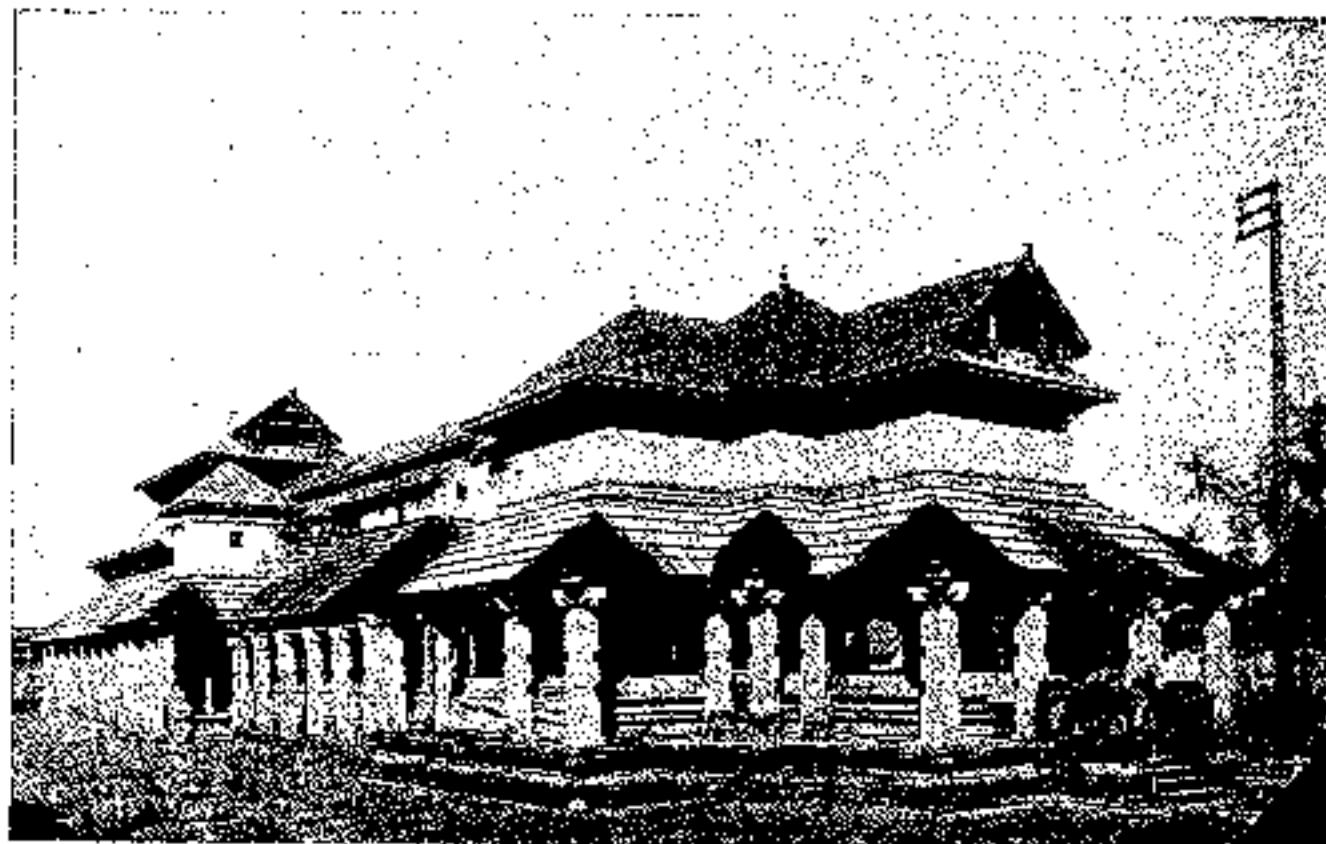
[ भाग 6



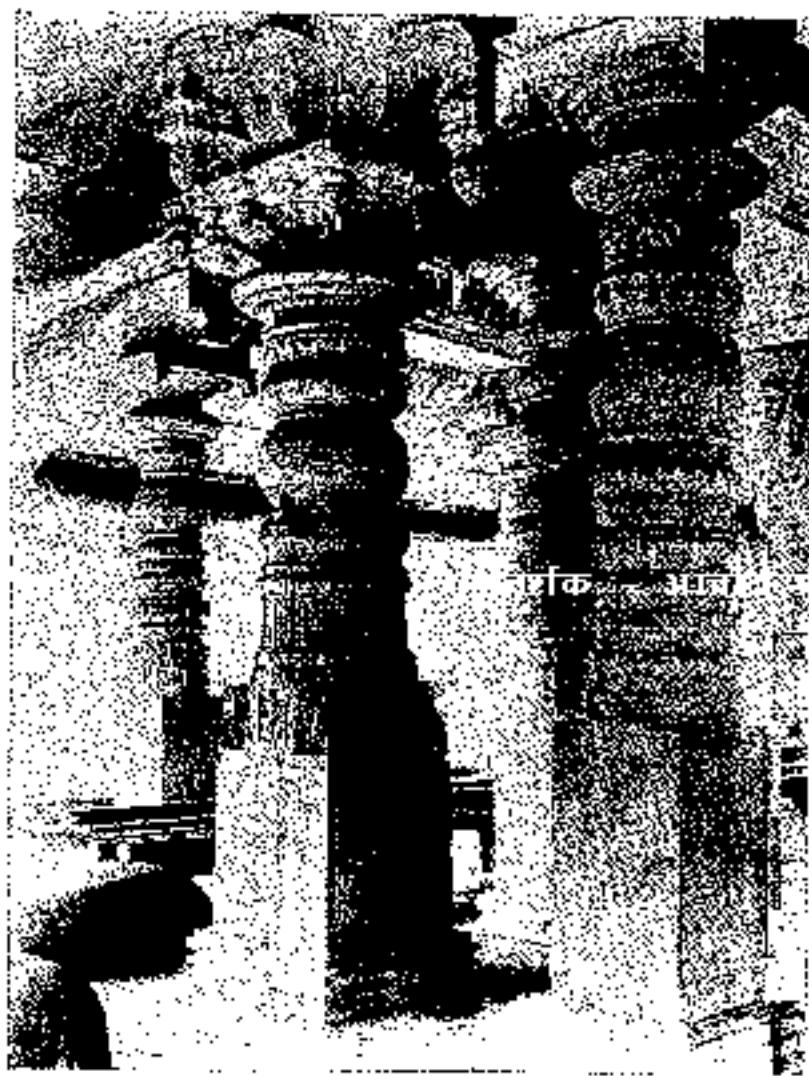
हम्पी — हेमकूट पर्वत पर मंदिर-समूह



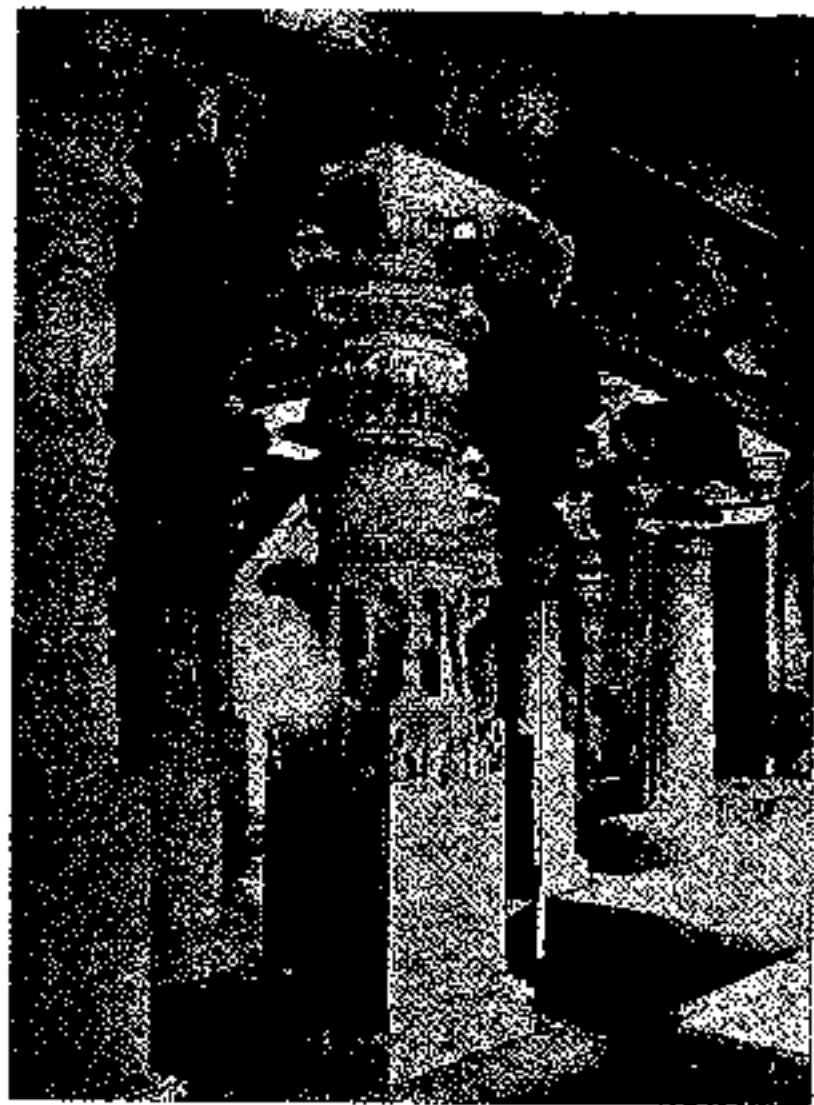
(क) हमी — हेमकूट पर्वत पर विक्रमाचल मंदिर



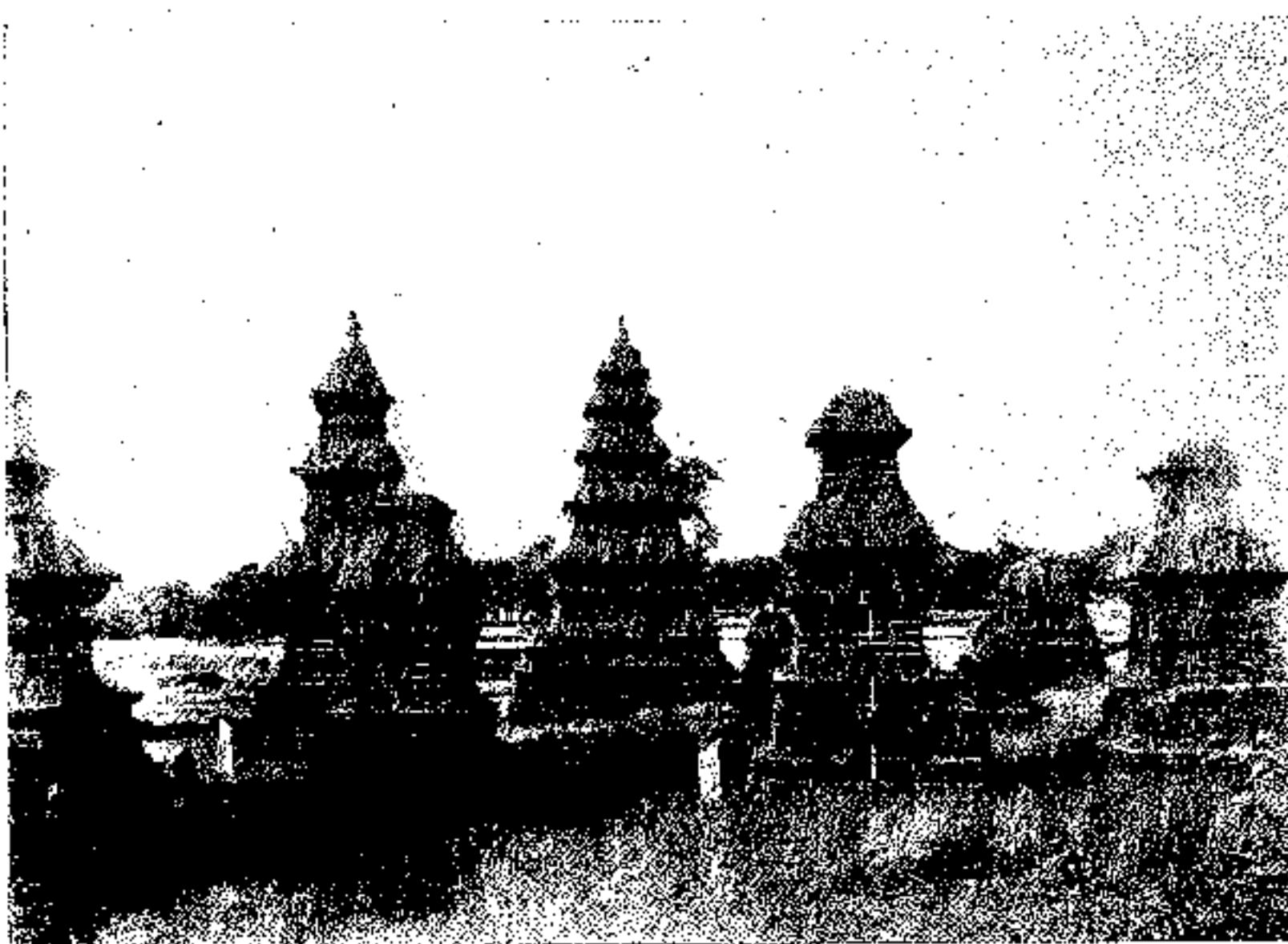
(ख) मूडविहारी — सहस्र स्तंभों वाला मंदिर



(क) मूर्तिकली — भैरवदेवी मण्डप के स्तंभ



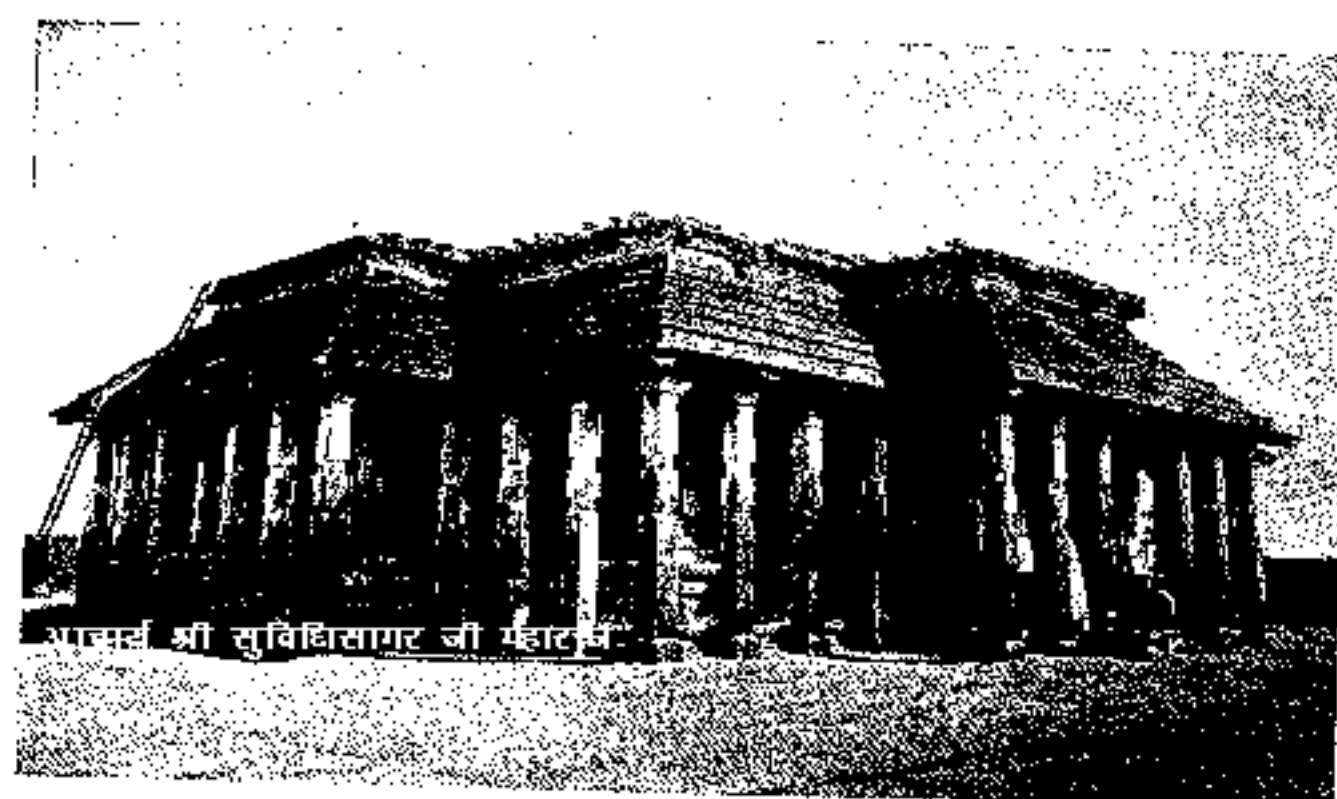
(ख) मूर्तिकली — भैरवदेवी मण्डप के स्तंभ



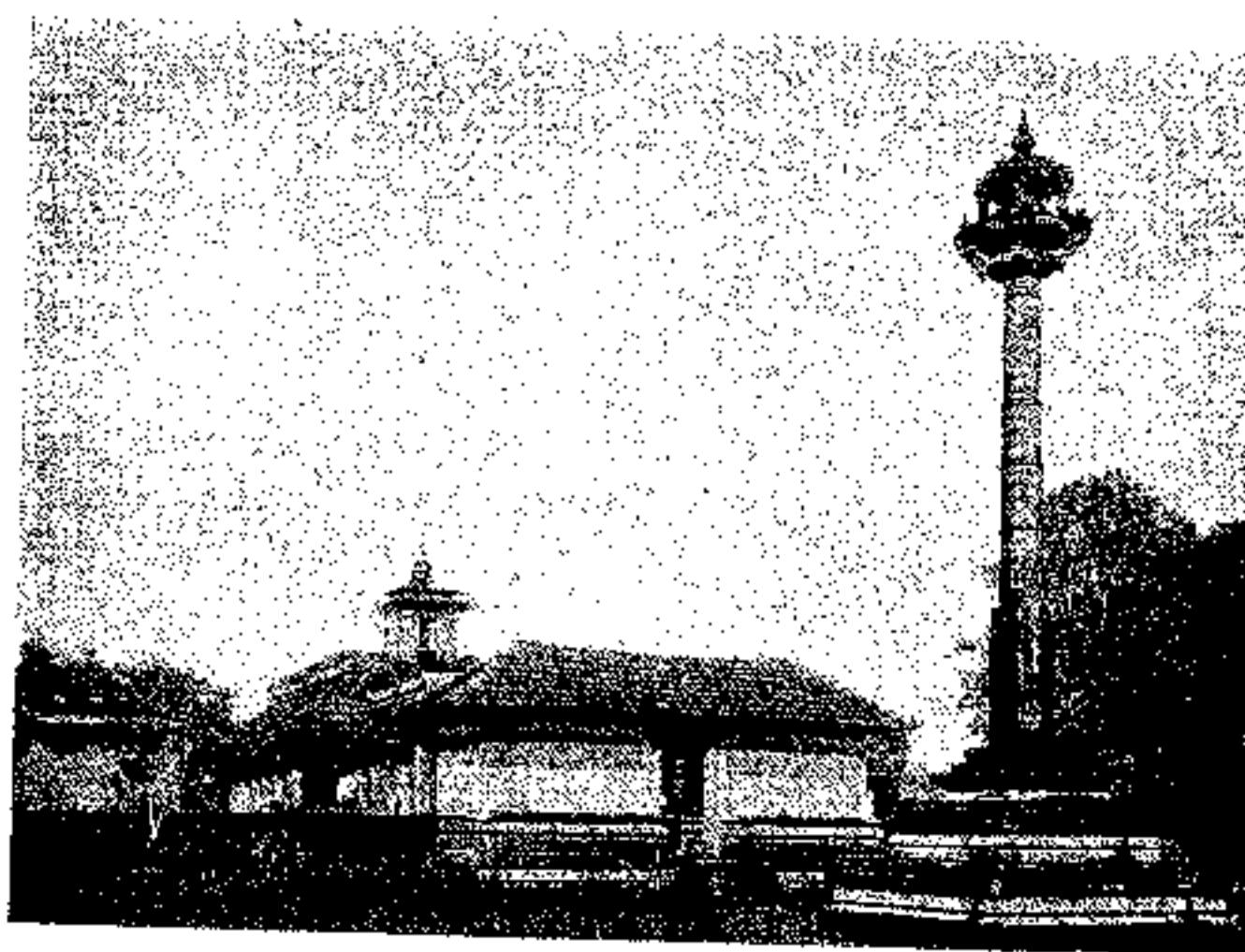
मूडबिली — भुगियों के समाधि-स्मारक

काल्पनिक एवं सूक्ष्मिकता 1300 से 1800 है।

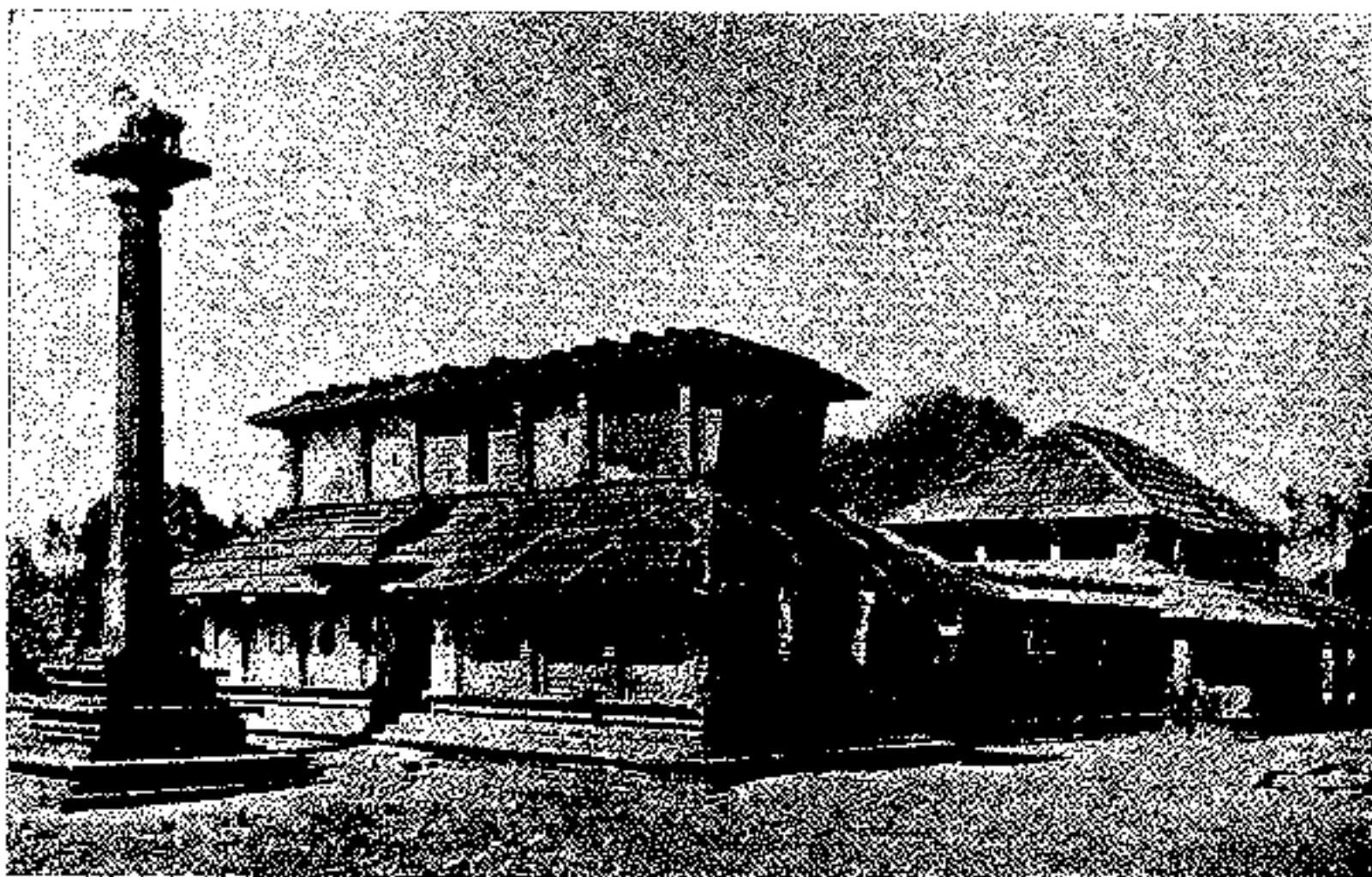
[ भाग 6



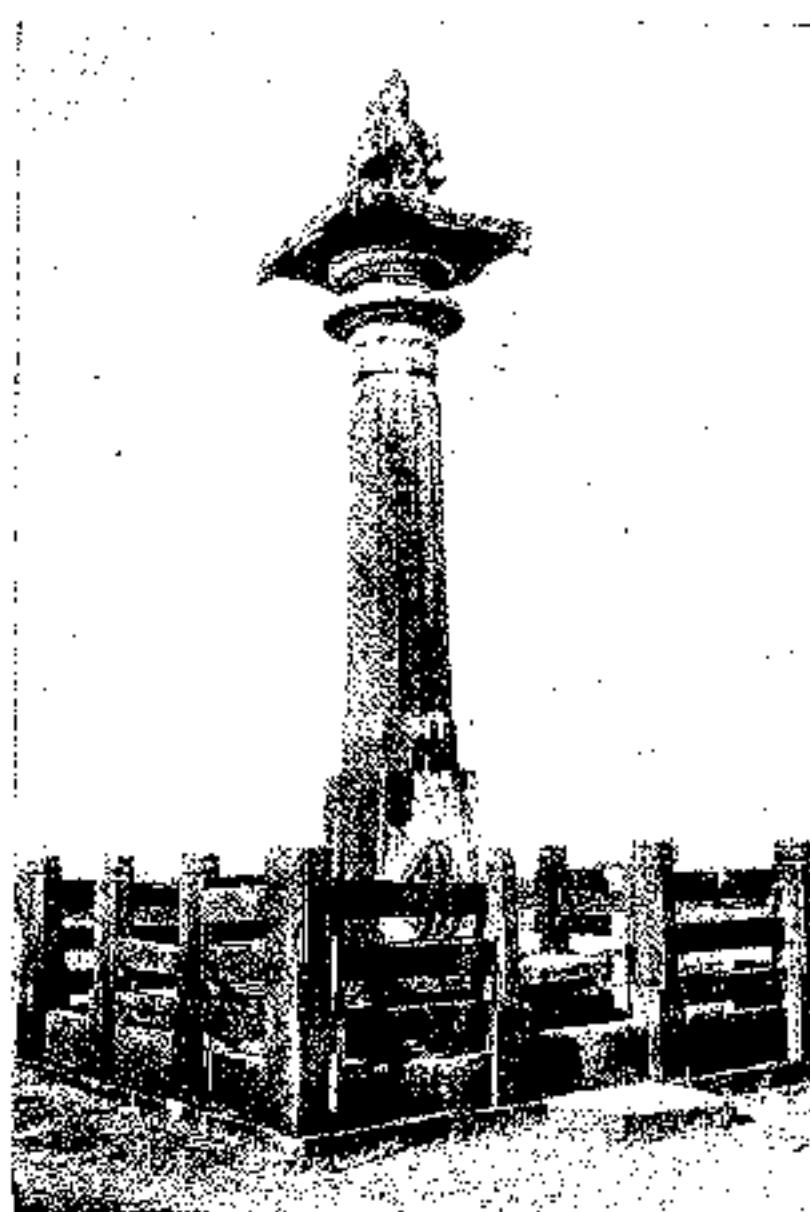
(क) काकोल — चाँदुल-बस्ती



(ख) वेणूर — चार्टीश्वर-बस्ती और उड़के रामने संगम



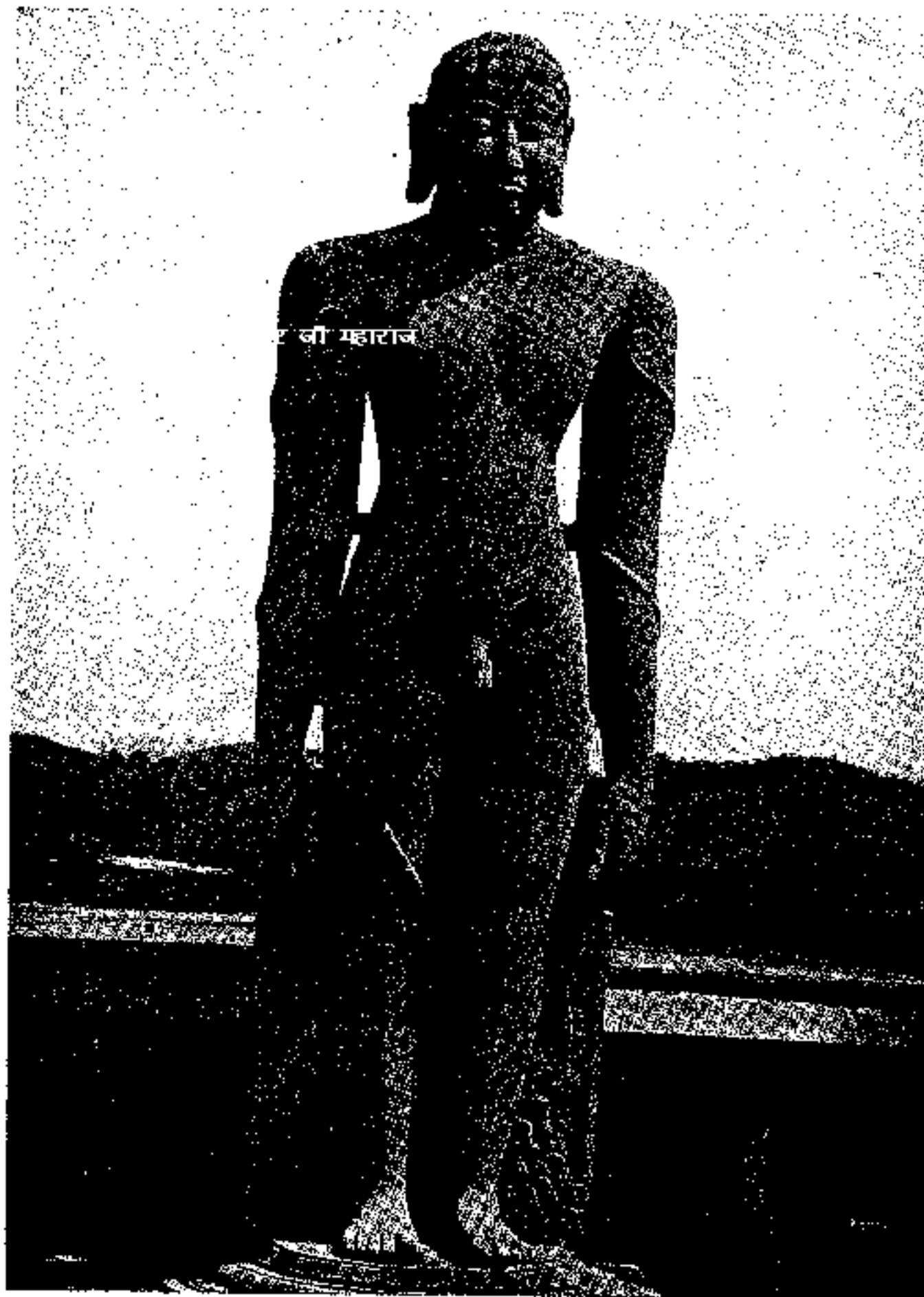
भंडरल — चन्द्रनाथेश्वर-कस्ती और उसके साथमे इंग



(क) काकील — अद्यादेव-स्तंभ



(ख) भूविद्वी — एक स्तंभ का शीर्षभाग



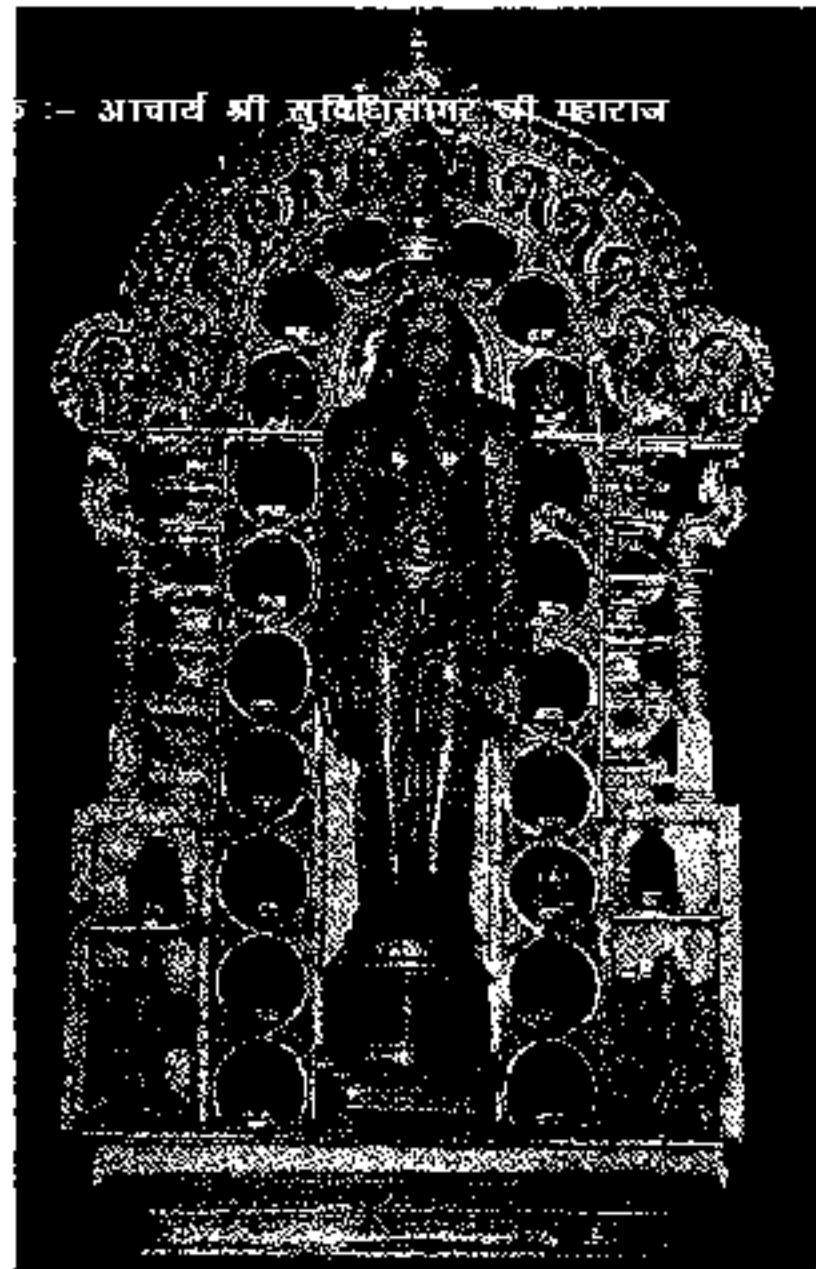
काकेन — सौमदेवर-मूर्ति

वास्तु-स्थारक एवं मूर्तिकला 1300 से 1800 ई०

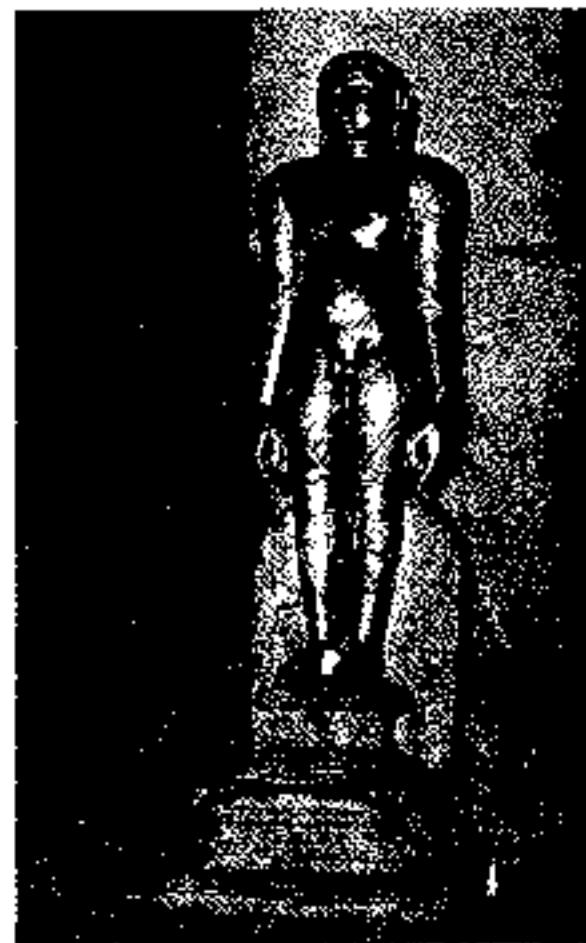
[ भाग 6



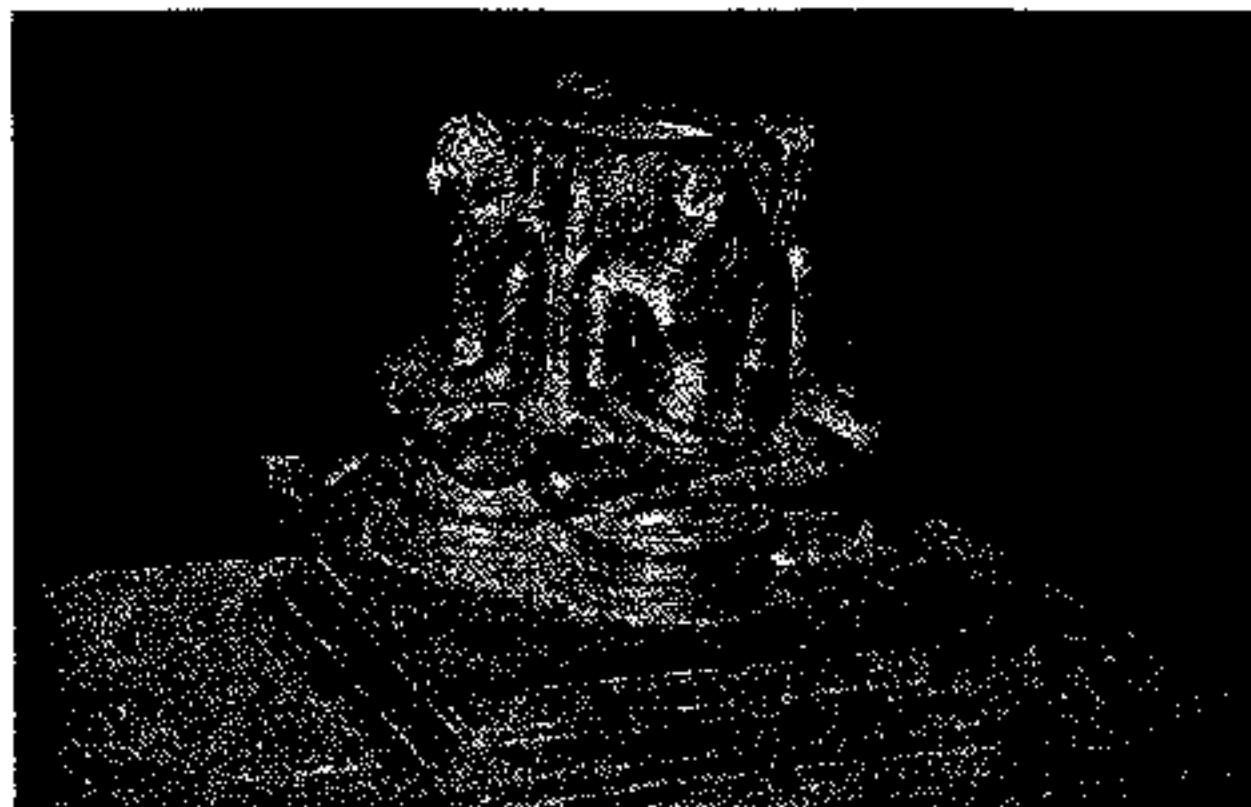
(क) वारंगल चिला — तीर्थकर मार्गवनाथ



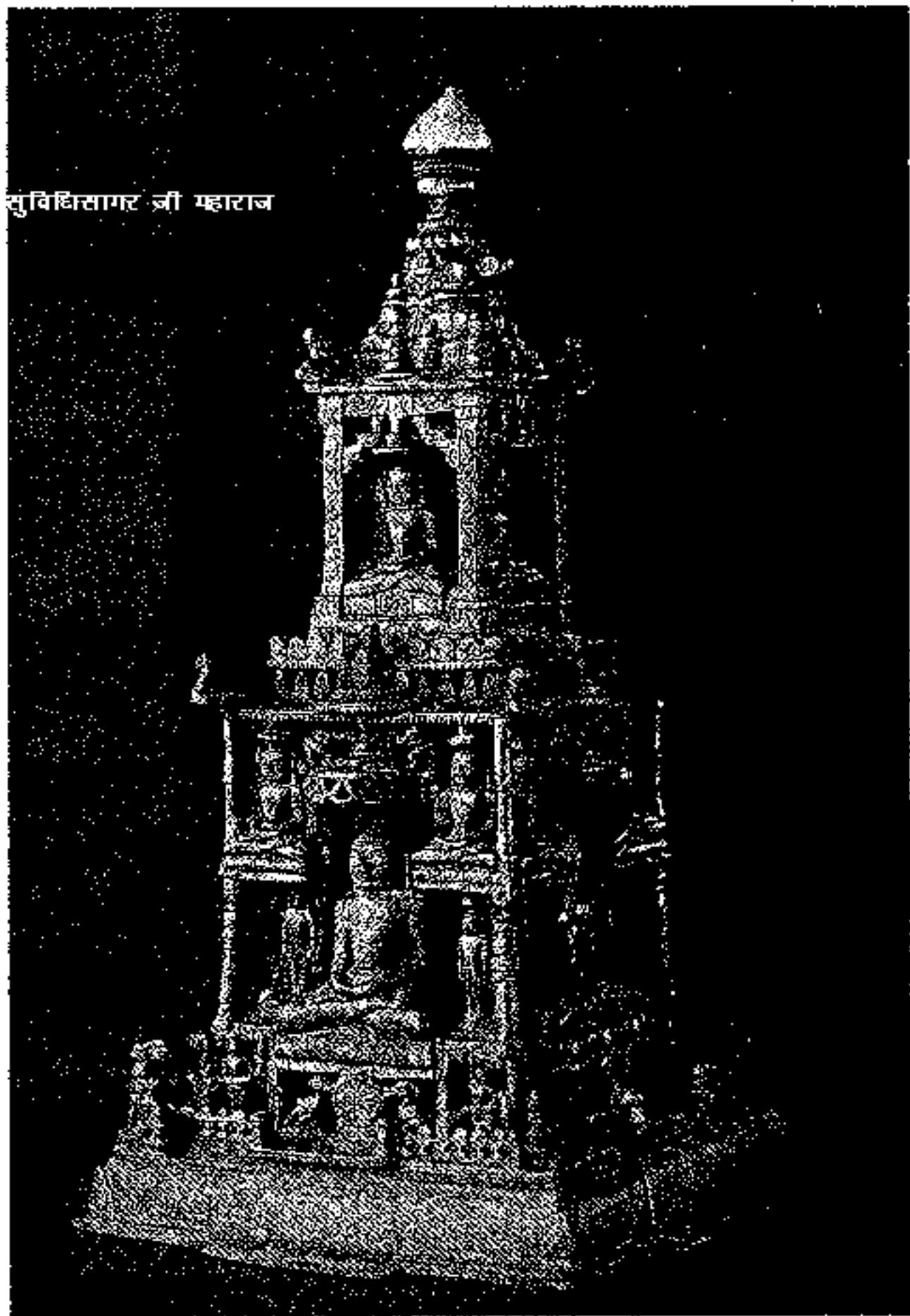
(ल) मूढविन्द्री — तीर्थकर की धातु-मूर्ति



(क) भूदेवी — लक्ष्मीकर की धारु-मूर्ति



(ख) भूदेवी — धारु-निमित चतुर्मुख-मूर्ति



भूड़विद्री — धातु-निर्मित मेह

मंदिर में शिखर-भवण नहीं है अतः इसे मण्ड-प्रासाद कहा जा सकता है जो सर्वतोभद्र-वर्ग में आता है। इस वर्ग के मंदिर कम ही हैं।<sup>1</sup>

मूडबिंदी से २० किलोमीटर दूर, बेणूर में कुछ जैन मंदिर हैं जिनमें से शांतीश्वर-बस्ती (चित्र २५२ ख) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें १४८६-६० ई० का जो अभिलेख है वह यहाँ सबसे प्राचीन है। आमूलचूल पाषाण से निर्मित इस मंदिर के छित्रीय तल पर भी एक गम्भीर है जिसमें एक तीर्थकर-मूर्ति है और जिसकी छत कुछ-कुछ स्तूपकार है। निर्माण की यह प्राचीन पद्धति विशेषतः कनाटक क्षेत्र में प्रचलित रही है, इसका एक आरंभिक उदाहरण ऐहोल का लाड-खाँ-का-मंदिर है।<sup>2</sup> शांतीश्वर-बस्ती के सामने एक सुंदर शिल्पाकान्न-युक्त मान-स्तंभ है।

दक्षिण कनारा जिले के और भी अनेक स्थानों में इस काल के जैन मंदिर थे पर अब उनके विषय में बहुत कम जानकारी मिलती है। यही तथ्य उत्तर कनारा जिले के विषय में भी है, यद्यपि यहाँ अभिलेखों की संख्या इतनी अधिक है कि उनसे विजयनगर राज्य में जैन धर्म की अत्यंत लोक-प्रियता की व्यापक जानकारी प्राप्त की जा सकती है।<sup>3</sup> भटकल के जैन मंदिर का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। जत्प्या नायकन् चंद्रनाथेश्वर-बस्ती (चित्र २५३) के नाम से प्रसिद्ध यह मंदिर भटकल शहर के उत्तर में स्थित है। कजिन्स के द्वारा दिये गये विवरण के अनुसार उसमें मुख्य-मण्डप से जुड़े हुए भवनों की दो पूर्व-पश्चिम लंबी पूर्वाभिमुख पंक्तियाँ हैं। पश्चिमी पंक्ति छित्रल है, मुख्य मण्डप प्रथम तल में है जो छह गड्ढवर्ती स्तंभों पर विद्युरित है और जिसके चारों ओर जाली-सहित भित्तियाँ हैं। गर्भगृह और उसके दो समानांतर कक्ष लंबाई में इस मंदिर की पूरी चौड़ाई को काटते हुए संयोजित हैं। अंतर्भुग्मी अत्यधिक साधारण है। पूर्वी पंक्ति इस मंदिर के अलिद का काम करती है और इसकी विन्यास-रेखा दक्षिण भारतीय गोपुरम्-शैली के समकालीन मंदिरों की विन्यास-रेखा से बहुत-कुछ मिलती है। कजिन्स ने यह भी लिखा है कि इन मंदिरों के स्तंभ किसी निश्चित आकार के नहीं हैं, अनुपात में वे हीनाधिक हैं, स्थूलगकार और अमनोज्ञ हैं।<sup>4</sup>

भटकल से पूर्वोत्तर-पूर्व में १८ किलोमीटर दूर स्थित हुदुबल्ली में (संगीतपुर की भाँति) चंद्रनाथ स्थानी का एक साधारण मंदिर है। इसकी समतल छत शिलाओं से निर्मित है, और स्थापत्य-कला की दृष्टि से इसका कोई महत्व नहीं है। उत्तर कनारा के एक अन्य स्थान बिलोगी में सोलहवीं शती में निर्मित विशाल पाश्वनाथ-बस्ती है, उसमें उक्त शती के चौथे चरण में किसी समय संवर्बन-कार्य हुआ था। यह मंदिर द्रविड-शैली का है। गेरसोपा के खण्डहर-मंदिरों में चतुर्मुख-बस्ती सबसे बड़ी है। इस मंदिर

1 ओनिवासन, वही, पृ 79, रेखाचित्र 1.

2 वही, पृ 78.

3 एम्प्रेस रिपोर्ट अॅन इन्डियन रिपोर्ट इस वाँचे प्रार्किस फॉर 1939-40, पृ 58 तथा परवती।

4 कजिन्स, वही, पृ 135-36.

की विन्यास-रेखा स्वस्तिक के आकार की है, और इसमें धारों और एक-एक मुख-मण्डप है। इस मंदिर के मध्यवर्ती गर्भगृह में चारों ओर द्वार हैं और उसमें एक चौमुख या चतुर्मुख स्थापित है। इसमें शिखर की संयोजना या तो थी ही नहीं या अब कह नष्ट हो चुका है। मंदिर के चारों ओर बरामदा था जिसके अब केवल स्तंभ ही बच रहे हैं और छत के शिला-फलक निकाल लिये गये हैं।<sup>1</sup> यह मंदिर लगभग सोलहवीं शती का हो सकता है और कार्कल की उपरि-वर्णित चतुर्मुख-बस्ती से इसकी तुलना की जा सकती है जो सर्वतोभद्र-वर्ग का मण्ड-प्रासाद भाना जा सकता है।

### महाराष्ट्र के स्मारक

महाराष्ट्र में भी जैन धर्म के अनुयायियों ने कला और स्थापत्य के महत्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत किये। यहाँ के जैन मंदिर स्वभावतः स्थानीय शैली में निर्मित हैं जो एक प्रकार की उत्तर भारतीय शिखर-शैली ही है जो बाद में हेमाडपंथी-शैली के नाम से लोकप्रिय हुई, और इसकी शैलीभृत विशेषताओं को जैन मंदिरों की स्थापत्य संबंधी विशेषताओं में स्थान दिया गया। बारहवीं शती के भी इस शैली के कुछ मंदिर नासिक जिले के अंजनेरी में विद्यमान हैं।<sup>2</sup> इस क्षेत्र में इस काल के निर्मित दो गुफा-मंदिर महत्वपूर्ण हैं। ये दोनों नासिक जिले के त्रिंगलबाडी और चंदोर नामक स्थानों पर हैं। पहले में १३४४ ई० का एक अभिलेख है और यह एक अत्यंत सुंदर गुफा-मंदिर है। इसमें गर्भगृह, अंतराल और मण्डप हैं। 'मण्डप के सामने एक नीची परिविका है जिसके दोनों छोरों पर एक-एक स्तंभ है, जिनसे लगा हुआ एक-एक द्वार है जिनपर बरामदे का बाहरी छदितट आधारित है'<sup>3</sup> इसमें संकीर्ण गबाक्ष, छत के अलंकरण, सुंदर शिल्पाकंतों से युक्त स्तंभ, शिल्पाकृति सम्मुख-द्वार और घटकों की पट्टियाँ उल्लेखनीय हैं। गर्भगृह में एक खण्डित तीर्थकर-मूर्ति है। चंदोर की गुफा उसके बाद की प्रतीत होती है। इसमें एक लघु कक्ष है जो साधारण चतुर्ज्ञोणीय स्तंभों पर आधारित है। इसमें चंद्रप्रभ की एक मूर्ति है।<sup>4</sup>

बरार में बासिन से उत्तर-पश्चिम में १६ किलोमीटर दूर, सिरपुर में स्थित अंतरिक्ष-पादवंचनाथ नामक मंदिर उल्लेखनीय है। इसमें संवत् १३३४ (यदि यह विक्रम संवत् है तो १२७८ ई०) का एक चित्र हुआ अभिलेख है जिसमें तीर्थकर का उपर्युक्त नाम उल्लिखित है। इसकी विन्यास-रेखा तारकाकार है और इसकी भित्तियों पर पत्रावली-युक्त पट्टियों का अलंकरण है। इंट और चूने से बना इस मंदिर का शिखर बाद में निर्मित प्रतीत होता है। मण्डप के प्रवेश-द्वारों पर आकर्षक शिल्पाकृति हैं और

1 वही, पृ 126.

2 कजिम्स, ऐडोएल टेम्प्ट्स ऑफ द डेकन, आर्क-पॉलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, न्यू इंप्रिसियल सीरिज, 47, 1931, कलकत्ता, पृ 43 और परवती।

3 वही, पृ 48.

4 वही, पृ 49.

उनके नीचे दोनों और मूर्तियों की संयोजना है जिनमें से कुछ तीर्थकरों की भी हैं। प्रबेश-द्वार के सरदल पर तीर्थकर की एक आसीन मूर्ति है।<sup>1</sup>

### स्तंभ

स्तंभ, मान-स्तंभ और ब्रह्मदेव-स्तंभ स्थापत्य के अंगों की द्वितीय श्रेणी में आते हैं। स्तंभ मंदिर का एक संपूर्ण अंग होता है किन्तु उसकी अपनी एक वैयक्तिकता भी है और यही उसका आकर्षण है। कनारा के स्तंभों के विषय में स्मित्य ने लिखा है : 'संपूर्ण भारतीय कला में कनारा के इन स्तंभों के समकक्ष कदाचित् ही ऐसा कुछ हो जो इतना रस-विभोर करता हो'।<sup>2</sup> इतना ही आनंद-विभोर होकर फग्धूसन ने लिखा है : 'अनेक मंदिरों के अंगों के रूप में निर्मित ये स्तंभ कनारा की जैन शैली के था पत्य में भव्यतम न भी हों पर सरस रचनाएँ अवश्य हैं'।<sup>3</sup> मान-स्तंभ एक उत्तुग स्तंभ होता है, उसके शीर्ष पर एक लघु मण्डप होता है, जिसमें स्थापित एक चौमुख पर चारों ओर एक-एक तीर्थकर-मूर्ति उत्कीर्ण होती है। ब्रह्मदेव-स्तंभों के उक्त मण्डप-सदृश शीर्ष-भाग पर ब्रह्मदेव की मूर्ति होती है। प्रतीत होता है कि जैन मंदिरों में मान-स्तंभ की संयोजना आवश्यक अंग के रूप में होती रही। ब्रह्मदेव-स्तंभों का निर्माण कार्कस (चित्र २५४ क) और वेणूर में गोम्मट-मूर्तियों के सम्मुख हुआ। गुरुवायरकेरी में<sup>4</sup> एक सुंदर मान-स्तंभ विद्वमान है। मूडबिंदी में साढ़े सोलह मीटर ऊँचा एक ऐसा स्तंभ है (चित्र २५४ ख) जो इन दोनों वर्गों में नहीं आता। इसके विषय में स्मित्य ने बौलहाउस का उद्धरण ठीक ही दिया है : 'संपूर्ण शीर्ष और मण्डप ऐसी भनोज और अलंकृत प्रष्टाण-कृतियाँ हैं जो आलोक-चकित करती हैं; इन सुंदर स्तंभों की राजोचित गरिमा अनन्य-अपराजेय है; इनकी आनुपातिक संयोजना और आसपास के दृश्यों का प्रालेखन सभी दृष्टियों से परिपूर्ण है और इनके अलंकरणों की प्रचुरता सदा निर्देष मानी जायेगी'।<sup>5</sup> निस्सदेह, जैनों ने उत्तर-भृत्यकाल में दक्षिणापथ में इन अति सुंदर स्तंभों का निर्माण करके भारतीय स्थापत्य के समृद्ध द्वय भण्डार में उल्लेखनीय संबंधन किया है।

### गोम्मट-मूर्तियाँ

प्रथम तीर्थकर के सुपुत्र मुनि गोम्मट की कार्कल और वेणूर में स्थापित विश्वालक्ष्मा भूतियाँ भी उदाहरण के योग्य मनोरम कलाकृतियाँ हैं। श्रवणबेलगोला की मूर्ति की भाँति ये मूर्तियाँ भी

1 वही, पृ 67-68, यहाँ चर्च 1334 का शक-संवत्त के रूप में उल्लेख है।

2 स्मित्य (बौ ए) हिन्दू ओळ काल मास्ट इन इण्डियर एण्ड सोसोस. 1911. पॉइसफोड. पृ 22.

3 फग्धूसन, वही, पृ 80-81.

4 वही, पृ 81.

5 स्मित्य, वही, पृ 22, ऐताचित्र 6.

पहाड़ियों की इतनी ऊँचाई पर स्थापित हैं कि उनके दर्शन बड़ी दूर से हो सकते हैं। कार्कल की (चित्र २५५) लगभग १२३ मीटर ऊँची मूर्ति नाइस नामक कठोर श्याम पाषाण से बनी है। इसका भार अनुमानतः ८० टन है और यह करतलों तक ऊँची पीछे खड़ी एक शिला का आधार लिये हुए है। इसका मण्डलाकार पादपीठ सहस्रदल-कम्पल के पुष्पांकन में समाविष्ट है। यह विशाल मूर्ति पाषाण-निर्मित अधिष्ठान पर स्थित है जिसके चारों ओर पाषाण से ही निर्मित एक वेदिका और लैटराइट नामक मिट्टी से बने दो प्राकार हैं। अंगूर की बेले (ब्राक्षान्वल्लरी) उसके चरणों ओर भुजाओं का आलिङ्गन कर रही हैं। पीछे की शिला पर मूर्ति के चरणों के पास दोनों ओर अनेक सपों का अंकन हुआ है। उसी शिला के पास्तंभालों पर उत्कीर्ण दो अभिलेखों में वृत्तांत है कि बाहुबली अर्थात् गोम्मट-जिनपति की यह मूर्ति १४३१-३२ ई० में भैरव के पुत्र वीर पाण्ड्य नामक सेनापति ने स्थापित की थी। इसी सेनापति का एक अभिलेख बाह्य प्रवेश-द्वार के सम्मुख स्थित एक सुरचिपूर्ण स्तंभ पर भी उत्कीर्ण है। पाषाण-निर्मित वेदिका से आवेषित इस स्तंभ के शीर्ष-भाग पर ब्रह्मदेव की एक आसीन मूर्ति स्थापित है।<sup>१</sup>

बेणूर की लगभग ११ मीटर ऊँची मूर्ति कार्कल की मूर्ति के ही समान है, केवल आलेखनों में कुछ साधारण अंतर है।<sup>२</sup> यहाँ के अभिलेखों के अनुसार इसे एनूर में चामुण्ड परिवार के तिम्मराज ने १६०३-१६०४ ई० में स्थापित कराया था। 'किन्तु कपोल-कूपक और गंभीर तथा प्रशांत स्मिति' इस मूर्ति की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। कूपक की इतनी गहराई अच्छे प्रभाव में बाधक मानी जाती है।<sup>३</sup>

मैसूर से लगभग २५ किलोमीटर दूर मैसूर-हैसूर मार्ग की दाहिनी ओर स्थित गोम्मटगिरि नामक पहाड़ी पर भी गोम्मट की एक सुंदर मूर्ति है। इस मूर्ति की संयोजना प्रकृतिरूप है। अन्य मूर्तियों की भौति इस खड़गासन मूर्ति के भी चरणों, जंघाओं, भुजाओं और स्कंधों का आलिङ्गन लेताएँ कर रही हैं। स्तंक पर धूधराले केशों का अंकन रमणीय है। मुख-मण्डल पर ईष्ट स्मिति है और नेत्र प्रशांत हैं। करतल दोनों ओर उत्कीर्ण सपों की फणाकली को छू रहे हैं। किन्तु यहाँ सपों को चीटियों की बांबियों से निकलता हुआ नहीं दिखाया गया है। कला की दृष्टि से यह मूर्ति चौदहवीं शती की मानी जा सकती है।

### अन्य मूर्तियाँ

दक्षिणापथ के विभिन्न भागों में इस काल की खड़गासन या पद्मासन में निर्मित असंख्य तीर्थकर-मूर्तियों का परिज्ञान होता है। सामान्यतः ये मूर्तियाँ उसी पाषाण की होती हैं जो उन स्थानों

1 एम्प्रेस रिपोर्ट ऑफ साउथ इण्डियन एफिराइट फ्रॉर 1901, पृ 4.

2 वही, पृ 4-5.

3 इम्फ, वही, पृ 268.

पर उपलब्ध होता है। ये कांस्य तथा अन्य द्रव्यों की भी हैं। शिला-खण्डों पर भी मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गयी हैं। आसीन मूर्तियाँ या तो पद्मासन में हैं या अर्ध-पद्मासन में और खड़ी मूर्तियाँ कायोत्सर्ग-मुद्रा में। तीर्थंकर-मूर्तियों के अतिरिक्त शासन-थक्कों और शासन-यक्षियों की मूर्तियाँ भी हैं जिनके अंकन में विभिन्न शंखियों और घुग्गों के लक्षण विद्यमान हैं। वस्तुस्थिति यह है कि शैलीगत विशेषता तीर्थंकरों की भी मूर्तियों में देखी जा सकती है।

दक्षिणाफथ के अनेक स्थानों की इस काल में निर्मित जैन मूर्तियों के विषय में लिखा तो गया है पर उनके चित्र बहुत कम प्रकाशित हुए हैं। उदाहरण के लिए, गुलबर्गा जिले में स्थित राष्ट्रकूटों की राजधानी मालखेड में, जो बारहवीं या तेरहवीं शती की एक जैन बस्ती है, संगृहीत उत्तर-कालीन जैन मूर्तियाँ हैं। गुलबर्गा जिले के ही सेडम की अनेक जैन बस्तियों में उनकी समकालीन और वैसी ही जैन मूर्तियाँ होने की सूखना प्राप्त है। हम्पी में भी कुछ जैन मूर्तियाँ हैं। इसी तरह श्रवणबेलगोला, मूडबिद्री आदि की मूर्तियाँ भी हैं। वेणूर की एक जैन घर्मशाला में उच्चकोटि की अनेक जैन धातु-मूर्तियाँ संगृहीत हैं। एपिग्राफिका कर्नाटिका और १६५६ ई० तक की मैसूर आक्रमणात्मक रिपोर्ट स में प्रकाशित अनेक अभिलेखों में बताया है कि विभिन्न स्थानों की जैन बस्तियों में भक्तों ने जैन मूर्तियाँ स्थापित करायीं।

इस प्रकार की अनेक प्राचीन जैन मूर्तियाँ हम्पी के ठीक सामने तुंगभद्रा के उत्तरी तट पर स्थित अणोगोम्डी में एक चट्टान पर उत्कीर्ण हैं। यद्यपि उन्हें 'अमनोल'<sup>1</sup> कहा गया है पर वे लगभग चौदहवीं शती की कला के अच्छे उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। खड़ी मूर्तियाँ कायोत्सर्ग-मुद्रा में हैं, उनके मस्तक पर मुकुड़े (तीन छत्र) की संयोजना है और उनका आनुपातिक शिल्पांकन सुंदर बन पड़ा है। एक समूह का शिल्पांकन द्वासरे समूह के शिल्पांकन से स्पष्टतः भिन्न है, और ठीक बायें उत्कीर्ण एक मूर्ति तो कला का एक सुंदर निर्दर्शन बन पड़ी है।<sup>2</sup> उसकी मुख-मुद्रा से आंतरिक शांति की अभिव्यक्ति होती है, स्कंध सुपुष्ट हैं, भुजाएँ कुर्वलतापूर्वक अंकित की गयी हैं और कटि से नीचे का भाग बरबस आकृष्ट करता है। अनुचरों की मूर्तियाँ आसीन-मुद्रा में हैं और वे शरीर की सानुपातिक संयोजना तथा हाथों और मुख-मङ्गल की प्रभावक मुद्रा से ध्यान आकृष्ट करती हैं।

पश्चिमी समुद्र-तट के क्षेत्रों की जो मूर्तियाँ परिचय में आयी हैं उनमें हुदुवल्ली<sup>3</sup> (संगीतपुर) और भटकल की उल्लेखनीय हैं। हुदुवल्ली की मूर्तियों में एक तीर्थंकर की धातु-मूर्ति है जिसपर चौदहवीं शती का अभिलेख है। वह मूर्ति तीर्थंकर ऋषभ की मानी जाती है क्योंकि उसके पादपीठ पर अंकित आकृतियों में एक गोमुख की भी है। यद्यपि इस पर जो सिंह अंकित है वह सामान्यतः

1. कलाज़ फ़िशर, दृष्टेवशम्भ आौङ दि आक्रमणात्मक सोसायटी आौङ इण्डिया, 1, 1955, पृ 57.

2. वही, रेलाप्लित 15.

3. पंचमुखी (प्रार एस). एन्ड्रेल रिपोर्ट अर्थव राज्य रिपोर्ट इन बैंग्ले प्राविस फॉर 1939-40, पृ 9। तथा परवर्ती, हुदुवल्ली की धातु और पाषाण-मूर्तियों के संदर्भ में।

महावीर की मूर्ति पर होता है, किन्तु पादपीठ मूर्ति से अलग है अतः यह निश्चित नहीं कि वह उसी मूर्ति का है या नहीं। अभिलेख में तीर्थकर के नाम का उल्लेख नहीं है। मूर्ति पर्याकासन में है और उसके वक्षस्थल पर श्रीवत्स-लांछन है। मूर्ति के स्कंधों पर कदाचित् लहराती केशराशि दिखाई गयी है जो आदिनाथ की विशेषता है। मूर्ति के पांचे प्रभावली का सुंदर शिल्पांकन है, उसके ऊपर एक सुंदर मकरन्तोरण है जिसके दोनों स्तंभों पर विविध अलंकरण हैं। प्रभावली पर इकहत्तर तीर्थकर-मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं जिनमें से एक और सुपाद्वं की और दूसरी और पाश्वनाथ की खड़ी मूर्तियाँ और छत्रत्रय के नीचे चार तीर्थकरों की आसीन मूर्तियाँ हैं। दोनों ओरों पर एक-एक बृक्ष का आलेखन है। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, पादपीठ पर गोमुख यक्ष, चक्रश्वरी (?), सिंह और गुच्छकों के अंकन हैं। प्रस्तुत कालावधि की आरंभिक कृति के रूप में यह मूर्ति कुछ ऐसी शैली में है जो पूर्वकाल से ही अपने प्रभाव और सुंदरता के लिए विख्यात रही है।

पाश्वनाथ की यक्षी पद्मावती की एक धातु की और एक पाषाण की मूर्तियाँ बहुत बाद की कृतियाँ हैं और कला के हास की सूचक हैं। फिर भी, इनके मूर्तिकार अपनी कृतियों में शांति और दिव्यता का भाव उभारने में असफल नहीं हुए, जो उनकी मुख-मुद्रा के अंकन से व्यक्त होते हैं। पद्मावती के हाथों की वस्तुएँ और वाहन वही प्रतीत होते हैं जो तिरुपत्तिकुण्डम् की पद्मावती की खड़ी कांस्य-मूर्ति में है।<sup>1</sup> पद्मावती की पाषाण-मूर्ति पर सर्प की पंच-कणावली है और वाहन के रूप में हंस है। उसके ऊपर के हाथ में अंकुश और पाश तथा नीचे के हाथों में कमल और फल हैं। यही एक अनुपम धातु-कृति है—चौमुखी (तंदीश्वर)। यह पंद्रहवीं-सोलहवीं शती की हो सकती है। यह एक धातु-निर्मित लघु-मंदिर (मण्डप) है जिसके चारों ओर तोरण-द्वारों के अंकन हैं।

तंदीश्वर (?) (कदाचित् सहस्राविद) का एक सुंदर शिल्पांकन लक्ष्मेश्वर की शंख-बस्ती में है जिसपर एक हजार चौदह लघु और एक पूण्यकार तीर्थकर-मूर्ति उत्कीर्ण हैं। पाश्वनाथ की एक पाषाण-मूर्ति तेरहवीं या चौदहवीं शती का एक सुंदर उदाहरण है।<sup>2</sup>

आंध्र प्रदेश के विभिन्न स्थानों में तीर्थकरों की अलग-अलग मूर्तियाँ अविकाशतः पाषाण द्वारा निर्मित हुईं, उनमें से बहुत-सी १३०० ई० से पूर्व की मानी गयी हैं।<sup>3</sup> तथापि, कञ्जुलुर की तीर्थकर की एक आसीन मूर्ति विजयनगर काल की मूर्तिकला का एक सुंदर उदाहरण मानी जा सकती है। विस्तृत वक्षस्थल, उन्नत स्कंधों और सुगठित भुजाओं से तीर्थकर के बल और वीर्य की सुंदर अभिव्यक्ति होती है। शरीर का ऊर्ध्व और निम्न भाग भी शिल्पांकन की दृष्टि से निर्दोष बन पड़ा है। पुढ़ूर से प्राप्त वर्षमात्र और पाश्वनाथ की मूर्तियाँ भी उसी काल की मानी जा सकती हैं, क्योंकि शैली की दृष्टि से

1. रामचन्द्र (टी एन) तिरुपत्तिकुण्डम् एवं इहूस टेप्पल्स, बुलेटिन ऑफ द मद्रास गवर्नरेट मूज़ियम, न्यू सोरिंग, जनरल सेक्यान, 1.3, 1934, मद्रास, चित्र 33, 3.

2. पंचमुखी, वही, पृ. 94, चित्र 9 (क एवं ल).

3. मूर्ति (गोपालकृष्ण) वही, इस अनुच्छेद में विविध सभी कृतियों के चित्र उस पुस्तक में प्रकाशित हैं।

वे कबुलुर की मूर्ति के समान हैं। बारंगल के किले से प्राप्त पाश्वेनाथ की खड़ी मूर्ति (चित्र २५६ क) चौदहवीं शती की प्रतीत होती है। इसकी लौली में काकतीय कला के लक्षण दृष्टिगत होते हैं। इस मूर्ति-फलक पर भूस्य मूर्ति के पीछे तेईस तीर्थकरों की लघु मूर्तियाँ, चमरधारी, सप्त-कणावली-सहित सर्प और ऊपर मुकुड़े के सुंदर सानुपात्र अंकन हैं। उत्तरकर्ती कालों की कृतियों में निद्रा की तीर्थकर-मूर्ति, निष्ठिति दी यह नितीनित के पाषाण-खण्ड पर उत्कीर्ण मूर्तियाँ, निजामाबाद जिले से प्राप्त एक चौबीसी मूर्ति-फलक और बैरमपल्ली से प्राप्त गोमट की एक मूर्ति उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं। इनका निर्माण चंद्रहवीं शती में और उसके बाद हुआ।

दक्षिणापथ में जैनों द्वारा उत्तर-भव्यकाल में निर्मित मूर्तियों की यह संक्षिप्त रूपरेखा समाप्त करने से पूर्व यह उल्लेखनीय है कि श्रवणबेलगोला, मूडबिंद्री (चित्र २५६ ख, २५७ क, ख और २५८), वेणूर आदि जिन स्थानों पर जैनों को कोई बाधा उपस्थित न की गयी वहाँ उन्होंने विपुल संख्या में मूर्तियों का निर्माण किया जिनमें अधिकांश धातु की हैं और पिछली कई शतियों की कृतियाँ हैं। कला के उत्तरकालीन उदाहरण श्रवणबेलगोला के जैन मंदिरों में विद्यमान हैं।<sup>1</sup>

पी० आर० श्रीनिवासन्

1 एपिग्राफिका कलासिका, 2, 1923, पृ 29 तथा परवर्ती; विशेष रूप से चित्र 44 और 45.



भाग ७

चित्रांकन एवं काष्ठ-शिल्प

## अध्याय 30

### भित्ति-चिन्ता

भारत की चित्रकला के पीछे एक महान् परंपरा रही है, परंतु आज ऐसी कृति नहीं बच रही है जो जैन चित्रकला<sup>1</sup> के प्रारंभिक काल पर प्रकाश डाल सके। जैन चित्रकला की आज उपलब्ध प्राचीनतम् कृतियाँ पल्लववंशी शासक महेंद्रवर्मा-प्रथम एक महान् कलाकार, मूर्तिकार और चित्रकार, संगीतज्ञ, कवि, अभियंता और कला-प्रेमी था। वह मूलतः जैन धर्मानुयायी था परंतु सातवीं शताब्दी के प्रारंभ में शैव संत तिरुनावुकरशु अथवा अप्पर ने उसे शैव मत में दीक्षित कर दिया, जिन्हें श्रद्धा के साथ तिरुक्कान-संबंधर अर्थात् बाल-वेदपाठी के नाम से भी जाना जाता है उन्होंने पाण्ड्य राजा निष्टरशीर्नेंडुमारन् को भी शैव मत में दीक्षित किया था। यह सुविदित है कि महेंद्रवर्मा ही वह पहला व्यक्ति था जिसने दक्षिण में शैलोत्कीर्ण स्थापत्य का आरंभ किया। वह 'चित्रकारपुली' अर्थात् 'चित्रकारों में सिंह' की उपाधि से विभूषित था। तिरुच्चिरापल्ली के निकटवर्ती शित्तन्नवासल में उसने पर्वत में एक जैन गुफा-मंदिर उत्कीर्ण कराया।<sup>2</sup> बहुत समय तक यह माना जाता रहा कि सातवीं शताब्दी में इस गुफा के समस्त भित्ति-चिन्त्रों की रचना उसके निर्माण के साथ ही साथ हुई, परंतु हाल की खोजों में यहाँ पर भित्ति-चिन्त्रों की दो सतहें पायी गयी हैं जिनमें से एक सतह प्रारंभिक है और दूसरी उसके बाद की। इसके साथ ही नौवीं शताब्दी का एक अभिलेख भी पाया गया है जो प्रारंभिक पाण्ड्य-काल में हुए विस्तार तथा पुनरुद्धार से संबंधित है। इस मंदिर की छत के भित्ति-चिन्त्र का एक अंश ऐसा भी मिला है जिसपर पाण्ड्यकालीन पुनरुद्धार में भित्ति-चिन्त्रों की दूसरी परत नहीं चढ़ायी गयी; अतः यह अंश मूलतः पल्लवकालीन है जिससे पल्लवों के प्रारंभिक चित्रकारों की अलंकरण-पद्धति-योजना के विषय में जानकारी प्राप्त होती है (चित्र २५६)।

इस गुफा-मंदिर के सम्मुख भाग के दक्षिण कोने पर एक अभिलेख प्राप्त है। यह अभिलेख तमिल भाषा में पद्म-बद्ध है जिसमें मदुरे के जैन आचार्य इलन् गौतमन् का उल्लेख है जिन्होंने अर्ध-मण्डप का पुनरुद्धार कराकर उसका अलंकरण कराया तथा मुख-मण्डप का निर्माण कराया।

1 जोगीमारा-सीतावेंग गुफा के चिन्त्रों के लिए, जिन्हें जैनों से संबंधित बताया जाता है, देखिए पृष्ठ 11-संपादक.

2 इस गुफा-मंदिर की पल्लवों द्वारा निर्मिति पर संबोध किया गया है। देखिए इसी भाग में शब्दायां 19-संपादक.

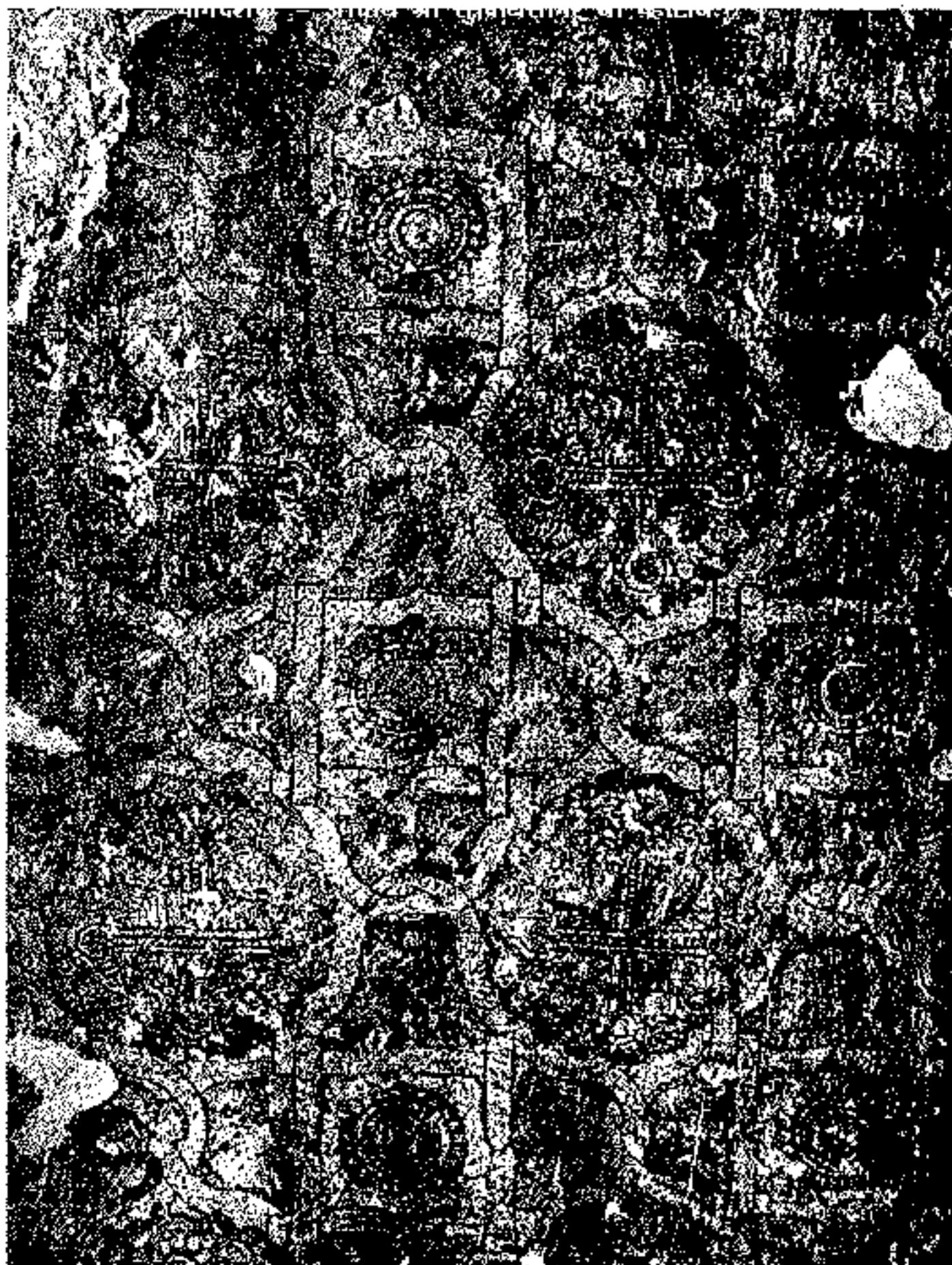


रेखाचित्र 24. शतन्नदासतः चित्रित नक्षकी

इतिहास से यह सुविदित है कि जैन धर्मानुयायी पाण्ड्य राजा अरिकेसरी परांकुश ने भी, जो अंतिम दो पल्लव राजाओं का समकालीन था, सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बाल-संत तिष्णान-संबंधर के नेतृत्व में पल्लव राजा महेंद्रवर्मा की भाँति शैव मत ग्रहण कर लिया था। इस प्रकार इस गुफा-मंदिर में जैन परंपरा की निरंतरता देखी जा सकती है।

इस गुफा के भित्ति-चित्रों में एक जलाशय का चित्र है जिसमें मछली, पशु, पश्ची तथा पुष्प-चयन करनेवालों का सुंदर चित्रण किया गया है। यह चित्र संभवतः कमल-पुष्प-युक्त सरोवर का नहीं है बरन् सरोवर क्षेत्र का दृष्टांत-चित्रण है। यह क्षेत्र खातिका-सूमि नामक दूसरा भाग है जहाँ भव्य अर्थात् चाँत-परिणामी जन, समवसरण में भगवान का धर्मोपदेश सुनने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान जाते समय स्नान कर आनंदित होते हैं।

पुष्प-चयन करती मानवाकृतियों को सुडौल अनुपात में चित्रित किया गया है, उनकी मुखा-कृतियाँ अत्यंत आकर्षक हैं। उनके हाथों में जो खिले हुए कमल-पुष्प हैं उनका और कलियों तथा कमलतालों का चित्रण अद्भुत रूप से सजीव है। चित्र में अंकित बतखों, मछलियों तथा अन्य जल-जंतुओं तथा विशेष रूप से भैंसों का चित्रण तो चित्रकारों द्वारा इन जीव-जंतुओं एवं पशुओं के आकार, उनकी गति, जीवन और प्रवृत्तियों के गहन अध्ययन के सफल उदाहरण हैं। (रंगीन चित्र १-४)।



शिखरवासल -- मुफ़ा की छत पर विकास



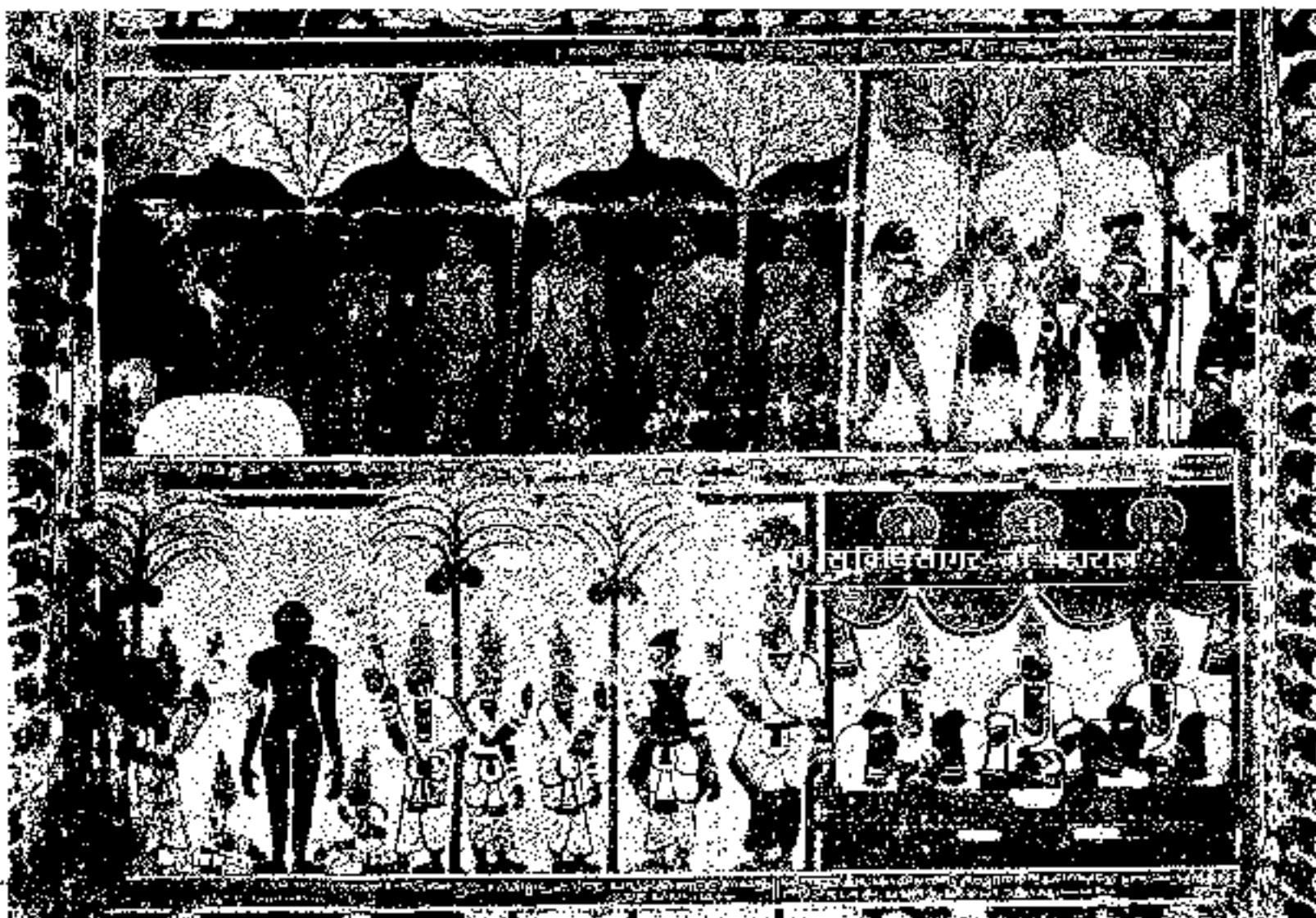
(क) वितन्दवासन — सांभ पौर सोरण पर विवरण



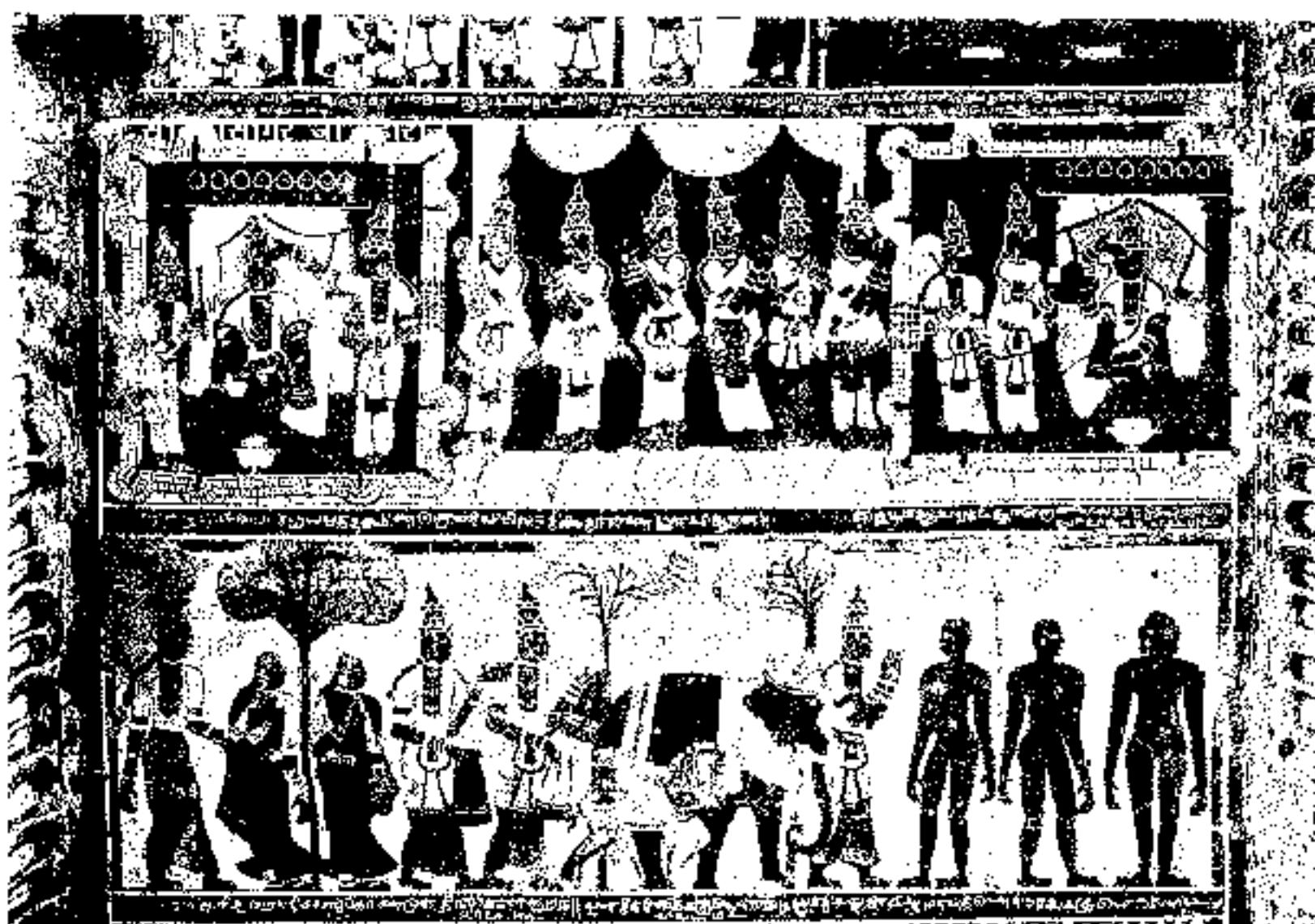
(ख) वितन्दवासन — खंभ पर विवरणित मर्मकी



लिहणहस्तिकुण्डल — महावीरमंदिर में विशाङ्कन। ऊपर की पंक्ति में अवधभत्ताथ और सौकिक  
देवता, नीचे की पंक्ति में दीक्षा के लिए उच्चत अवधभत्ताथ



तिलपस्तिकुण्डम् — महावीर-मंदिर में चित्रांकन । ऊपर की पट्टि में वृद्धमदेव का दैराय और  
कम्बल-महाकब्ज का आव्यापन; नीचे भी पट्टि में दमि और विनमि का आव्यापन



तिरप्पशतिशकुञ्जरम् — महाकीर्ण-मंदिर में विवाहिता। अपर की धन्वित में नवमि और  
विनामि का छमिले क-समारोह, नीचे की धन्वित में कायमनाथ की प्रवास चर्चा



तिर्यक स्तिवृष्टि ... महादेव मंदिर में चित्रकला के दृश्य



रेखाचित्र २५. शित्तल्लवासल : चित्रित राघ-दंष्ट्रति

अप्सरा (रंगीन चित्र ५) के चित्र में, जिसमें उसके बायें हाथ को दण्ड-मुद्रा में तथा दूसरे हाथ की अँगुलियों को पताका-मुद्रा में दर्शाया गया है, चेहरा जरा-सा तिरछा और अँखें उसी ओर को मुही हुई हैं, जो नटराज की सामान्य भुजंग-आसितक (सर्प से भीत)-मुद्रा की भाँति प्रभावशाली है। हाथों की इस प्रकार की मुद्राओं का पुनरंकन प्रारंभिक चौलकालीन तिरुवरंगलम की घानु-निर्मित नृत्यरत शिव की चतुर्मुद्रा बाली प्रतिमा में भी किया गया है जिससे वह अत्यंत सुंदर बन पड़ी है। इसकी तुलना बायबुदूर<sup>1</sup> से प्राप्त नर्तक की ऐसी ही आकृति से अवश्य की जानी चाहिए। इसमें हस्त-मुद्राओं का संयोजन ठीक वैसा ही है जैसा कि शित्तल्लवासल के भित्ति-चित्रों में किया गया है। नर्तक के दण्ड और पताका-मुद्रा में अंकित हाथों का संयोजन अत्यंत कमनीय और सुखद है।

एक स्तंभ पर का अन्य चित्र (चित्र २६० क), जिसमें बायें हाथ को हृषी-ल्लास में फैले हुए-भत्तली-मुद्रा में, दायें हाथ को पताका-मुद्रा में तथा सभूची देह-यष्टि को कमनीयता के साथ भूमती हुई दर्शाया गया है (चित्र २६० क; रेखाचित्र २४) बाल-कृष्ण अथवा बाल-सुब्रह्मण्य के आल्हादक नृत्य-मुद्रा के चित्र की याद दिलाता है। कमनीय देहयष्टि जो स्वयमेव अत्यंताकर्षक है, उसपर सायास केश-प्रसाधन जो पुष्पों और मोतियों से भण्डित है, तथा सादा परंतु प्रभावशाली आलंकारिक संयोजन।

1 शिवराममूर्ति (कल्लम्बूर). ले स्तूप दु बायबुदूर. 1961. पेरिस. चित्र 12, 1.

से युक्त इस अधिकारी-प्रतिष्ठान में इस चित्र को पाण्ड्य चित्रकार की तूलिका से सूजित भव्य कृति बना दिया है।

यहाँ पर एक और उल्लेखनीय चित्र प्राप्त हुआ है जिसका आंशिक रूप ही शेष बचा है। इस चित्र में एक राजा और रानी का आकर्षक रूप-चित्रण है जो एक जैन साधु से वार्तालाप करते दर्शाये गये हैं। यह चित्र चित्रकला-विषयक-ग्रन्थ चित्र-सूत्र के अनुसार विद्व-चित्र-प्रकार का है और इस काल के चित्रकार द्वारा प्रतिकृति-चित्रण-परंपरा के उच्च विकसित तकनीकी दक्षिण्य का दोतक है। राजकुमार का आकर्षक मुकुट तथा रानी की प्रभावशाली वेशभूषा और केश-सज्जा, सब कुछ पूर्णरूपेण सुसंयोजित हैं (रेखचित्र २५) तथा उनके समक्ष चित्रित साथा अलंकरणहीन जैन साधु का चित्र समूचे दृश्य में एक ऐसा विरोधाभास-सा दर्शाता है जो प्रभावशाली है।

एलोरा (देस्तिए प्रथम भाग में अध्याय १८) की इंद्र-सभा की भित्तियाँ एवं छत की समूची सरह चित्रांकित हैं। इन चित्रों में विभिन्न दृश्य अंकित हैं जिनमें उनके छोटे से छोटे विवरण को समझता से दर्शाया गया है। नौवीं-दसवीं शताब्दी के इस भित्ति-चित्रों में जैन ग्रंथों के चित्रांकनों की अनुकृतियाँ हैं तथा इसके साथ ही पञ्च-पूष्प, पञ्च-पक्षियों पर आधारित कला-रूपों का भी अंकन है। यहाँ गोम्म-टेश्वर के चित्र इसी विषय-वस्तु के मूर्तिपरक विवानों की तुलना के लिए उपयुक्त रहेंगे जिसका एक उदाहरण इसी मुफ्त से उपलब्ध हुआ है तथा उसी प्रकार के अन्य उदाहरण अन्यत्र उपलब्ध हैं। ये उदाहरण हैं श्रवणबेलगोला की एक ही शिला से निर्मित विशाल प्रतिमा और वह प्रसिद्ध कांस्य-प्रतिमा जो इस समय ग्रिस ऑफ वेल्स संग्रहालय में है। ये प्रतिमाएँ अव्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण सामग्री प्रदान करती हैं। इस प्रतिमा में साधु बनने के उपरांत गोम्मटेश्वर की गहन ध्यान की अवस्था में खड़े हुए दर्शाया गया है। उनके पैरों पर चौटियों की बाँधियाँ बन गयी हैं तथा लताओं ने द्रुतगति से फैलकर उनके शरीर को चारों ओर से घेर लिया है। उनके पाश्व में दोनों ओर उनकी बहनें खड़ी हैं। इस विषय को चित्रित करने वाली समस्त प्रतिमाओं में यह प्रतिमा अति उत्तम रूप से अंकित है। इसी प्रकार यहाँ की छत के एक भाग पर दिक्षाल-समूह अंकित है, जिसमें यम और पनी पत्नी यमी सहित भैसे पर आसीन है और उनके पीछे उनके अनुयायी सेवकगण हैं। दिक्षाल के गणों का अंकन इसी पद्धति पर है। ये समूह हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। इस चित्रों की तुलना हेमवती-स्थित मंदिर की छत पर नौलंब कलाकारों द्वारा अंकित इसी प्रकार के चित्र से की जा सकती है। हेमवती के ये चित्र इस समय भद्रास संग्रहालय में हैं। बादलों का चित्रांकन, भानवाकृतियों में बड़ी-बड़ी आँखों का अंकन, तथा शैलीकरण का आरंभ, जो अभी तक स्पष्ट नहीं हो पायी थी, विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन चित्रों में बादलों के भध्य आकाश में उड़ते हुए आलिंगन-बद्ध दिव्याधर-दंपति, उनकी श्रीका तथा अन्य अंगों की कमनीय चित्रियाँ, अर्पण हेतु पुष्प-पुट में रखे फूल, उनकी पुष्प-धारणी अंजलि (रंगीन चित्र ६-१०), बंदना के लिए हाथों को ऊपर उठाकर तथा साथ-साथ नीचे लाते हुए बौने गणों, जिनमें से कुछ गण शंख बजा रहे हैं तथा कुछ गण वातावरण में आपूरित दिव्य संगीत के साथ तालबद्ध रूप में तालियाँ

बजा रहे हैं (रंगीन चित्र ११), आदि-आदि। ये सब ऐसी उल्लेखनीय उत्कृष्ट कृतियाँ हैं जो नोलंब चित्रकारों की तूलिकार से निःसृत हुई हैं। दक्षिणापथ के एक महान् राजवंश राष्ट्रकूट के प्रभुत्व-काल में रचे गये भित्ति-चित्रों में संभवतः ये ही चित्र सुरक्षित रखे रहे हैं। इस काल की कला ने समूचे भारत—उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम—की सभकालीन शासन-काल की कलाओं पर प्रभाव डाला।

चौल, जो नौवीं शताब्दी में एक बार पुनः विजयालय के अंतर्गत राजसत्ता में आये थे, उदार शासक थे। उन्होंने धर्म शैवमत के प्रति विशेष अनुरक्षित के साथ-साथ सभी धर्मों को समान भाव से प्रश्न्य दिया। राजराज, जिसने तंजावुर में अपने नाम पर राजराजेश्वर नामक भव्य शिव-मंदिर का निर्माण कराया, कला के प्रति इतनी गहरी अभिरुचि रखता था कि उसे 'नित्य-विनोद' अर्थात् 'सदैव कला में आनंद लेने वाले' के उपनाम से जाना जाता था। जैन धर्म को दिये गये उसके उदार दानों से ज्ञात होता है कि वह जैन धर्म का एक महान् प्रश्न्यदाता था। उसकी बहन कुंदवद्ध ने भी तिरुमलै तथा अन्य स्थानों पर जैन मंदिरों का निर्माण कराया तथा दान दिये। जैन स्मारकों में जो चौल-कालीन चित्र हैं वे नर्तमलै के बाद के हैं। तिरुमलै के चित्र और भूतियाँ, स्मिथ<sup>1</sup> के घनुसार, एक साथ खराब नहीं हुए। तिरुमलै के चित्र विजयनगर और चौल-शैली के सम्मिलन से निर्मित हैं, जो चौल-कालीन कला के अंतिम चरण की कला है। लक्ष्मीश्वर-मण्डप [के निचले तल पर बाह्य कक्ष में इट निर्मित भित्तियों पर चित्रित कल्पवासी देवों का समूह प्रारंभिक चित्रित सतह के चित्र हैं। वे चित्र प्राथः उत्तरवर्ती शैली में अंकित हैं जिनमें उनकी आकृतियाँ मोहक हैं। आकृतियाँ रत्नाभूषणों से अलंकृत एवं उनकी आँखें विस्तृत रूप से अंकित हैं। भित्ति-चित्रों की दूसरी सतह लगभग विजय-नगर-शैली में चित्रित है।

लगभग इस काल में पश्चिम मैसूर में होयसल-वंशीय शासक राजसत्ता में आये। इस वंश के शासकों में विष्णुवर्धन (सन् ११०६-४१) एक महान् शासक था जो मूलरूप में वित्तिदेव या वित्तिग के नाम से जाना जाता था। इसे रामानुज द्वारा जैन धर्म से परिवर्तित कर वैष्णव धर्म में दीक्षित किया गया था। इसने बेलुर और हलेबिड में कुछ ऐसे अत्यंत सुंदर मंदिरों का निर्माण कराया जिन्होंने होयसल-कला को प्रसिद्धि प्रदान की है। यह शासक एक निष्ठावान् वैष्णव मतावलंबी था और इसकी रानी जैन धर्मनियायी थी लेकिन यह उन इक्ष्वाकु शासकों की भाँति उदार-हृदय व्यक्ति था जो स्वयं तो ब्राह्मण धर्मनियायी थे लेकिन परिवार की राजकुमारियाँ बौद्ध धर्मनियायी थीं। विष्णुवर्धन के गंगराज और हुलिल दण्डनायक जैसे मंत्री एवं सेनानायक भी जैन धर्मनियायी थे। यद्यपि होयसल शासकों के समूचे साम्राज्य क्षेत्र में उपलब्ध होयसल-कला की प्रतिमापरक अमूल्य निष्ठि स्थापत्य और शिल्पकला की उत्कृष्टतम् कलाकृतियों के माध्यम से प्रकट है तथापि, अभी तक भित्ति-चित्र-कला का कोई भी साक्ष्य उपलब्ध नहीं हो सका है। लेकिन, सौभाग्यवश होयसल-काल

1 स्मिथ (वी ए). हिन्दू ग्रोल आइल आर्ट्स इन इण्डिया एवं सीलोन, द्वितीय संस्करण, तथा कॉल्ड्रिंगन द्वारा संशोधित, १९३०, अ०५८५५०८, पृ १४०.

की चित्रकला के उदाहरण मूढ़बिद्री के मंदिर के पाण्डुलिपि-भण्डारों में सुरक्षित हैं। ये चित्र इस भट्टारक-पीठ की ताढ़पत्रीय पाण्डुलिपियों के चित्रों के रूप में तथा उपासना-उपादानों के रूप में हैं। पाण्डुलिपियों में षट्खण्डागम की वीरसेन-कृत टीकाएँ हैं जो धबला, जयधबला, महाधबला या महाबंध के नाम से जाने जाते हैं। दिवंबर-परंपरा के अनुसार धबला, जयधबला, और महाधबला में जैनों के मूल बारह अंगों का वह भाग सुरक्षित है जो सुप्त होने से बच सका है। षट्खण्डागम की टीका धबला के आरंभ में उसकी रचना के विषय में एक कथानक दिया गया है। महावीर के उपदेशों को उनके गणधर इंद्रभूति गौतम ने बारह अंगों में व्यवस्थित किया। ये अंग मौखिक परंपरा के रूप में श्रगली पीढ़ियों में प्रचलित रहे लेकिन ये इस सीमा तक उपेक्षित रहे कि उन्हें पुनरुज्जीवित करने की आवश्यकता पड़ी। गुणधर (ईस्त-पूर्व प्रथम शताब्दी) तथा धरसेन (प्रथम शताब्दी) नामक दो आचार्यों ने महावीर के उपदेशों को, जो उस समय जितने भी और जिस रूप में भी बच रहे थे, संग्रहीत कर क्रमशः कथायपाहुड तथा षट्खण्डागम नामक अपने जैन-कर्म-दर्शन के ग्रंथों में लिपिबद्ध कर व्यवस्थित किया। इस शृंखला में अंतिम ग्रंथ धबला है जो कि षट्खण्डागम की टीका है। इस टीका के लेखक धरसेन ने कथाय-पाहुड नामक ग्रंथ का भी भाष्य लिखा था जो जयधबला के नाम से जाना जाता है। धबला का रचना-काल शक-संवत् ८१६ (सन् ८६४) है जो राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ण-प्रथम के राज्यकाल का समय था। इस लेख के लेखक का ध्यान इसकी सचित्र पाण्डुलिपियों की ओर कुछ वर्ष पहले भान्य मित्र श्री छोटेलाल जैन ने उस समय आकृष्ट किया था जबकि जनवरी १९६४ में राष्ट्रीय संग्रहालय में आयोजित सचित्र पाण्डुलिपियों की प्रदर्शनी के लिए उनके संग्रह से प्रदर्शनी हेतु पाण्डुलिपियाँ प्राप्त की गयी थीं।

सौभाग्य से, इन पाण्डुलिपियों की मूढ़बिद्री स्थित प्राचीन ग्रंथ-भण्डारों में भली-भाँति सुरक्षा की गयी है। ये पाण्डुलिपियाँ पुरालिपि के आधार पर स्पष्टतः होयसलकालीन हैं जो स्थितिक तथा विष्णु-वर्द्धन-कालीन ताम्रपट-अभिलेख से घनिष्ठ रूप से मिलती-जुलती हैं। इनके चित्र चमकदार रंगों में अंकित हैं जो हमें होयसल-काल के चित्रकारों की कला-दक्षता का परिचय देते हैं। इन पाण्डुलिपियों के हस्तलेख का बेलुर-मंदिर से प्राप्त बातुपत्रों पर पुष्पाकार रेखांकनों सहित लेख से अत्यंत निकट का साम्य है। ये चित्र विष्णुवर्द्धन और उसकी जैन धर्मानुयायी पत्नी शांतला के समकालीन होने चाहिए।

ये चित्र जो असामान्य रूप से बड़े ताढ़पत्र पर अंकित हैं, मूलपाठ के हस्तलेख की सुंदरता तथा मूलपाठ को चित्रांकित करनेवाले उसके साथ के चित्रों, इन दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। इसके दो पत्रों पर अंकित चित्र सबसे प्रारंभिक काल के हैं जिनके अक्षर कुछ भोटे हैं, इनका विन्यास अन्यों की अपेक्षा कुछ अधिक कोमल है। रंग का प्रभाव कुछ ऐसा कोमल है कि वह अन्य रंगों के रंग-विरोधाभास के प्रभाव को कम कर देता है तथा उनपर आकृति-रेखाएँ एक सुखद अनुपात में खींची गयी हैं। धबला की यह पाण्डुलिपि सन् १११३ की है। इसपर मुपाद्वंशाय की यक्षी काली अंकित है लेकिन वह अपने नाम के विपरीत और वर्ण की अंकित की गयी है। उसका धाहन वृषभ भी



कृ.— आचार्य श्री सुविद्यासागर जी अहाराज

1. विद्यानवाचल — काशन-तरोकर में नुगन-संचय



2. शिस्तमहायासन — सरोदर में अमल और हस्त

प्रिति चित्र

प्रधान ३० ]



3. प्रत्यक्षभास्तु — हस्तशिल्प



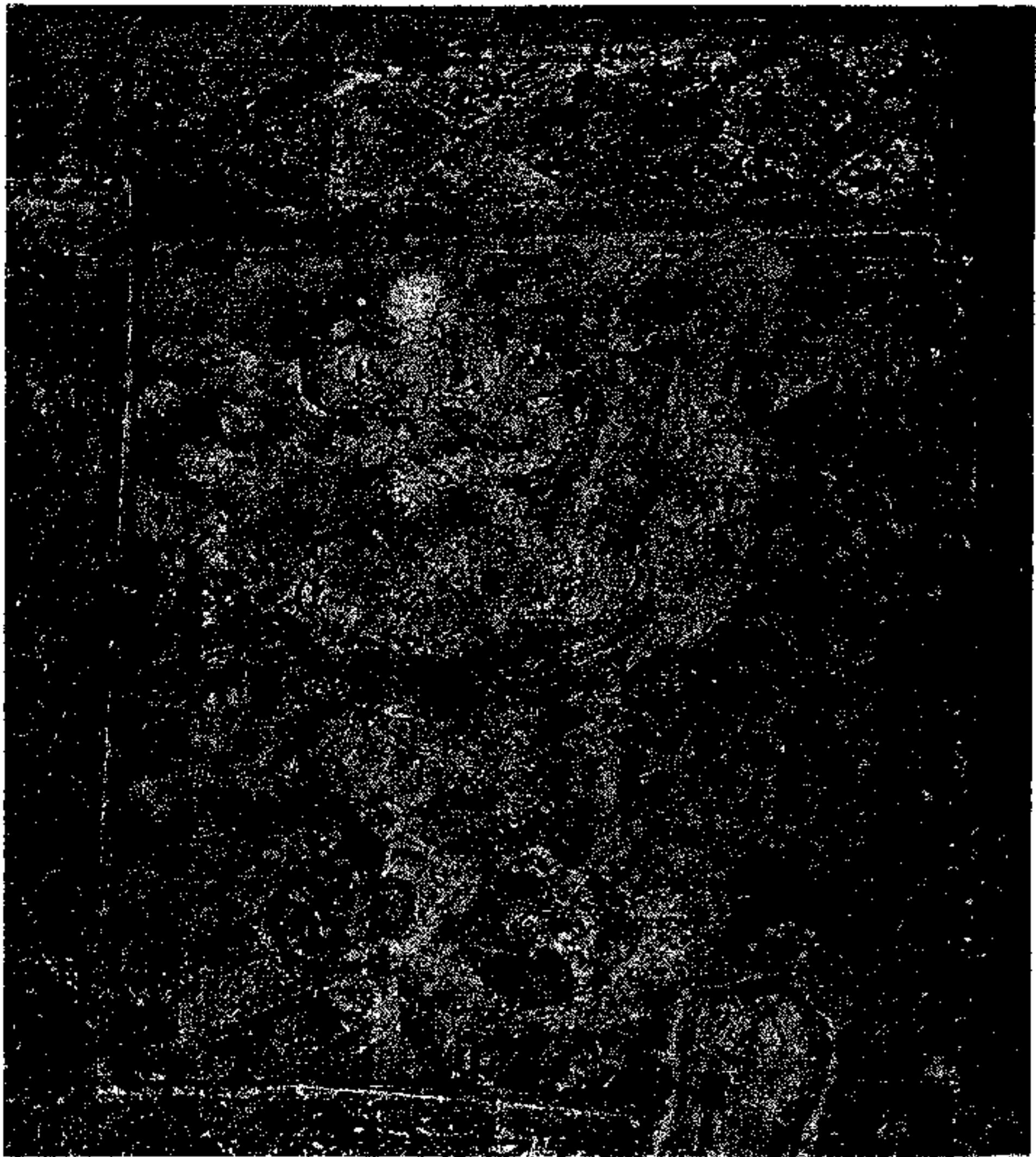
4. शिल्पवास्तव — कमल-सरोवर में सुमन-संचय



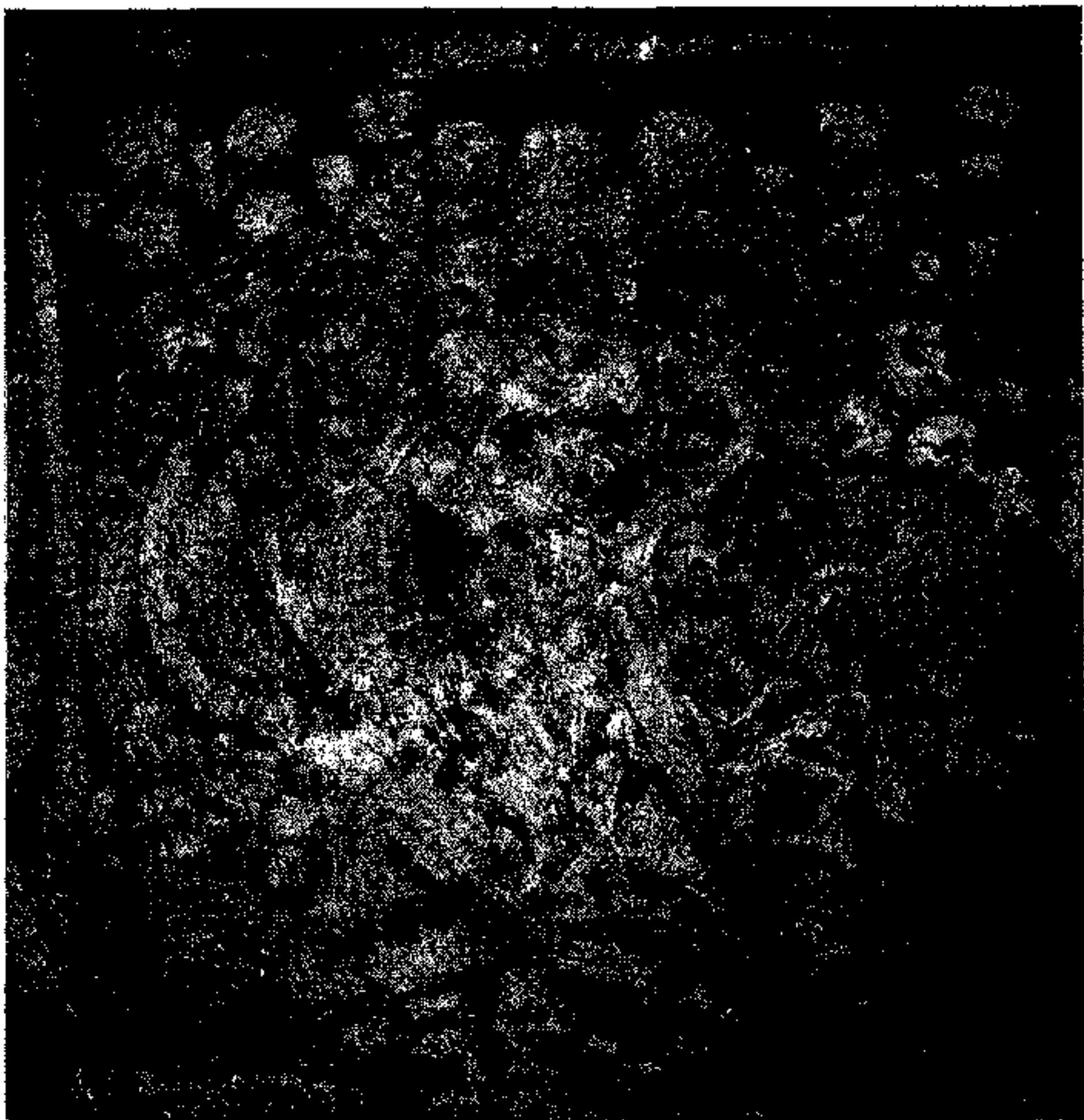
श्री हुरिहरि सगर जी महाराज



6. एलोरा — पुष्पोपहार स्थिते उड़ते देव और देवियों



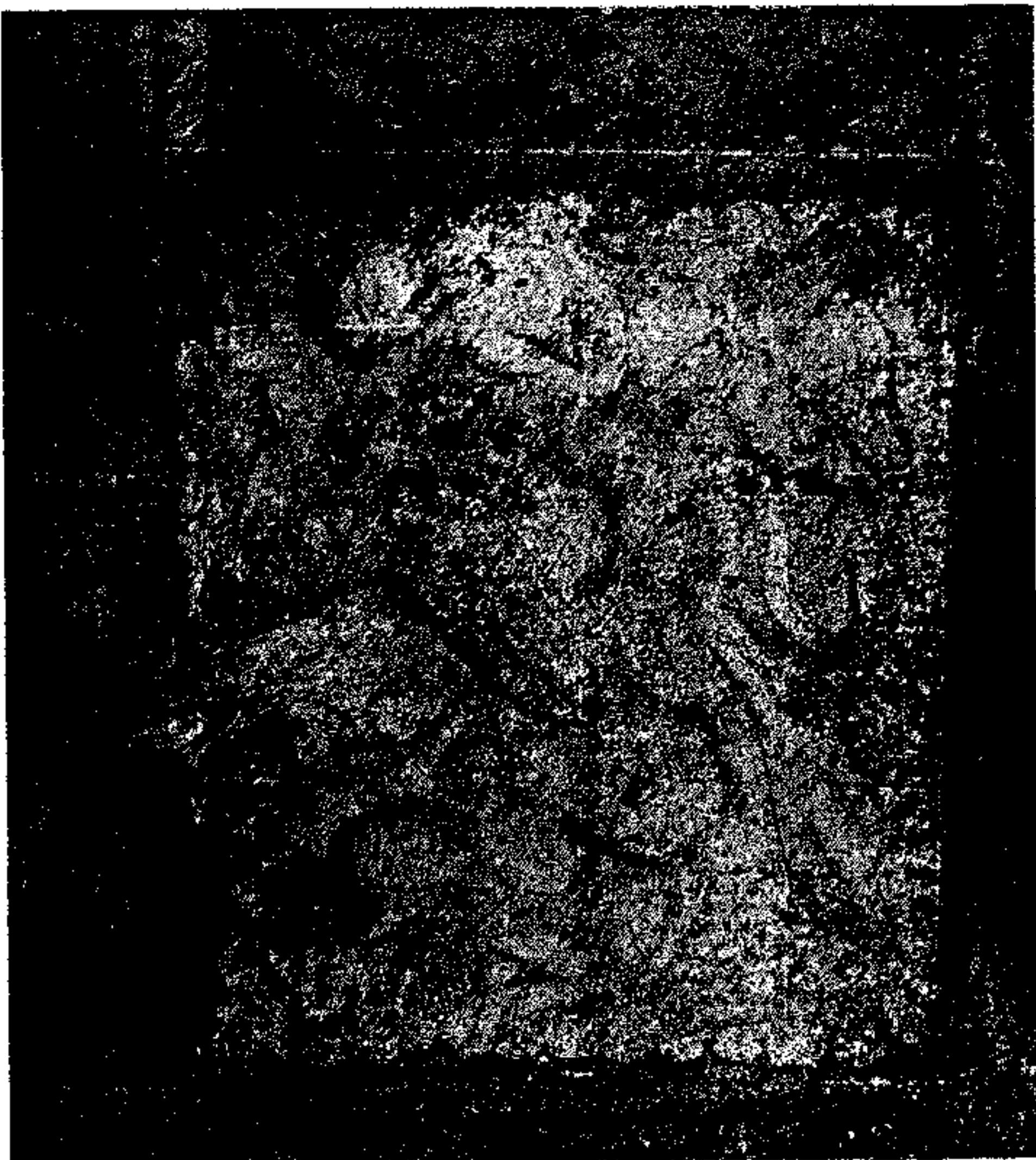
7. एलोरा ... व्योमचारी देव-देवियाँ



8. श्वेता -- अधोमधारी देव-देवियाँ



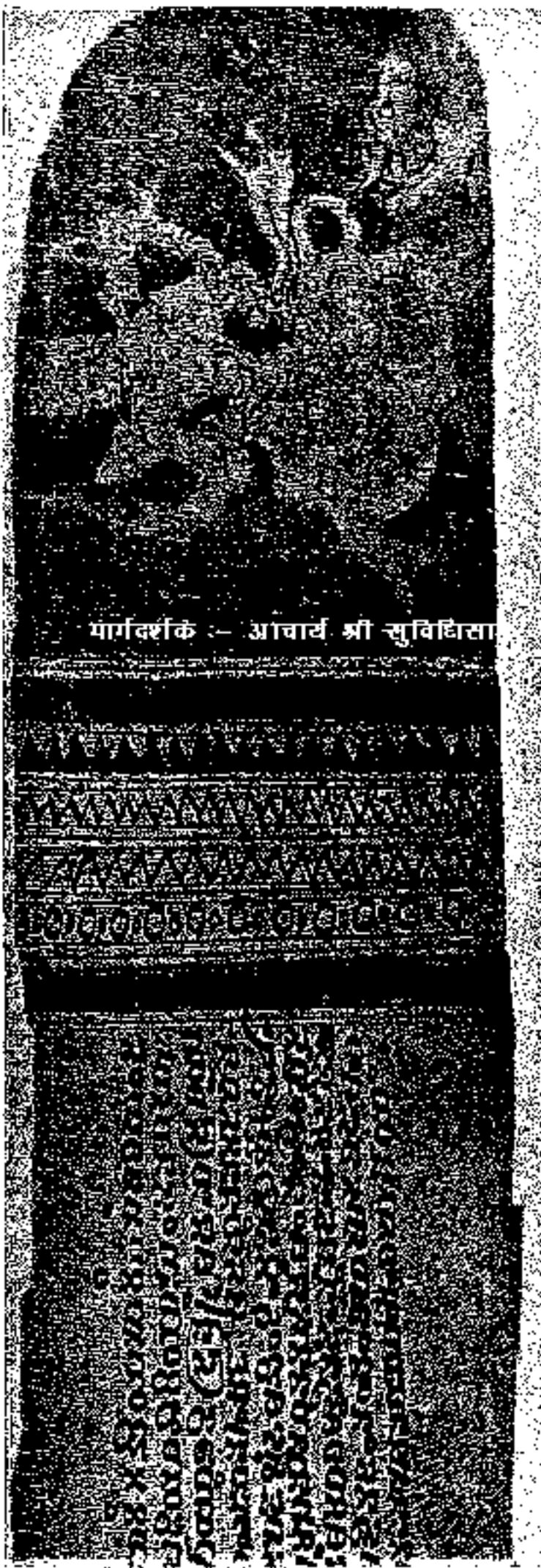
9. इलोरा — व्योमवरी देव-देवियाँ



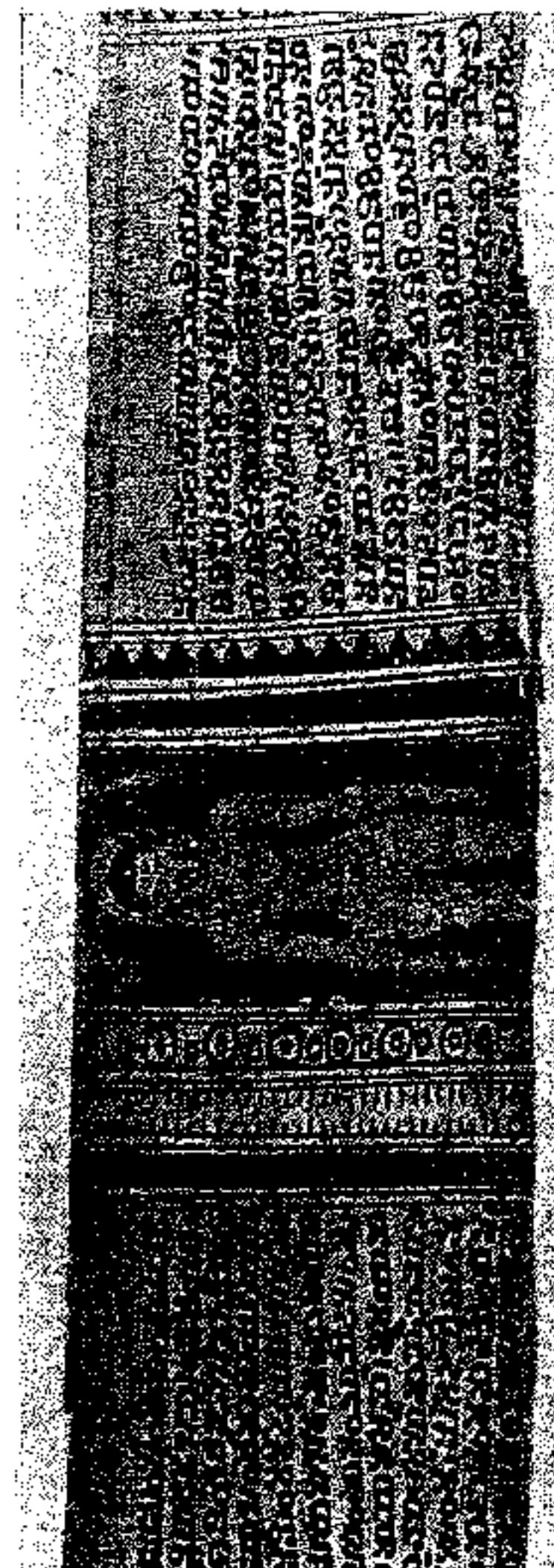
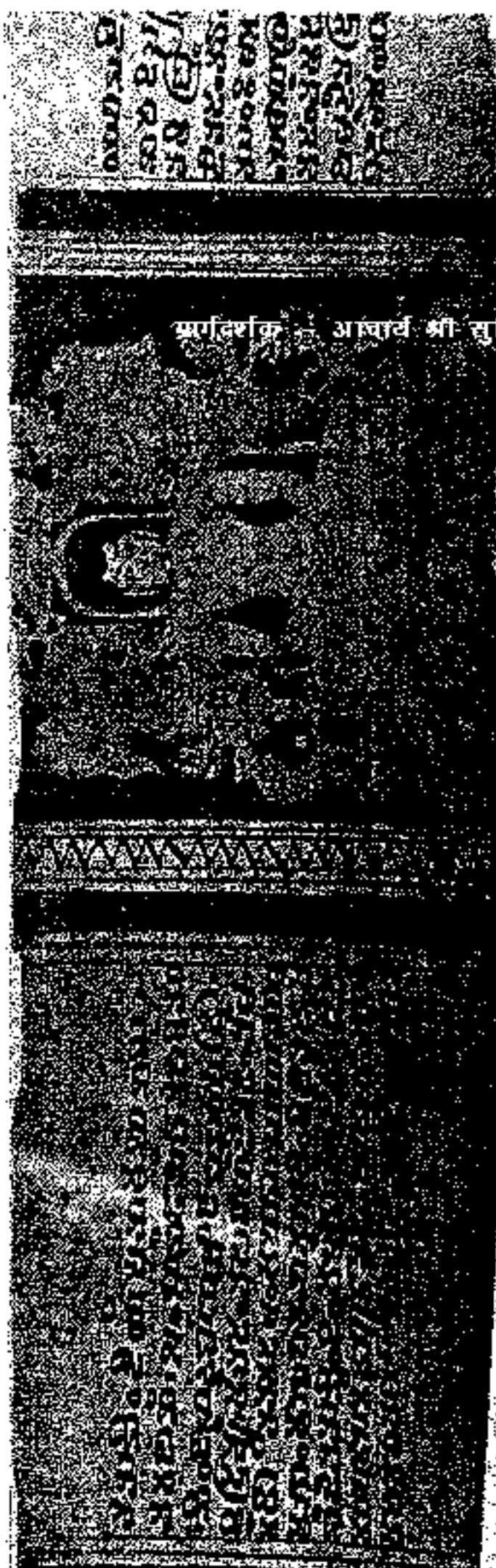
10. एलोरा — अदीगचारी देव-देवियाँ



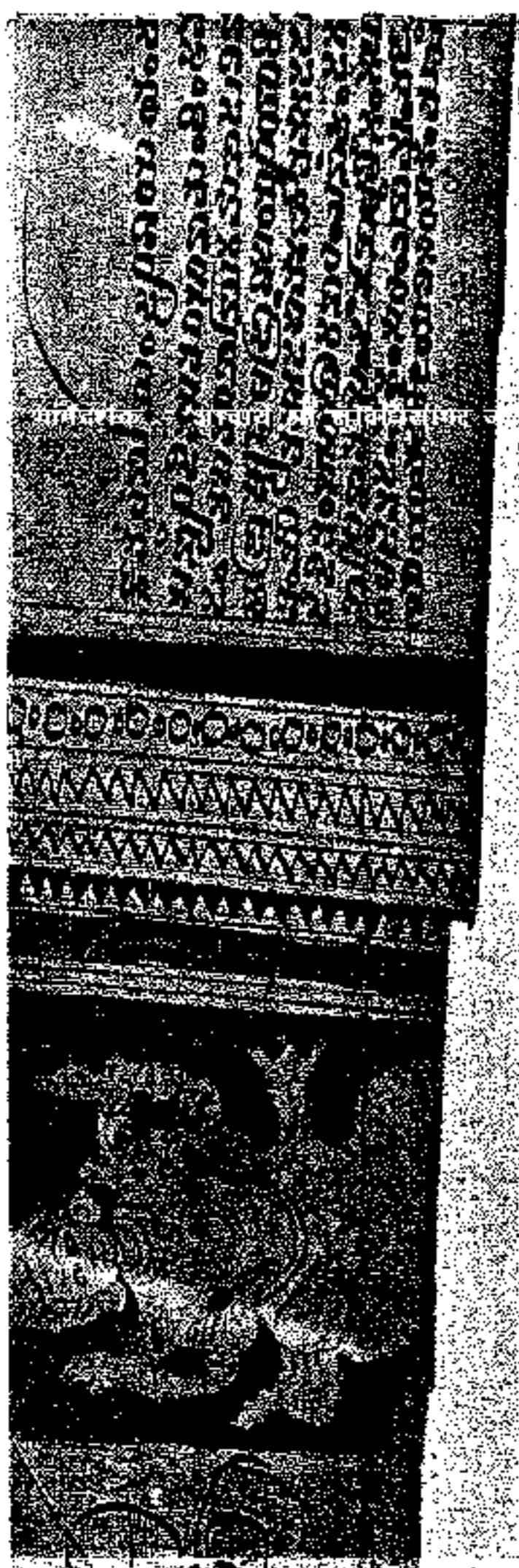
11. एसोरा — व्योमचारी देव-देविया



12-13. मुद्रिती की एक पार्गदर्शकिः जपने वाहन कर हाथो; चक्तराश



14-15. मूडविदी की एक प्राचीनि —प्रद्भासन तथा लहड़सरसन तथा मूडविदीर



16-17. सुडचिंडी की पाण्डुलिपि — यम चतिर और अक्षतमण

भित्ति-चित्र

पृष्ठाय 30 ]



18-19. मुख्चिह्नो को एक दाखड़िलिपि — शरणेश्वर और पद्ममध्यनी सहित तीर्थकर पात्रकाण्ड; अतदेवी



प्राचीन लिपि



प्राचीन लिपि

20\*21. मुहरिद्वी की पाल्लालिपि — वाहुवली और उसके बहनें; उसा भूतदेवी

यहाँ दर्शाया गया है। उसकी देह-यष्टि की कमनीयता तथा आकृति को अंकित करने वाली लहरदार रेखाएँ उत्तेजनीय हैं। इसी प्रकार, उसके एक और अंकित इसके भक्तों को, जो संभवतः शाहों परिवार के सदस्य, राजा, रानी तथा राजकुमारी आदि हैं, अत्यंत कोमलता के साथ अंकित किया गया है। ये ताडपत्र के छोर की ओर अंकित हैं (रंगीन चित्र १२ और १३)। इन दोनों ताडपत्रों के चित्रों की कोंडवर्ती मुख्य आकृति कायोत्सर्ग तथा पद्मासनस्थ तोथंकर महाबीर की है। यद्यपि तीर्थकर की निवासन-आकृति जैसा विषय अत्यंत सादा है लेकिन इसका अंकन बहुत कठिन है। फिर भी, इन दोनों चित्रों में चित्रकार ने उन्हें अत्यंत कलात्मक ढंग से चित्रित किया है। इन दोनों चित्रों की आकृतियाँ सौंदर्यत्मक दृष्टि से अत्यंत मनोहारी हैं। (रंगीन चित्र १४ और १५) तीर्थकर का आसन विशद एवं अलंकृत है, जो पीछे की ओर मकर के अलंकरण से अलंकृत है, तथा उसके पीछे सिंह है जो पाश्व में खड़ी चौरीधारिणी की भटोरम आकृतियों के अनुरूप है। इस चित्र को देखने पर अविलंब प्रारंभिक चौलकालीन उस श्रेष्ठ कलाकृति का स्मरण हो जाता है जिसमें नागपट्टिणम् बुद्ध को उनके पाश्व में नागराज चौरीधारियों के सहित दर्शाया गया है। इस ताडपत्र के एक दूसरे किनारे पर पुष्पदंत के यक्ष अंकित तथा बैठे हुए भक्तों के एक जोड़े को अंकित किया गया है (रंगीन चित्र १६ और १७)। यह चित्र यहाँ पर प्रायः एक ही रंग में है लेकिन उसे इस कुशलता से अंकित किया गया है कि एक रंग के होते हुए भी चित्र की समूची विशेषताएँ उभरकर सामने आ गयी हैं।

अन्य ताडपत्रों में, प्रत्येक के एक किनारे पर पाश्वनाथ अंकित हैं। उनके सिर पर नागफण का छत्र है और वे सिंहों के आसन पर बैठे हैं, उनके पाश्व में चौरीधारी सेवक हैं तथा उनके एक ओर घर-पेंड यक्ष एवं दूसरी ओर पद्मावती यक्षी अंकित हैं। एक ताडपत्र में एक सिरे पर श्रुतदेवी अंकित हैं, जिसके दोनों ओर चौरीधारिणी सेविकाएँ हैं, जिनकी आकृतियाँ कमनीय और सहज हैं। आकृतियों की वक्रता (भुकाव), केश-सज्जा, घूमी हुई मुखाकृति, ग्रीवा का मोड़ तथा पालयी की मुद्रा में पैर आदि सभी अत्यंत कमनीयता के साथ अंकित किये गये हैं (रंगीन चित्र १८ और १९)। इसी प्रकार लगभग ऐसा ही आकर्षक चित्र एक अत्यंत ताडपत्र के किनारे की ओर अंकित है। इसी शैली में बाहुबली संबंधी दृश्य अंकित किये गये हैं जिनमें साधनावस्था में खड़े उनके पैरों पर लिपटी लताएँ दिखायी गयी हैं। (रंगीन चित्र २० और २१)। चित्र में उनकी बहनों को उनके पाश्व में खड़े दर्शाया गया है। यह अंकन एलोरा के उस फलक के अंकन से विलकूल मिलता है जिसमें इसी विषय को अंकित किया गया है। इस चित्र में बाहुबली के महत्वपूर्ण विषय का बैसा ही प्रभावपूर्ण प्रस्तुतीकरण है जैसा कि श्रवणबेलगोला स्थित बाहुबली की विशाल पाषाण-प्रतिमा में तथा बंधू के प्रिय आँफ बेल्स संग्रहालय में उपलब्ध एक धातु-प्रतिमा में हुआ है।

यक्षी अंबिका का भी, जो जैन कला में अत्यंत लोकप्रिय रही है, एक चित्र यहाँ पर प्राप्त है। अंबिका यक्षी एक आम के वृक्ष के नीचे दो शिशुओं को लिये हुए अपने बाहन सिंह सहित अंकित हैं। बड़ा शिशु सिंह पर चढ़कर खेल रहा है जबकि छोटे शिशु को अंबिका के अति निकट दिखाया गया है। भक्तों, उपासकों द्वारा पाश्वनाथ और सुपाश्वनाथ की पूजा-अचंता की विषय-वस्तु

को अत्यंत साधारण रूप में अंकित किया गया है क्योंकि इस विषय-वस्तु को स्वयं में अधिक साज-सज्जा-अलंकरण की आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत, कुछ ऐसी विषय-वस्तुएँ भी हैं जो अत्यंत भोहक हैं, जैसे भातंग यक्ष की विषय-वस्तु। भातंग यक्ष को अपने बाहन हाथी सहित दिखाया गया है। हाथी अपने पूर्ण बैभव के साथ बैठा हुआ है, जिसका सिर गौरव से ऊपर उठा है। समृद्धा चित्र दो वृक्षों के मध्य में कलात्मक ढंग से संयोजित है। यह संयोजन परपरागत पद्धति के अनुकरण के कारण उल्लेखनीय है। यक्षी श्रुतदेवी का अपने बाहन भयूर सहित तथा महामानसी यक्षी का अपने बाहन हंस सहित और अजित यक्ष का अपने बाहन कच्छप सहित अंकन होयसल-चित्रकारों की तूलिका का उल्लासकारी कलात्मक सृजन है। पक्षियों की लहरदार पूँछों तथा आकृति-सूचक रेखाओं का अंकन चित्रकारों की महान् कलात्मक अभिष्ठि तथा सृजनशील प्रतिभा का परिचय देता है।

इन पाण्डुलिपियों की बाह्य रेखाओं तक को भी अत्यंत आकर्षणपूर्ण ढंग से चित्रित किया गया है। यद्यपि इन अनेक ताङ्गपत्रों पर पञ्च-पुष्पों की अनेकानेक परिकल्पनाएँ चित्रित की गयी हैं लेकिन इनमें कहीं भी कोई पुराणाभूमि नहीं है। अधिकल्पनाओं के उच्चतम स्तर की दृष्टि से ये ताङ्गपत्र विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करते हैं।

दक्षिण-वर्ती दक्षिणापथ में सन् १३३५ ई० में हरिहर ने विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की, जो इस भू-भाग के दक्षिण भाग में एक प्रभुता-संपन्न शक्ति के रूप में उभरा। इस राजवंश के भी उत्तराधिकारियों ने जैन धर्म के साथ अन्य धर्मों का भी अत्यंत निष्ठा के साथ पल्लवन किया। यहाँ से उपलब्ध एक अभिलेख में यह तथ्य विशेष है कि अच्युतराय ने किस प्रकार परस्परविरोधी तथा झगड़नेवाले जैन और दैष्ण्य धर्म के धर्म-प्रमुखों को एक साथ राजन्दरबार में बुलाया तथा अत्यंत सुम्मानप्रद समझौता कराकर दोनों धर्मों में परस्पर सद्भाव, आदर-भाव और मैत्री स्थापित करायी। इस वंश के तेरहवीं शताब्दी से प्रारंभ होनेवाले साम्राज्य के चार सौ वर्ष लंबे शासनकाल में स्थापत्यीय निर्माण तथा मंदिरों को चित्र एवं मूर्तियों से सजाने की गतिविधियाँ अपने चरम रूप में कियाजील रहीं। इस शासनकाल में मंदिरों, भवनों तथा संग्रांत नामरिकों के गृहों में अंकित विविध-रंगी भित्ति-चित्र कितने आकर्षक और भारतीयों के लिए ही नहीं अपितु विदेशी यात्रियों के लिए भी कितने प्रभावपूर्ण थे। इसका पता विदेशी यात्रियों द्वारा किये गये उल्लेखों से प्राप्त होता है, जिनमें प्रसिद्ध पुर्तगाली यात्री पाएस का यात्रा-विवरण उल्लेखनीय है, जिसने विजयनगर राज्य की राजधानी की यात्रा की थी। उसने अपने यात्रा-वृत्तांत में भित्ति-चित्रों की कला की भूरि-भूरि सराहना की है। इसमें अतिशयोक्ति नहीं, जैसा कि सुविदित है, सम्राट् कृष्णदेवराय स्वयं एक कवि तथा कला-प्रेमी, कला और साहित्य का महान् रक्षक था। संभावना से भी अधिक गोपुरों के निर्माण कराने का श्रेय उसे दिया जाता है। यह श्रेय उसे ठीक उसी प्रकार प्राप्त है जिस प्रकार किंवदंतियों के अनुसार सञ्चाट अशोक को द४ हजार सूपों के निर्माण कराने का श्रेय प्राप्त है।

विशाल विजयनगर साम्राज्य में सर्वप्र पाये जानेवाले भव्य गोपुरों एवं भण्डपों की छतों तथा मंदिरों की भित्तियों पर विजयनगर-कला-शैली में अंकित असंख्य भित्ति-चित्रों में जैन विषय-वस्तु के

अंकन की दृष्टि से कांचीपुरम् के तिरुपतिकुण्ठम्-स्थित वर्धमान-मंदिर के संगीत-मण्डप में जैन चित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कुछ चित्र प्रारंभिक कालीन हैं जबकि अधिकांशतः चित्र बहुत परवर्ती काल के हैं। प्रारंभिक, जो आधिक रूप में बच रहे हैं, मात्र विषय-वस्तु के अंकन की दृष्टि से ही नहीं अपितु इस काल की कला के अध्ययन में जो उसे विशेष स्थान प्राप्त है उसकी दृष्टि से भी अत्यंत उल्लेखनीय हैं। यह मण्डप बुक्कराय-द्वितीय के जैन धर्मनियायी मंथो इशण्ण ने बनवाया था, अतः इसके चित्र इस काल के चौदहवीं शताब्दी के अंतिम काल के चित्रकार की कला-कुशलता को प्रदर्शित करते हैं। इसके चित्रों की विषय-वस्तु वर्धमान के जीवन से संबद्ध है। इन चित्रों में एक चित्र तीर्थकर वर्धमान के जन्म से संबंधित है जिसमें प्रियकारिणी उन्हें जन्म देती दर्शायी गयी है। दक्षिण भारतीय चित्रों तथा केरल की शिल्पकला, इन दोनों में, शिशु को जन्म देने की विषय-वस्तु विशेष रूप से लोकप्रिय रही है। केरल के मूर्ति-शिल्पों में रामायण ने इस विषय-वस्तु को चित्रित करने का बहुत अवसर प्रदान किया है। अतः इस विषय-वस्तु के चित्रों के तुलनात्मक अध्ययन की विशेष रूप से आवश्यकता है। सौधमेंद्र की अपनी पत्नी शाची सहित शिशु-जन्म तथा उसके अभियेक-संस्कार-उत्सव मनाने का दृश्य आकर्षक रूप से अंकित किया गया है जो आकार, रंग-डंग, तौर-तरीके, स्वभाव तथा इस काल के वस्त्राभूषण और अलंकरणों आदि प्रत्येक दृष्टि से विशिष्ट रूप लिये हुए हैं। इसी प्रकार का एक अन्य रोचक चित्र है जिसमें सौधमेंद्र को तीर्थकर वर्धमान के समक्ष नृत्य करते हुए दर्शाया गया है। इस चित्र में नृत्यरत-मुद्रा में सौधमेंद्र के पैर पाद-स्वस्तिक मुद्रा में हैं।

तेलीकोटा के युद्धोपरांत विजयनगर साम्राज्य के शीण होने के बाद भी कला को परवर्ती अधिकारकारी संग्रामों तथा इस समय के अत्यंत प्रभावशाली नायक शासकों का संरक्षण निरंतर मिलता रहा। तिरुपतिकुण्ठम् स्थित उत्तरकालीन सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के चित्र नायकवंशीय शासकों के राज्यकाल से संबंधित हैं। कृष्णभद्रेव, वर्धमान, तीर्थकर नेमिनाथ तथा उनके भतीजे कृष्ण के जीवन-चरित्र संबंधी सभी चित्र लंबी चित्रमालाओं में सविस्तार अंकित किये गये हैं और इनपर तमिल भाषा में लिखे शीर्षक अंकित हैं जो प्रत्येक दृश्य की स्पष्टतः व्याख्या करते हैं; जैसे कि चिदंबरम्, तिरुवल्लूर आदि। अनेक स्थलों पर चित्रों के साथ शीर्षक पाये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि विजयनगर-कालीन कला में शीर्षकों के अंकन की एक सामान्य परिपाठी प्रचलित रही है। यहीं तक कि मंदिरों में लटकाये जानेवाले चित्रों में शीर्षकों का अंकन चित्र की विषय-वस्तु की व्याख्या की एक नियमित परिपाठी बन गयी थी। ये शीर्षक केन्त्रानुसार तमिल या तेलुगु भाषा में लिखे जाते थे। तिरुपतिकुण्ठम् में ये शीर्षक तमिल भाषा में हैं और पत्रों पर सेख भी तमिल ग्रंथजिपि में हैं।

कृष्णभद्रेव के जीवन की गाथाओं के चित्रांकन में दर्शाया गया है कि किस प्रकार लोकांतिक देवों ने कृष्णभद्रेव को धार दिलाया कि यहीं समय है कि वे संसार को त्याग कर दीक्षा धारण करें (चित्र २६१), तथा किस प्रकार कच्छ एवं महाकच्छ तथा उनके अन्य उपासकों ने संसार को त्यागने का प्रयास किया, परंतु वे कड़ाके की सर्वी एवं भूस्त को लह नहीं सके इसलिए उन्होंने कपड़े पहन लिये और खाने-पीने लगे; किस प्रकार नमि और विनमि ने गंभीर व्याजावस्थित कृष्णभद्रेव से यह तर्कान्वितकं किया था कि वे अपने राज्य का भाग उन्हें दे दें (चित्र २६२);



बर्थोद्र ने अद्यमदेव स्त्री प्रथम स्तरी के रूप में उन्हें विद्याधर जगत का आविष्ट्य अपित किया । ये सभी जीवन-चरित्र संबंधी गाथाएँ अत्यंत विस्तार के साथ अंकित की गयी हैं (चित्र २६३) ।

तीर्षकर नेमिनाथ के भतीजे कृष्ण की जीवन-गाथा में दर्शाया गया है कि बलदेव ने नवजात शिशु को ग्रहण कर, यमुना नदी को पार किया, तथा उस शिशु को नंदगोप करे दिया । कृष्ण की बाल-लीलाओं (चित्र २६४) में उनके हारा शकट, घेनुक आदि अनेक असुरों का संहार, यमला-दृक्ष का समूल उच्छेद, उखल-बंधन आदि-आदि घटनाओं एवं गायों, खालों और गोपियों के समूहों का अंकन आदि—इन सबको चित्रमालाओं में क्रमबद्ध रूप से चित्रित किया गया है । इनमें विभिन्न रीति-रिक्वाजों, सामाजिक तीर्त्तरीकों, धर्म-विश्वास और मान्यताओं, उत्सव-समारोहों, धार्मिक अनुष्ठानों आदि का भी अंकन उल्लेखनीय है । इन चित्रांकनों में लाल्हणिक रूप से पूर्ण-कुम्भ, पुष्प आदि मंगल-मूर्चक स्वागतपरक उपादानों, नृत्य और वादन, पर्व एवं त्यौहारों के उत्साह और आनंद का अनेक चित्रफलकों में चित्रात्मक अंकन है । इन चित्रों के शीर्षक-पट्टों के सविस्तार विवरण, इनके मूलपाठ तथा विषय-वस्तुओं के विवर विवेचन तिरप्परत्तिकुण्ठम्-मंदिर विषयक टी० एन० रामचन्द्रन् की पुस्तक में देखे जा सकते हैं ।<sup>1</sup> नायकवंशीय शासकों के काल की कला का दूसरा पक्ष उस वैभवशाली कला-परंपरा का अंतिम अध्याय है जिसका अनवरत धाराप्रवाह प्रचलन दक्षिण भारत और दक्षिणा-पथ में शताब्दियों तक रहा ।

कलम्बूर शिवराममूर्ति

1 रामचन्द्रन् (टी एन). तिरप्परत्तिकुण्ठम् एड इट्स ब्रॉडवे, बुलेटिन ऑफ द मद्रास गवर्नमेण्ट म्यूजियम, न्यू सिरीज, अनरल सेक्षन, 1, 3. 1934. मद्रास.

